

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



स्नातकोत्तर (एम.ए.) पूर्वाद्ध

अहिंसा एवं शांति

तृतीय पत्र : महात्मा गांधी का आर्थिक एवं
राजनैतिक चिन्तन

विशेषज्ञ समिति

- | | |
|--|---|
| 1. प्रो. राधाकृष्णन
चेन्नई | 2. प्रो. जयप्रकाशम
मदुरई |
| 3. प्रो. जे.एन. शर्मा
चण्डीगढ़ | 4. प्रो. बच्छराज दूगड़
विभागाध्यक्ष, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज) |
| 5. डॉ. वी. अरुण कुमार
कोटा | 6. डॉ. अनिलधर
सह-आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज) |
| 7. डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा
सह-आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.) | 7. डॉ. अनिलदत्त मिश्रा
सहायक निदेशक, गांधी संग्रहालय
दिल्ली |

कॉपीराइट :

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

लेखक :

डॉ. वन्दना कुण्डलिया

संस्करण : 2015

मुद्रित प्रतियाँ : 250

मुद्रक :

अनुक्रमणिका

Unit	Topic	Page No.
महात्मा गांधी का आर्थिक एवं राजनैतिक चिन्तन		
इकाई-1	गांधी के अर्थशास्त्र का आधार	1-37
	अ. परम्परागत भारतीय एवं आधुनिक अर्थशास्त्र	
	ब. आधुनिक सभ्यता की आलोचना	
	स. गांधी के आर्थिक विचारों पर प्रभाव	
	द. सर्वोदय	
इकाई-2	गांधी के आर्थिक विचारों के मूल तत्व	38-59
	अ. गांधी के आर्थिक चिन्तन की आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि	
	ब. इच्छा विहीनता	
	स. स्वदेशी	
	द. ट्रस्टीशिप	
इकाई-3	गांधी के प्रमुख आर्थिक विचार	60-108
	अ. औद्योगीकरण और उसकी आलोचना	
	ब. श्रम पूंजी सम्बन्ध	
	स. ग्रामोद्योग एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था	
	द. गांधी के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता	
इकाई-4	गांधी के राजनैतिक विचारों का आधार	109-136
	अ. अहिंसा : अर्थ, अवधारणा एवं प्रासंगिकता	
	ब. सत्य	
	स. साधन साध्य का सिद्धान्त	
	द. सत्याग्रह	
इकाई-5	गांधी के राजनैतिक विचार	137-183
	अ. राज्य की अवधारणा	
	ब. प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण	
	स. पंचायती राज	
	द. राजनीति का अध्यात्मीकरण	
	इ. अधिकार और कर्तव्य	
	फ. गांधी के राजनैतिक विचारों का मूल्यांकन और प्रासंगिकता	

तृतीय पत्र

महात्मा गांधी का आर्थिक एवं राजनैतिक चिन्तन

इकाई-1

गांधी के अर्थशास्त्र का आधार

- अ. परम्परागत भारतीय एवं आधुनिक अर्थशास्त्र
- ब. आधुनिक सभ्यता की आलोचना
- स. गांधी के आर्थिक विचारों पर प्रभाव
- द. सर्वोदय

उद्देश्य

1. परम्परागत एवं वर्तमान अर्थशास्त्र व सभ्यता का परिचयात्मक अध्ययन करना।
2. सर्वोदय अर्थशास्त्र के स्वरूप को जानना।
3. गांधी के आर्थिक विचारों की पृष्ठभूमि को जानना।

संरचना

1. परम्परागत प्राचीन एवं वर्तमान अर्थशास्त्र
 - 1.1 पूंजीवाद और साम्यवाद का आधार
 - 1.2 वर्तमान अर्थशास्त्र का स्वरूप
 - 1.3 प्रचलित अर्थशास्त्र का मिथ्या दृष्टिकोण
 - 1.4 गांधी का अर्थशास्त्र : सर्वोदय अर्थशास्त्र
 - 1.5 अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का संबंध
2. आधुनिक सभ्यता की आलोचना
3. गांधी के आर्थिक विचारों पर प्रभाव
 - 3.1. भारतीयेतर धर्म-दर्शनों का प्रभाव
 - 3.1.1 यहूदी धर्म
 - 3.1.2 ईसाई धर्म
 - 3.1.3 इस्लाम धर्म
 - 3.2 पश्चिमी विचारकों का प्रभाव
 - 3.2.1 ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक टी.एच. ग्रीन
 - 3.2.2 बहुमतवादी विचारक बैंथम व मिल
 - 3.2.3 अल्पमतवादी जॉन रस्किन
 - 3.2.4 थामस हॉब्स

- 3.2.5 जॉन लॉक
- 3.2.6 हेराल्ड लास्की
- 3.2.7 हेनरी डेविड थोरो
- 3.2.8 अब्राहम लिंकन
- 3.2.9 रूसी शांतिवादी विचारक लेव टालस्टॉय
- 3.2.10 रूसो
- 3.3. भारतीय धर्म-दर्शनों का प्रभाव
 - 3.3.1 वेद तथा उपनिषद्
 - 3.3.2 श्रीमद्भगवद् गीता
 - 3.3.3 महाभारत तथा पुराण
 - 3.3.4 जैन दर्शन
 - 3.3.5 बौद्ध दर्शन
 - 3.3.6 न्याय-वैशेषिक दर्शन
 - 3.3.7 सांख्य-योग
 - 3.3.8 मीमांसा दर्शन
 - 3.3.9 वेदान्त दर्शन
- 3.4. विभिन्न आन्दोलनों का प्रभाव
 - 3.4.1 भक्ति आन्दोलन का प्रभाव
 - 3.4.2 सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन का प्रभाव :
- 3.5 समकालीन भारतीय चिन्तकों का प्रभाव
 - 3.5.1 रायचंद जैन का गाँधी पर प्रभाव
- 4. सर्वोदय
 - 4.1 सर्वोदय का अर्थ
 - 4.2 सर्वोदय का दर्शन
 - 4.3 सर्वोदय दर्शन के आधारभूत तत्त्व
 - 4.3.1 सत्य
 - 4.3.2 अहिंसा
 - 4.3.3 अपरिग्रह
 - 4.3.4 आत्म-त्याग
 - 4.3.5 सबका उदय
 - 4.3.6 वर्ग संघर्ष का सिद्धांत अनुचित
 - 4.3.7 सर्वजन हिताय
 - 4.3.8 साधन शुद्धि
 - 4.3.9 कर्तव्यों का पालन

4.4 सर्वोदय समाज

4.4.1 सर्वोदय समाज के कार्य एवं उद्देश्य

4.4.2 सर्वोदय समाज व्यवस्था का स्वरूप

4.4.3 सर्वोदय का भविष्य

4.4.3.1 व्यक्ति के संदर्भ में

4.4.3.2 समाज के संदर्भ में

4.4.3.3 अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में

1. परम्परागत प्राचीन एवं वर्तमान अर्थशास्त्र

मानव मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है। मानव के विचारों में काल व परिस्थितियों के सापेक्ष परिमार्जन व रूपान्तरण होते हैं; तथा ये वैचारिक परिवर्तन ही वस्तुतः मानव-चेतना के विकास के संवाहक होते हैं; मानव चेतना ही आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं को साकार तथा क्रियाशील बनाती है तथा सिद्धांतों का निरूपण संभव बनाती है। मनुष्य की विचारशक्ति के साथ ही आर्थिक विचारों का भी विकास हुआ है। प्रो. अलेक्जेंडर के अनुसार मानव विचार के इतिहास में अर्थशास्त्र के सिद्धांत के विधिवत नियमों का विकास भले ही हाल में हुआ हो, परंतु अर्थशास्त्र संबंधी बातों के बारे में मनन और विचार-विमर्श तभी से चला आ रहा है जब से मनुष्य ने विचारना शुरू किया। अपनी आवश्यकताओं के लिये मनुष्य सदा से ही आर्थिक प्रयत्न करता रहा है। जैसे आर्थिक प्रगति हुई, आवश्यकताओं का विस्तार हुआ और मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों का स्वरूप भी बदलते हुए परिवेश में आगे बढ़ने लगा। उदाहरण के लिए प्रारंभिक युग में मनुष्य पत्थरों से जंगली जानवरों का शिकार करता था क्योंकि उस समय उसकी आवश्यकताएं सीमित थीं। लेकिन आज के औद्योगिक युग में मशीनों एवं वैज्ञानिक प्रयोगों तथा आविष्कारों ने मानव प्रयत्नों की दिशा ही बदल दी है। जहां पहले का जीवन स्थिर था, आज का जीवन बहुत ही गतिशील हो गया है। आर्थिक उन्नति के क्रम में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव ने विभिन्न माध्यमों एवं समस्याओं जैसे मुद्रा, बैंक, वाणिज्य, उद्योग एवं यातायात इत्यादि का संगठन किया जिससे भौतिक सभ्यता का निर्माण हुआ। इस प्रकार आर्थिक विचारों का इतिहास बहुत प्राचीन है जो मानव के प्रारंभिक प्रयत्नों से जुड़ा हुआ है।

अतः स्पष्ट है कि आर्थिक चिंतन और इतिहास के बीच सदैव ही पारस्परिक और प्रभावपूर्ण संबंध पाया गया है। जहां एक ओर काल विशेष की स्थितियां एवं समस्याएं तत्कालीन आर्थिक चिंतन के स्वरूप एवं दिशा को प्रभावित करती हैं वहीं दूसरी ओर आर्थिक विचार भी इतिहास की दिशा को निर्धारित करने में योगदान देते हैं। आर्थिक विचार समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप हमेशा बदलते रहे हैं और इनके स्वरूप में निरंतर विकास तथा परिवर्तन होता रहा। यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि प्राचीन आर्थिक विचारों को वर्तमान की भांति वैज्ञानिक रूप भले ही न मिल पाया हो, किंतु उनकी उपयोगिता व महत्त्व इस दृष्टि से असंदिग्ध हैं कि वे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविकता से अवगत कराते हैं। निःसंकोच इन्हें वैज्ञानिक विचारों की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि अतीत ही वर्तमान को जन्म देता है।

1.1 पूंजीवाद और साम्यवाद का आधार

बीसवीं सदी का अंतिम दशक परिवर्तन का दशक था। 20वीं सदी में पूंजीवाद और साम्यवाद सारे विश्व में छाये रहे तथा विश्व इन दोनों की संघर्ष स्थली बना रहा। साम्यवादी विचारधारा तो आज विश्व के अधिकांश देशों से समाप्त हो गयी तथा पूंजीवाद के कारण जिस गति से सामाजिक संस्थाओं, मानवीय मूल्यों व नैतिकता का ह्रास हुआ है एवं अमर्यादित उपभोग व अति ऊर्जा केन्द्रित औद्योगीकरण से जो पर्यावरण के समक्ष संकट खड़ा हो गया है, उससे अब विश्व ने विकास के “तीसरे वैकल्पिक प्रतिमान” को खोजना प्रारंभ कर दिया है। भारतीय आर्थिक चिंतन परंपरा का अध्ययन, “आर्थिक प्रणाली” का “वैकल्पिक प्रतिमान” प्रस्तुत करने का आशाजनक संकेत देता है। वैदिक युग से लेकर

वर्तमान काल तक भारतीय चिंतन में व्याप्त 'मानवतावादी आग्रह' आर्थिक प्रणाली में 'मानव' की उस सर्वोपरिता को रेखांकित करते हैं—जिसकी साम्यवादी व पूंजीवादी आर्थिक प्रणालियों में उपेक्षा हुई है।

पूंजीवाद का जन्म तो अठारहवीं शताब्दी में ही हो गया था। उसने विश्व के अधिकांश देशों में साम्राज्य विस्तार कर अपनी जड़ें जमा ली थीं। प्रायः यह माना जाता है कि पूंजीवादी देशों का विकास औद्योगिक क्रांति के कारण हुआ। परंतु यदि सूक्ष्मता से विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि औद्योगिक क्रांति साम्राज्यवादियों द्वारा औपनिवेशिक राष्ट्रों की लूट से एकत्र धन के कारण संभव हो सकी। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति 1760 में शुरू हो गयी। उसका कारण था सन् 1757 में भारत में प्लासी की लड़ाई हुई जिससे भारी धन लूट कर वहां ले जाया गया। इस कारण अनेक आविष्कार जो उस समय रुके पड़े थे, लूट के धन से संभव हो सके। 1757 की प्लासी तथा 1815 में वाटर लू की लड़ाई के बीच प्रतिवर्ष 25 करोड़ रुपया (आज की कीमत पर 5000 करोड़ रु. प्रतिवर्ष से भी अधिक) लूट के रूप में हिन्दुस्तान से जाता रहा तथा इसी धन ने इंग्लैण्ड में औद्योगीकरण की नींव रखी। इस तरह संपूर्ण यूरोप का औद्योगीकरण उपनिवेशों के दारिद्रीकरण से सीधा जुड़ा हुआ है। अमेरिका की समृद्धि का मूल कारण है अमेरिका में विश्व की 4 प्रतिशत जनसंख्या रहती है जबकि वह दुनिया के 40 प्रतिशत से अधिक प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर रहा है। अमेरिका के आम नागरिक के पास इतनी समृद्धि है कि दुनिया के विकासशील राष्ट्र अमेरिका के विकास को आदर्श मानकर चल रहे हैं।

आज भी अधिकांश विकासशील देश विकसित राष्ट्रों को कच्चे माल की पूर्ति कर रहे हैं और यदि इन राष्ट्रों को कच्चे माल की पूर्ति बंद हो जाये तो इनकी स्थिति खराब हो सकती है। ये राष्ट्र पहले तो अपनी साम्राज्यवादी नीति के अंतर्गत उनसे कच्चा माल प्राप्त कर लेते थे परंतु आज वे इनको कर्जदार बनाकर आर्थिक साम्राज्यवाद फैला रहे हैं तथा अपनी शर्तों के अनुसार कच्चा माल प्राप्त कर रहे हैं। दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका, दक्षिणी पूर्वी एशिया तथा भारत जैसे देश इन देशों तथा अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के कर्जदार बने हुए हैं। सूडान कृषि के लिए बड़ा प्रगतिशील है परंतु उसे कर्ज देकर कपास उत्पादन के लिए दबाव डाला जा रहा है तथा वहां के लोग भूखों मर रहे हैं। जापान की लकड़ी की आवश्यकताएं मलेशिया के जंगल साफ करके पूरी की जा रही है। अफ्रीका के जंगल अमेरिका व यूरोप की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए नष्ट हो रहे हैं तथा पर्यावरण का संकट खड़ा कर रहे हैं। इसलिए अब प्रश्न उठ रहा है कि सीमित साधनों का अमर्यादित उपभोग कैसे हो सकता है। इन पूंजीवादी देशों में आज जिस गति से पारिवारिक जीवन टूट रहा है, मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है तथा अनेक सामाजिक बुराइयां पनप रही हैं, उनसे नागरिक त्रस्त हैं।

दूसरी तरफ 1917 में पूंजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप सोवियत संघ में साम्यवाद का जन्म हुआ। 1961 में साम्यवादी सोवियत संघ द्वारा इस प्रकार का दावा किया गया कि हम इतनी तीव्र गति से बढ़ रहे हैं कि अगले बीस वर्षों में पूंजीवाद पूरी तरह समाप्त हो जायेगा। परंतु बीस वर्ष बाद 1981 से सोवियत संघ की स्थिति में निरंतर गिरावट की स्थिति चालू हो गयी। उनका मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने का वायदा भी पूरा नहीं हो पाया तथा यह विचार प्रारंभ हो गया कि इस आवश्यकता को अधिक दिन तक नहीं चलाया जा सकता है। इन दोनों देशों में विद्यमान स्थितियों से यह स्पष्ट होता है कि रूस व चीन को अपनी मौलिक नीति में केवल इसलिए परिवर्तन करना पड़ा कि वे लोगों की न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पा रहे थे। इसलिए आज विश्व के अधिकांश साम्यवादी देशों ने "साम्यवादी विचारधारा" को तिलांजलि दे दी है। रूस की यह स्थिति इसलिए हुई कि उसने अमेरिका से शस्त्रों की होड़ में अपार धन खर्च किया तथा इस कारण वह नागरिकों के लिए उपभोग वस्तुओं का भी उत्पादन नहीं कर पाया। इसलिए आज साम्यवादी देश भी पूंजीवादी देशों का अनुसरण कर रहे हैं।

परंतु पूंजीवादी देशों में भी जो दुर्व्यवस्था बन रही है उसके लिए पूंजीवाद की चार अवधारणाएं उत्तरदायी हैं। पूंजीवाद का प्रथम सिद्धांत है 'अस्तित्व के लिए संघर्ष'—पूंजीवाद के जनक एडम स्मिथ व कींस के विचारों ने पूंजीवाद को पनपाने में काफी सहायता की। एडम स्मिथ ने कहा कि कभी किसी का भला मत करो यदि भला करना ही हो तो तब करो जब ऐसा करने से तुम्हारा कोई स्वार्थ सिद्ध होता हो। कींस ने बताया कि आगे आने वाले सौ सालों के लिए हम यह मान लें तथा दूसरों से भी मनवा लें कि बुरा ही अच्छा है तथा अच्छा ही बुरा परिणाम देता है, अच्छे से परिणाम नहीं मिलता। लोभ

व लालच को हम कुछ और वर्षों तक अपना भगवान बनाकर रखे क्योंकि उसी के माध्यम से हम गरीबी के बोगदे को पार करके प्रकाश की किरण देख सकते हैं। स्पष्ट है कि पूंजीवाद का संपूर्ण महल स्वार्थ की मान्यता पर खड़ा है। इसलिए लोग अमेरिका में स्पर्द्धात्मक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हर व्यक्ति अपनी सोच रहा है। परिवारों में भी यह बात पहुंच गयी है कि दूसरा कोई मुझ से आगे नहीं पहुंच जाये; अतः सभी को मशीनी जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। इसी कारण वहां लोग कई शारीरिक व मानसिक कष्ट भोग रहे हैं तथा सामाजिक व नैतिक बुराईयों से ग्रस्त हैं। पूंजीवाद का दूसरा सिद्धांत है “सर्वोत्तम का अस्तित्व” अर्थात् जो योग्यतम होगा उसका अस्तित्व होगा बाकी नष्ट हो जायेंगे, इसी कारण पाश्चात्य देशों में अरबों रुपया रक्षा पर खर्च हो रहा है। अमेरिका व रूस ने किस प्रकार अपनी प्रधानता बनाए रखने व उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए दुनिया को दो खेमों में बांटे रखा तथा अरबों डालर घातक हथियारों के जखीरे एकत्र करने पर व्यय किये। इन दोनों के पास आज इतने घातक हथियार हैं कि वे चाहे तो दुनिया का 14 बार विध्वंस कर सकते हैं। पूंजीवाद का तीसरा सिद्धांत है “प्रकृति का शोषण” पाश्चात्य जीवन दृष्टि में यह भी एक मान्यता है कि भगवान ने मनुष्य को पृथ्वी पर प्रकृति का उपभोग करने के लिए भेजा है और इसलिए मनुष्य यह समझता है कि पृथ्वी पर जो पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि हैं वे मेरे उपभोग के लिए हैं तथा मैं प्रकृति का मनमाना शोषण कर सकता हूं। अर्नाल्ड टायन्बी ने रीडर्स डाइजेस्ट में एक लेख में लिखा है कि आज हमारे सामने पर्यावरण की समस्याएं जो खड़ी हैं उनका मूल कारण पाश्चात्य जीवन दृष्टि की यह मान्यता है कि भगवान ने मनुष्य को सम्पूर्ण सृष्टि में अपने सुख के लिए उपभोग करने का अधिकार दिया है। पूंजीवाद का चौथा सिद्धांत है “व्यक्तिगत अधिकार”— अर्थात् हर व्यक्ति के अपने मौलिक अधिकार होते हैं जो उसे मिलने ही चाहिए। इसी धारणा के कारण आज दुनिया में अधिकारों के लिए लड़ाइयां चल रही हैं तथा जगह-जगह आंदोलन हो रहे हैं। इन सब के विपरीत भारतीय जीवन दृष्टि में इन चारों सिद्धांतों के विपरीत आस्थाएं हैं। “अस्तित्व के लिए संघर्ष” के स्थान पर भारतीय दृष्टिकोण में “समन्वय एवं सहयोग” में विश्वास व्यक्त किया गया है। भारतीय मान्यता है कि अस्तित्व के लिए कोई संघर्ष नहीं है विश्व में सब जगह समन्वय व सहयोग है; संघर्ष कहीं नजर आता है तो वह केवल अज्ञान के कारण है; विज्ञान जिस दिन समाप्त हो जायेगा, संघर्ष भी समाप्त हो जायेगा।

“सर्वोत्तम का अस्तित्व” के स्थान पर भारतीय जीवन दृष्टि “सर्वे भवन्तु सुखिनः” अर्थात् सभी सुखी होने चाहिए, में विश्वास करती है। हम विश्वास करते हैं कि दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति को भगवान ने किसी न किसी प्रयोजन से भेजा है इसलिए उसे कष्ट क्यों होना चाहिए। किसी भी संस्कृति की श्रेष्ठता का सहज मापदण्ड यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की सुरक्षा करती है या नहीं। जो सबल होते हैं वे तो अपनी रक्षा कर लेते हैं परंतु दुर्बलों की जहां रक्षा होती है वह समाज सुसंस्कृत है। साम्यवादी विचार के अनुसार जो कमायेगा वह खायेगा, परंतु भारतीय विचार में जो कमायेगा वह खिलायेगा, रहा है। खुद कमाना व खुद खाना यह प्रकृति है, दूसरे का छीनना और खाना विकृति है तथा खुद कमाना और दूसरे को खिलाना यह संस्कृति है। अतः किसी संस्कृति की श्रेष्ठता का मापदण्ड यही है कि उस संस्कृति में लोग दुर्बल लोगों की कितनी चिंता करते हैं।

“प्रकृति के शोषण” की पाश्चात्य प्रवृत्ति की जगह भारतीय मान्यता है कि “प्रकृति का दोहन” करो। भारतीय आस्था है कि जीवन प्रकृति पर अवलंबित है, प्रकृति नष्ट हो जायेगी तो हम सब नष्ट हो जायेंगे। इसी कारण भारतीय परम्पराओं में प्रकृति की पूजा की जाती है। भारतीय लोगों ने प्रकृति से नाता जोड़ा हुआ है। हमारे यहां तुलसी, वटवृक्ष, पीपल आदि पेड़ पौधों की पूजा होती है, नदियों को पवित्र माना गया है। पक्षियों को दाना डाला जाता है। पर्यावरण की रक्षा करना हमारी परम्पराओं में विद्यमान है।

पाश्चात्य जीवन दृष्टि के अंतिम सिद्धांत “व्यक्तिगत अधिकार” की जगह भारतीय परंपरा “मनुष्य के कर्तव्य” को प्राथमिक मानती है। गांधीजी ने कहा है कि मनुष्य के अधिकारों का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं होता। गांधी के मत में अधिकार, केवल कर्तव्यों के प्रति समर्पण का सहज परिणाम होते हैं। यदि सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें तो दूसरे के अधिकारों की अपने आप रक्षा हो जायेगी। जैसे माता-पिता के कर्तव्यों में संतानों के अधिकार निहित हैं, संतान के कर्तव्य में माता-पिता के अधिकार सुरक्षित हैं, गुरु के कर्तव्य में शिष्य के अधिकारों की रक्षा निहित है तथा शिष्य के कर्तव्य

में शासक के अधिकार सुरक्षित हैं। इस तरह से प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने-अपने कर्तव्य के निर्वह में दूसरे के अधिकारों की अपने आप रक्षा हो जायेगी।

1.2 वर्तमान अर्थशास्त्र का स्वरूप

साधारण भाषा में यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के ऐसे प्रयत्नों और व्यवहारों का विचार करता है, जो अर्थ या धन संबंधी हों। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए अर्थशास्त्र में मनुष्य के उन्हीं व्यवहारों का विचार होता है, जो वह समाज में रहते हुए करता है। आदमी को अपने जीवन-निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र और मकान की आवश्यकता होती है। उसे अपना दिल बहलाने के लिए मनोरंजन के साधन चाहिए। उसमें विविध वस्तुओं तथा विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की भावना होती है। स्वभाव से उसे नयी-नयी बातों की जानकारी हासिल करने का कौतुहल होता है। इस प्रकार उसके शरीर साधियों के प्रति सेवा, त्याग, प्रेम और सहयोग की प्रवृत्ति होती है; यह उसकी सांस्कृतिक क्षुधा-पूर्ति के विविध रूप हैं। इस तरह मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक तीन प्रकार की इच्छाएं होती हैं। इनकी पूर्ति के लिए वह जो विविध कार्य करता है, वे कई प्रकार के होते हैं, कुछ को सामाजिक कहा जाता है, कुछ को राजनैतिक, और कुछ को धार्मिक आदि। मनुष्य के जीवन के अलग-अलग टुकड़े नहीं किये जा सकते। जीवन के संबं अंगों का परस्पर में बहुत संबंध होता है, तथापि अध्ययन की सुविधा के लिए अर्थशास्त्र में जीवन के उस हिस्से का विवेचन होता है, जो अर्थ या धन से संबंधित हो।

अर्थ या धन मनुष्य के सुख और विकास के साधनों में से एक है, परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्र इसे एकमात्र साधन मान कर चलता है। इस विचारधारा के अनुसार, मनुष्य की अधिकांश शक्ति भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगी रहती है। मानसिक विकास को गौण स्थान दिया जाता है, अथवा यों कहा जा सकता है कि उसका मुख्य उपयोग हम यही समझते हैं कि उसके द्वारा हमें भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति में सुविधा हो। विज्ञान के नये-नये आविष्कार हो रहे हैं, यंत्रों और अन्य साधनों की वृद्धि हो रही है। पर सब का मुख्य उद्देश्य या उपयोग यही माना जाता है कि वे हमारे भौतिक सुख की वृद्धि में सहायक हों। हमें प्रधानता अपने सुख का ध्यान रहता है, पर अपने गांव, नगर या देश के आदमियों के अभावों या कष्टों की यथेष्ट चिन्ता नहीं होती। हम अपना सांस्कृतिक विकास करने की ओर समुचित ध्यान नहीं देते, जिससे दूसरों से आत्मीयता का अनुभव करें, ओर उनके दुखों और कष्टों को अपना दुःख और कष्ट मानें तथा उनके जीवन की विविध यातनाओं को दूर करने में जुट जायें।

वर्तमान अर्थशास्त्र में भौतिक आवश्यकताओं को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। इसकी बुनियाद इंग्लैंड में अठाहरवीं सदी में पड़ी, जबकि वहां पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और औद्योगिक क्रान्ति का जोर था। वहां के अर्थशास्त्रियों ने मानव जीवनके अन्य पहलुओं की अपेक्षा करे आर्थिक पहलू को इतना महत्व दिया कि ऐसे 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना कर डाली, जो अपने जीवन में प्रत्येक बात केवल अर्थ ही दृष्टि से सोचता और करता है। उसकी विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु धन है और उसके जीवन का प्रमुख कार्य यही है कि जैसे भी बने, अधिक से अधिक पैसा प्राप्त करे। उसके लिए किसी कार्य की उपयोगिता का कसौटी या मापदंड यही है कि उससे कितना द्रव्य मिलता है। इस 'आर्थिक मनुष्य' के लिए यह सोचा जाना स्वाभाविक ही था कि वह चीजों को सस्ते से सस्ते उपायों से बनाये। मजदूरी कम चुकाने के लिए यंत्रों का खूब उपयोग करे, चाहे इससे जनता में कितनी ही बेकारी बढ़े। इन सस्ती चीजों को खपाने के लिए तरह-तरह के विज्ञापनों आदि से वह लोगों को अपनी आवश्यकताएं बढ़ाने की प्रेरणा करें, और उनकी खूब मांग पैदा करके वह उन्हें अपने देश में तथा विदेशों में मंहगे से मंहगे भाव से बेचे। अपने माल की खपत बढ़ाने के लिए वह सरकारी अधिकारियों की सहायता लेने के लिए भले-बुरे सभी उपायों को काम में लाये। वह अपने राज्य का प्रभाव या अधिकार अधिक से अधिक बढ़ाने का इच्छुक हो। इस प्रकार वह अपने स्वार्थ के लिए राज्य का सहायक और समर्थक हो और दोनों की सम्मिलित शक्ति का उपयोग देश में लोकतंत्र का विकास रोकने में और विदेशों में उपनिवेश-स्थापना या प्रभुता-विस्तार करने में हो। यह स्पष्ट है कि 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना के साथ व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, यंत्रवाद और साम्राज्यवाद का स्वभावतः गठबंधन है।

ऐसे 'आर्थिक मनुष्य' के आधार पर वर्तमान अर्थशास्त्र की रचना की गयी थी। यह अनुभव किया गया कि 'आर्थिक मनुष्य' का अध्ययन व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन नहीं है। व्यक्ति अपने

विविध कार्य केवल आर्थिक भावनाओं से प्रेरित होकर नहीं करता। अर्थशास्त्र मानव जीवन की परिस्थितियों के प्रति न्याय तभी कर सकता है, जब वह मनुष्य की विविध प्रेरक शक्तियों का तथा उनके आपसी संबंधों का यथेष्ट ध्यान रखे। इस तरह 'आर्थिक मनुष्य' की विवेचना को पीछे आने वाले अर्थशास्त्रियों ने विशेष महत्व नहीं दिया, तथापि वे उसकी छाया से मुक्त नहीं हो पाये। अर्थशास्त्र में अर्थ या धन को ही प्रभुता दी जाती रही। रस्किन, कार्लाइल आदि जिन लेखकों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया और नीति पर आश्रित मानवीय मूल्यों को प्रधानता दी, उनके ग्रंथों को कुछ महत्व नहीं दिया गया; उन्हें अप्रमाणिक कहा गया। अंग्रेजों के प्रभुत्व के कारण भारत में भी यही होता रहा।

1.3 प्रचलित अर्थशास्त्र का मिथ्या दृष्टिकोण

जीवन में केवल आर्थिक या स्वार्थमय दृष्टिकोण रखना गलत है। इससे हम दूसरों के हित की अपेक्षा करते हैं; हमारे कार्यों का व्यवहार का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विचार नहीं करते। अनेक बार तो हम जानबूझ कर दूसरों का कष्ट बढ़ाते और उनका शोषण करते हैं। नैतिक तथा सांस्कृतिक आधार से वंचित होने के कारण वर्तमान अर्थशास्त्र ने व्यक्ति के मन में भोग-विलास की कामना बढ़ा दी है। आदमी 'धन' कहे जाने वाले पदार्थों को ही सामाजिक प्रतिष्ठा, सभ्यता और श्रेष्ठता का साधन मान कर उसे प्राप्त करने में लगा रहता है। वह जैसे भी बन आये, अधिक-अधिक धनवान बनना चाहता है, उसकी यह तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

अपनी भोगेच्छा की पूर्ति में ही लगा हुआ आदमी अपना भी यथेष्ट विकास नहीं कर पाता। वह शारीरिक सुख की ओर ही ध्यान देता है, मानसिक विकास को भौतिक सुख-सामग्री उत्पन्न करने के साधन के रूप में काम लाता है, और सांस्कृतिक विकास की अवहेलना करता है। इस प्रकार उसका विकास अपूर्ण और एकांगी होता है, उसमें संतुलन नहीं रहता। ऐसे व्यक्तियों से सामाजिक कल्याण की क्या आशा की जाय! वर्तमान आर्थिक विचारधारा देश में सिर्फ मुट्ठी पर आदमियों को करोड़पति या अरबपति बनाती है, और कुछ थोड़े से आदमियों को साधारण मध्यम स्थिति में छोड़ कर शेष को — कुछ दशाओं में अस्सी-पचासी फीसदी जनता को—दीन, दरिद्र, शोषित और पीड़ित बनाती है।

वर्तमान आर्थिक दृष्टिकोण इस बात के लिए उत्तरदायी है कि संसार आज विस्फोटक पदार्थों का सा बना हुआ है। प्रत्येक समर्थ देश दूसरे देशों का अधिक-से-अधिक शोषण करना चाहता है। वह उन्हें अपने कारखानों के लिए आवश्यक कच्चे पदार्थों का उत्पादक और तैयार माल का बाजार बनाने का इच्छुक है। इसका नतीजा यह है कि बड़ी-बड़ी शक्तियों की गिद्ध-दृष्टि विविध भू-भागों पर विशेष रूप से लगी हुई है। इससे इन बड़ी-बड़ी शक्तियों में आपस में प्रतियोगिता और संघर्ष है। इस पीढ़ी के आदमी पिछले महायुद्ध के संकटों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं, कि फिर युद्ध की भाषा सुनने और बोलने लग गये हैं। इस प्रकार इस समय शान्ति इतनी अल्पकालीन और कम प्रभाव वाली रहती है कि युद्ध ही इस युग का सत्य हो रहा है। इस युग में जिन महानुभावों ने संसार की आर्थिक स्थिति पर मानवता की दृष्टि से गहरा विचार किया है, उनमें गांधीजी प्रमुख हैं। उनका मत है—“पश्चिम के अर्थशास्त्र की बुनियाद गलत दृष्टि-बिन्दुओं पर डाली गयी है, इस लिए वह अर्थशास्त्र नहीं, बल्कि अनर्थशास्त्र हो गया है। वे गलत दृष्टि-बिंदु इस प्रकार हैं:—

- उसने भोग-विलास की विविधता और विशेषता को संस्कृति का प्राण माना है।
- वह दावा तो करता है ऐसे सिद्धान्तों का, जो सब देशों और सब कालों पर घटित होते हों, परन्तु सच बात यह है कि उनका निर्माण यूरोप के छोटे, ठंडे और खेती के लिए कम अनुकूल देशों में, घनी बस्ती वाले परन्तु मुट्ठी भर लोगों की, अथवा बहुत थोड़ी आबादी वाले उपजाऊ बड़े खंडों की परिस्थिति के अनुभव से हुआ है।
- पुस्तकों में भले ही निषेध किया गया हो, फिर भी योजना और व्यवहार में यह मनवाने की पुरानी रट से मुक्त नहीं हो पाया है कि (क) व्यक्ति, वर्ग या अधिक हुआ तो अपने ही छोटे से देश के अर्थ-लाभ को प्रधानता देने वाली और उसके हित की पुष्टि करने वाली नीति ही अर्थशास्त्र का अचल शास्त्रीय सिद्धान्त है, और (ख) कीमती धातुओं को हद से अधिक प्रधानता दी जाय।

- उसकी विचार-श्रेणी में अर्थ और नीति-धर्म का कोई संबंध नहीं माना गया है। इस लिए उसने अपने समाज को अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण जीवन के विषयों को गौण समझने की आदत डाल दी है।

इसके फल-स्वरूप—

- यह अर्थशास्त्र यंत्रों का, शहरों का तथा (खेती की अपेक्षा) उद्योगों का अंध-पूजक बन गया है।
- इसने समाज के विभिन्न वर्गों और देशों में समन्वय करने के बजाय विरोध उत्पन्न किया है और सर्वोदय के बदले थोड़े लोगों का थोड़े समय के लिए लाभ सिद्ध किया है।
- यह पिछड़े हुए समझे जाने वाले देशों में आर्थिक लूट मचा कर तथा वहां के लोगों को दुर्व्यसनों में फंसाकर और उनका नैतिक अधःपतन करके समृद्धि का पथ खोजता है।
- जिन राष्ट्रों या समाजों ने इस अर्थशास्त्र को अंगीकार किया है, उनका जीवन पशुबल पर ही टिक रहा है।
- इसने जिन-जिन अन्ध विश्वासों को जन्म दिया या बढ़ाया है, वे धार्मिक या भूत-प्रेतादिक के नाम से प्रचलित वहमों से कम बलवान हैं।

इन सारी बुराइयों का मूल कारण यह है कि हमने अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत संकुचित, सीमित या संकीर्ण रखा है। पारिवारिक अर्थशास्त्र में हम परिवार के हित की बात सोचते हैं पर इस बात पर जोर नहीं देते कि प्रत्येक परिवार का हित अन्य परिवारों के हित के साथ संबंधित है। हम बहुधा अपने पड़ोसी परिवारों के हित की अवलेहना करते हैं। ग्राम्य अर्थशास्त्र में हम गांव की, और नागरिक अर्थशास्त्र में नगर की उन्नति का विचार करते हैं, परन्तु किसी गांव या नगर की कुल सम्पत्ति का योग बढ़ना ही उसकी वास्तविक उन्नति नहीं है, खासकर जब कि वहां अपने स्वार्थ के लिए एक वर्ग दूसरे वर्ग का, एक गांव दूसरे गांव का, या एक नगर दूसरे नगर का अहित करने में संकोच न करता हो। वर्तमान काल में नगर ग्रामों का भयंकर शोषण कर रहे हैं, यहां तक कि उनके जीवन का आधार ही ग्रामों का अधिक-अधिक ह्रास हो रहा है। राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में हम राष्ट्र का कुल उत्पादन या सुख-सामग्री और सम्पत्ति बढ़ाने का लक्ष्य रखते हैं, परन्तु एक तो उसके सब वर्गों की, खासकर निम्न वर्गों की, यथोष्ट चिन्ता नहीं करते; दूसरे, यह भूल जाते हैं कि हमारा विचार क्षेत्र राष्ट्र तक सीमित न रहकर मानवता का होना चाहिए। समस्त मनुष्य जाति का दुःख-सुख एक है; जब तक उसके कुछ भागों का या एक भी भाग का शोषण होगा, विश्व-शांति नहीं हो सकती।

1.4 गांधी का अर्थशास्त्र : सर्वोदय अर्थशास्त्र

लोकहित के लिए, जनता के कल्याण के लिए, प्रत्येक देश में सर्वसाधारण की दीनता और कंगाली दूर करने के लिए, संसार का समष्टि रूप से उत्थान करने के लिए, नयी समाज-रचना के लिए और वर्तमान अशान्ति, संघर्ष, चिन्ता और वेदना को दूर करने के लिए वर्तमान अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इस अनर्थशास्त्र की जगह सच्चे अर्थशास्त्र की रचना करनी है।

नया अर्थशास्त्र हमें नित्य अपनी आवश्यकताएं बढ़ाने और उनकी पूर्ति में परेशान रहने से बचने का मार्ग दिखायेगा। उसके अध्ययन और चिंतन से हम भोजन-वस्त्रादि का उपयोग उस सीमा तक ही करेंगे, जहां तक किये वस्तुएं हमारी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक हों। हम केवल खाने के लिए जीवित रहना नहीं चाहेंगे, वरन् इसलिए खायेंगे कि हम अच्छी तरह जीवन व्यतीत कर सकें। यही बात वस्त्रों और मकान आदि के उपयोग के लिए लागू होगी। व्यक्ति को बड़ा आदमी नहीं मानेंगे। हम धन का ठीक अर्थ ग्रहण करेंगे और उसे मानवता से अधिक नहीं मानेंगे। हम धन का ठीक अर्थ ग्रहण करेंगे और उसे मानवता से अधिक महत्व नहीं देंगे। 'धन' हमारे लिए एक साधन मात्र होगा, साध्य नहीं। हम मानवता का यथेष्ट मूल्यांकन करेंगे, हमारी किसी आर्थिक क्रिया से हमारे गांव या नगर निवासी का अहित न होगा, वरन् हमें अपने प्रत्येक कार्य में अपने देश वालों की शारीरिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक उन्नति का विचार रहेगा। यही नहीं, हम दूसरे देशों के शोषण को अपने देश की समृद्धि मानने की भूल

नहीं करेंगे। हम विश्वबंधुत्व का आदर्श रखते हुए सभी राज्यों के नागरिकों से अपनत्व की भावना रखेंगे और उनके उत्थान में सहायक होंगे।

उपर्युक्त भावनाओं और आदर्शों की पूर्ति का मार्ग बताने वाला अर्थशास्त्र ही इस युग की मांग है। हमें ऐसे अर्थशास्त्र की रचना करनी चाहिए, जिसका आधार किसी छोटे क्षेत्र के मनुष्यों का स्वार्थ न हो कर सभी का कल्याण हो। वास्तव में किसी एक व्यक्ति, एक समूह या एक देश के हित में किसी का हित नहीं है; सब व्यक्तियों तथा सब देशों के हित में सबका हित है, और सबके साथ ही हमारा हित है। दूसरों के हित की अपेक्षा करके हम अपना हित नहीं कर सकते। इसलिए हमारे अर्थशास्त्र का लक्ष्य मानव समाज के किसी अंग विशेष की उन्नति न हो कर सभी को उन्नति होनी चाहिए और वह उन्नति भी एकांगी अर्थात् केवल भौतिक न होकर सर्वांगीण अर्थात् शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक होनी चाहिए। ऐसे अर्थशास्त्र का आधार नैतिक होना अनिवार्य है। इस अर्थशास्त्र के उपर्युक्त गुणों के कारण इसे 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' नाम दिया जा सकता है।

'सर्वोदय' का अर्थ है सबका हित, मनुष्य मात्र का विकास। समाज में कोई व्यक्ति या वर्ग ऐसा न हो जिसके हित या विकास का विचार न हो। जो व्यक्ति सामाजिक कड़ी के अन्तिम छोर पर हो, उसका भी कल्याण हो। जैसे एक परिवार के सदस्यों में शारीरिक या मानसिक योग्यता में भिन्नता होते हुए भी सबके हित का ध्यान रखा जाता है, सबकी ही आवश्यकताओं को समायोजित रूप से पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाता है, ऐसे ही सर्वोदय अर्थशास्त्र समाज के किसी अंग विशेष के लिए ही न होगा; चाहे वह अंग बड़ा या बहुमत वाला ही क्यों न हो। यह अर्थशास्त्र बहुसंख्यकों के अधिकतम हित की बात मान्य न कर सबके ही कल्याण का विवेचन करेगा। सर्वोदय अर्थशास्त्र सम्पूर्ण मानव समाज के हित की दृष्टि से विचार करेगा; उसमें धर्मों, जातियों, वर्णों या वर्गों की विभिन्नता को मान्य नहीं किया जायेगा। वह किसानों, मजदूरों, कारीगरों को, गोरे, काले, पीले सब रंगों के आदिमियों को; एशिया, यूरोप, अमरीका, अफ्रीका आदि सभी भू-भागों के निवासियों को समान समझेगा।

1.5 अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का संबंध

सामाजिक विद्या होने के कारण अर्थशास्त्र का दूसरे सामाजिक शास्त्रों से संबंध होना अनिवार्य है। पर वर्तमान अर्थशास्त्री इसे नीतिशास्त्र से सर्वथा पृथक् रखते हैं। नीति हमारे सामने आदर्श उपस्थित करती है, वह बतलाती है कि कौनसा काम अच्छा है और कौनसा बुरा; मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अर्थशास्त्र हमारे सामने आर्थिक प्रयत्नों द्वारा होने वाले समाज और विश्व के कल्याण का आदर्श रखता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीति का घनिष्ठ संबंध स्पष्ट है। अर्थशास्त्र बतलाता है कि वितरण किस प्रकार ऐसा हो कि उसमें आर्थिक विषमता कम-से-कम हो; श्रमजीवियों को वेतन कितना दिया जाना चाहिए, जिससे उन्हें जीवन-निर्वाह और विकास के साधन प्राप्त हों; वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार ऐसा निर्धारित किया जाय कि उत्पादकों को जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों की उत्पत्ति के लिए प्रोत्साहन मिले।

आर्थिक परिस्थितियों का मनुष्य के नैतिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जब देश में लोगों को खाने-पहनने की आवश्यक चीजें यथेष्ट परिमाण में नहीं मिलती तो उनमें कलह, संघर्ष, चोरी और लूट आदि बढ़ना स्वाभाविक ही है। कहा है, 'भूखा आदमी कौनसा पाप नहीं करता', और 'भूखे भजन न होय गोपाल।' वास्तव में भूख और प्यास से पीड़ित व्यक्तियों से ऊंचे नैतिक आदर्शों की आशा नहीं की जा सकती। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र को एक दूसरे से जुदा नहीं किया जा सकता।

वर्तमान अर्थशास्त्रियों में से अधिकांश लेखक अर्थशास्त्र के विवेचन में नैतिक दृष्टिकोण की अपेक्षा करते हैं। वे इसके विज्ञान पक्ष पर जोर देते हुए कहते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, अर्थात् क्या उचित है और क्या अनुचित—इसका विचार करना अर्थशास्त्र का काम नहीं है। इस प्रकार वर्तमान अर्थशास्त्र प्रायः नीति से जुदा है, इससे व्यक्ति तथा समाज के विकास में भयंकर बाधा उपस्थित है। सर्वोदय अर्थशास्त्र अपने आपको नीति से अलग नहीं मानता, वह ऐसे ही व्यवहार किये जाने का आदेश करता है, जिससे सब का, सम्पूर्ण जनता का, विश्व भर का कल्याण हो।

सर्वोदय दृष्टि अपनाने के लिए हमें प्रगति के संबंध में अच्छी तरह विचार करना होगा। प्रगति का सही अर्थ क्या है—यह अच्छी तरह समझे बिना आजकल हर कोई प्रगति की बात करता है, प्रगति

के लिए प्रयत्नशील है। वर्तमान अर्थशास्त्र के विचारक आर्थिक प्रगति को ही प्रगति मानते हैं, और उसका आशय वे भौतिक प्रगति लेते हैं। क्या यह ठीक है? क्या भौतिक प्रगति से ही सच्ची या नैतिक प्रगति हो जाती है? और यदि उससे नैतिक प्रगति नहीं होती, अथवा उससे नैतिक प्रगति में कुछ बाधा होती है, तो क्या नैतिक प्रगति के अभाव में जो आर्थिक प्रगति होती है, उसका स्वागत किया जाय? क्या ऐसा करने से मनुष्य को सुख-शांति मिलेगी, जिसे प्राप्त करने की उसे सदैव इच्छा बनी रहती है?

इस प्रकार सच्ची प्रगति नैतिक प्रगति ही है और उसके लिए अर्थशास्त्र में सर्वोदय की दृष्टि रखनी चाहिए। हमारा अर्थशास्त्र सर्वोदय अर्थशास्त्र होना चाहिए। यह अर्थशास्त्र महलों और झोपड़ियों वालों के, मालिक और मजदूरों के, धनी और गरीबों के, ऊंचे और नीचे कहे जाने वालों के बीच भी भेदभाव सूचक खाई को पाटने का यत्न करेगा। बिना किसी अपवाद के प्रत्येक व्यक्ति के लिए रोटी, कपड़े, मकान और शिक्षा तथा स्वास्थ्य का साधन प्राप्त करायेगा, पर साथ ही यह ध्यान रखेगा कि मनुष्य केवल रोटी-कपड़े के लिए ही जीवित न रहे। यह धन की वृद्धि करेगा, पर इसकी मान्यता होगी कि चांदी-सोने के टुकड़े या नोट-रूप कागज धन नहीं हैं; किसी देश का असली धन वहां की सच्ची, ईमानदार, सच्चरित्र और लोकसेवी जनता है। यह अर्थशास्त्र कुछ व्यक्तियों का नहीं, मानवता का मान बढ़ायेगा। इसका नीतिशास्त्र से विपरीत संबंध नहीं होगा, अपितु इसके प्रत्येक नियम-व्यवहार का आधार ही नीति होगी अर्थात् प्रत्येक आर्थिक क्रिया शोषण और स्वार्थमूलक न होकर नीतियुक्त होगी। इस प्रकार यह अर्थशास्त्र देश के जन-जन में तो प्रेम, सेवा और सहयोग की लहर फैलायेगा ही, इसके अनुसार कार्यक्रम रखने वालों का विदेशियों से भी कोई संघर्ष, हानिकारक प्रतियोगिता या द्वेष आदि नह होगा; कारण, इसका आदेश होगा कि विश्व एक है, मनुष्य जाति एक है; सब एक विशाल परिवार के सदस्य हैं। अस्तु, सर्वोदय अर्थशास्त्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शिक्षा देने वाला होने के कारण इसे अपनाये जाने की आवश्यकता स्वयं-सिद्ध है।

2. आधुनिक सभ्यता की आलोचना

गांधी ने भौतिकता, उद्योगवाद और यंत्रीकरण पर आधारित आधुनिक सभ्यता की तीव्र आलोचना कर उसका विरोध किया था। उन्होंने वर्तमान की पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए कहा था— दुनिया में ऐसे विवेकी पुरुषों की संख्या लगातार बढ़ रही है जो इस सभ्यता को जिसके एक छोर पर तो भौतिक समृद्धि की कभी तृप्त न होने वाली आकांक्षा है और दूसरे छोर पर उसके फलस्वरूप पैदा होने वाला युद्ध है ... अविश्वास की निगाह से देखते हैं। लेकिन यह सभ्यता अच्छी हो या बुरी, भारत का पश्चिम जैसा उद्योगीकरण करने की क्या जरूरत है? पश्चिमी सभ्यता शहरी सभ्यता है। इंग्लैण्ड और इटली जैसे छोटे देश अपनी व्यवस्थाओं का शहरीकरण कर सकते हैं। अमेरिका बड़ा देश है, किंतु उसकी आबादी बहुत विरल है। इसलिए उसे भी शायद वैसा ही करना पड़ेगा। लेकिन कोई भी आदमी यदि सोचेगा तो यह मानेगा कि भारत जैसे बड़े देश को, जिसकी आबादी बहुत ज्यादा बड़ी है और ग्राम-जीवन की ऐसी पुरानी परंपरा में पोषित हुई है जो उसकी आवश्यकताओं को बराबर पूरा करती आयी है, पश्चिमी नमूने की नकल करने की जरूरत नहीं है और न उसे ऐसी नकल करनी चाहिए। विशेष परिस्थितियों वाले किसी एक देश के लिए बात अच्छी है, वह भिन्न परिस्थितियों वाले किसी दूसरे देश के लिए भी अच्छी ही हो, यह जरूरी नहीं है। जो चीज किसी एक आदमी के लिए पोषक आहार का काम देती हो, वह दूसरे के लिए जहर जैसी सिद्ध होती है। किसी देश की संस्कृति को निर्धारित करने में उसके प्राकृतिक भूगोल का प्रमुख हिस्सा होता है। ध्रुवप्रदेश के निवासी के लिए ऊनी कोट जरूरी हो सकता है। लेकिन भूमध्यरेखावर्ती प्रदेशों के निवासियों का तो उससे दम ही घुट जायगा।

मनुष्य अपने विकास और सुख के लिए कोई न कोई कार्य करता है। इसे आर्थिक एवं भौतिक कार्य कहते हैं। इसकी प्राप्ति में उसकी तीन भूमिकायें होती हैं। पहली भूमिका निर्माता की होती है। दूसरी भूमिका उपभोक्ता की होती है। तीसरी भूमिका दर्शक की होती है। आज के युग में निर्माण में विज्ञापन और यंत्रीकरण का विशेष योगदान है। ऐसा माना जाता है कि यंत्रों के प्रयोग और विकास में अधिकतर बुद्धि की आवश्यकता होती है। पहले के यंत्रों में यह विशेषता थी कि वे मनुष्य की श्रम शक्ति के लिए सहायक थे। उनमें और मनुष्य के श्रम में दुराव नहीं था। मानव श्रम उन यंत्रों के सहारे वस्तुओं का निर्माण करता है। उस उत्पादक निर्माण के साथ-साथ उनकी श्रमशक्ति का विकास होता है। जितना ही उसके हाथ उन यंत्रों के सहारे चलते हैं, उतनी ही उसकी कला और संस्कृति विकसित

होती है। जितना ही वह निर्माण करता है, जितनी वह रचना करता उतना ही वह संयम और शक्ति की ओर बढ़ता है। उसका सम्मान उत्पादक के रूप में बढ़ता है। अपने उस उत्पादक श्रम का फल चखता है और उस उत्पादित वस्तु से इतनी अधिक आत्मीयता हो जाती है कि वह हुत बड़ु सुख का अनुभव करता है। यही नहीं बल्कि अपने उस कर्तृत्व को अपने पड़ोसियों के बीच प्रकाशित करने के लिए वह अधीर हो उठता और उसका उत्पादन, प्रेम के लिए, पड़ोसी के लिए होता है। यही कारण था कि गांधी जी ने छोटे-छोटे उद्योगों पर सांस्कृतिक और मानवीय दृष्टिकोण से अधिक बल दिया। अपने कुटुम्ब में, अपने पड़ोसियों के बीच, अपने ग्रामीण बन्धुओं के मध्य व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार यंत्रों को निर्मित करके उत्पादन करता है।

यंत्रों का यह स्वरूप धीरे-धीरे परिवर्तित हुआ और विशाल यंत्रों का युग आया। पहले के इन यंत्रों में मनुष्य के श्रम की पर्याप्त आवश्यकता थी, परंतु आज उनकी विशालता में मनुष्य श्रम की कम आवश्यकता है। आज तो ऐसी स्थिति हो गयी है कि मनुष्य की बुद्धि इन यंत्रों के चालन में बेकार हो गयी। ऐसी स्थिति में मनुष्य की बुद्धि यंत्रों के आविष्कार में तो आवश्यक होती है, परंतु यंत्रों के प्रयोग में कार्यशाला में बेकार हो जाती है। यह यंत्रयुग का सबसे बड़ा स्वयं का विरोध है। आज तो यह विरोध कुछ देशों में और भी उग्र हो गया है। यंत्र अभिनवीकरण के आंदोलन द्वारा ऐसा रूप ले रहा है जबकि शनैःशनैः मनुष्य के श्रम की और मनुष्य की बुद्धि की कम से कम आवश्यकता है। अभिनवीकरण मनुष्य को निर्माता का गौरव नहीं देना चाहता है, परंतु यंत्र उपभोग की सुलभता प्रदान कर रहा है।

अभी यहीं तक हम नहीं रुके हैं, बल्कि स्वचालित यंत्रों की स्थिति में भी हम लोग जा रहे हैं। इस स्थिति में मनुष्य की बुद्धि और श्रम की, निर्माण और उत्पादन कार्य में, कम आवश्यकता रह जायगी। यह एक भयावह स्थिति होगी। इससे निर्माण और उत्पादन की प्रक्रिया में जो मनुष्य जीवन में उत्कटता और करुणा थी उसका लोप हो जायगा। एक ओर तो मनुष्य की बुद्धि स्वचालित यंत्रों का निर्माण करके सागर और आकाश तक प्रसारित होगी। दूसरी ओर मनुष्य जड़ बन जायगा।

पहले के यंत्रों में और आज के यंत्रों में सबसे बड़ा अंतर यह है कि पहले के यंत्र सादे और बहुत प्रयोजन वाले थे। आज के यंत्र बहुत ही सूक्ष्म, जटिल तथा एक प्रयोजन वाले हैं। इस प्रकार से यंत्र और यंत्रविदों की सत्ता दुनिया में कायम हो रही है। सामान्य मनुष्य जहां अन्य प्रकार की सत्ताओं से मुक्ति पाने का प्रयास कर रहा है वहां पुनः वह नये प्रकार की सत्ता में बंधकर पूर्ण निष्क्रिय हो जायेगा। सामान्य मनुष्य सभी गुणों, शक्तियों, सत्ताओं, सुविधाओं, व्यवस्थाओं आदि को सर्वसुलभ बनाने का उपक्रम कर रहा है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व की समाप्ति होती जा रही है।

जबकि मनुष्य का यह स्वभाव है कि शरीरधारी होने के कारण यह निष्क्रिय हो ही नहीं सकता, कर्मठता मनुष्य का स्वभाव है, ऐसी स्थिति में आज जो मनुष्य यंत्रों की तलाश में अपने को निष्क्रिय बना रहा है, यह एक विरोधाभास है। यंत्रों का आविष्कार अभाव या दुर्भिक्ष के निराकरण के लिए मनुष्य करता है। परन्तु आज हम देखते हैं कि मनुष्य विपुलता का उपकरण तो खोज रहा है लेकिन अभाव और दुर्भिक्ष दुनिया में बढ़ते ही जा रहे हैं। ये सब अंतर्विरोध मानव जीवन में दिखलायी पड़ते हैं। यंत्र के लिए जो आकर्षण बढ़ रहा है उसका कारण यही है कि हम में वैभव और संग्रह की आकांक्षा बढ़ती जा रही है। यह संग्रह की आकांक्षा इसलिए बढ़ रही है कि मनुष्य की उत्पादन शक्ति, उसके हाथों में, सुलभ नहीं है और दूसरी ओर आवश्यक वस्तुओं का अभाव है। इसी कारण घबड़ाकर इस यंत्र युग में संग्रह प्रिय बन गया है और छोटे-छोटे ग्रामीण उद्योग धंधों को न अपनाकर विशाल यंत्रों और उद्योगों की तलाश में है।

होना यह चाहिए कि मानव की विशेषता समाप्त न होने पाये। इसलिए उसी को केन्द्र में रखकर तकनीकी प्रगति का स्वरूप निर्धारित होना चाहिए। विशेषीकरण तथा प्रमाणीकरण सबकी यही मर्यादा है कि मनुष्य की विशेषता, उसकी कलात्मक शक्ति, उसकी कर्मठता न समाप्त होने पाये। मनुष्य के काम करने की पद्धति में ही उसकी मनोवृत्ति व सभ्यता झलकती है। इसीलिए इस प्रकार के व्यवसाय एवं यंत्र होने चाहिए जो मनुष्य की सामान्यता को बढ़ाये न कि उसे कुण्ठित करे। मनुष्य यंत्रों से दूर नहीं हो सकता, यंत्र उसके लिए आवश्यक तो है, परंतु उनकी मर्यादा भी है। यंत्र, काम को स्वयं न करने की प्रवृत्ति के कारण भी बढ़ते हैं। यंत्र काम टालने की प्रवृत्ति के द्योतक होने के साथ-साथ प्रतिष्ठा के लिए भी खोजे जाते हैं। इसीलिए आलस्य और प्रतिष्ठा से जो यंत्र मनुष्य लाता है यह उसके व्यक्तित्व

को क्षीण करता है। वास्तव में होना यह चाहिए कि ये उपकरण हमें कर्मठ बनायें और हमें प्रतिष्ठा प्रदान करें तथा जिस प्रकार से हमारे शरीर की इन्द्रियां हैं उसी प्रकार से ये यंत्र भी हमारे शरीर के सहज अंग बनें। जितने ही यंत्र सहज होंगे उतने वे हमारे व्यक्तित्व के विकास में सहायक होंगे। उपकरण से मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रकाश की आभा प्रकट होती है। इसीलिए मनुष्य के साथ शरीर का सम्बन्ध होना चाहिए। जब उपकरण एवं मनुष्य का इतना सन्निकट का सम्बन्ध है तो यह स्वाभाविक है कि छोटे-छोटे उद्योग-धंधों का विकास हो। मनुष्य को सहज रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह कर्म स्वातंत्र्य प्राप्त करे। अर्थ-व्यवस्था ऐसी हो कि मनुष्य का उत्तरदायित्व वह स्वयं न लेकर मनुष्य पर ही छोड़े। इस आर्थिक जीवन के लिए वह स्वयं उत्तरदायी हो, स्वयं निर्माता तथा उत्पादक हो।

वर्तमान युग की सबसे बड़ी विशेषता और उसका सबसे बड़ा स्थूल लक्षण है यंत्रों की भरमार और बड़े-बड़े विशालकाय कल-कारखाने। वैसे तो अगर इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा किसी न किसी रूप में यंत्रों का उपयोग होता आया है। परंतु आज जिस प्रकार के यंत्रों की बात की जाती है वे सूक्ष्म और बड़े-बड़े कल कारखानों पर आधारित होते हैं। प्रारंभ में मोटे एवं सरल यंत्रों से ही काम चलाया जाता था। पर आज जिस यंत्र का प्रभाव सारे विश्व पर है वह अधिक से अधिक सौ दो सौ वर्ष पुराना है। अठारहवीं शताब्दी में आविष्कार हुए और उन आविष्कारों से उद्योग एवं व्यापार की असामान्य उन्नति हुई, उसे हम 'औद्योगिक क्रांति' के नाम से पुकारते हैं। इस 'औद्योगिक क्रांति' ने मशीनों के आविष्कारों आर्थिक और व्यापारिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में उनके उपयोग ने पिछले दो सौ वर्षों से समुचे संसार का रंग ही बदल दिया है। सर्वत्र, पहले से सर्वथा भिन्न एक नया दृष्टिकोण, नयी योजना, नया रंग फैल गया है। मानव जाति का दृष्टिकोण उसके आचार-विचार, उसके सिद्धान्त, उसकी भावना, धर्म और नीति की कल्पना, सब में परिवर्तन हो गया है। समूचा संसार मानों फिर से रचा गया हो। औद्योगीकरण के इस असामान्य स्वरूप का दोनों प्रकार से उपयोग हो सकता है।

3. गांधी के आर्थिक विचारों पर प्रभाव

महात्मा गाँधी के आर्थिक विचारों पर अन्य अनेक धर्म-दार्शनिक परम्पराओं, विचारकों, दार्शनिकों आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिनका वर्णन निम्नलिखित है—

3.1. भारतीयेत्तर धर्म-दर्शनों का प्रभाव

गाँधी के बहुआयामी व्यक्तित्व के निर्माण में भारतीयेत्तर धर्म-दर्शनों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। गाँधी का जीवन मुख्यतः यहूदी, इस्लाम, ईसाई आदि धर्म से अधिक प्रभावित हुआ।

3.1.1 यहूदी धर्म

यहूदी धर्म गाँधी दर्शन की पृष्ठभूमि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गाँधी यहूदी धर्म में प्रतिपादित अहिंसा, क्षमा, दया आदि मूल्यों से प्रभावित हुए। यहूदी धर्म में भी प्रेम, दया, न्याय, पवित्र जीवन आदि को महत्वपूर्ण माना गया है। गाँधी यहूदी धर्म के प्रमुख ग्रंथ 'Pentateuch' की शिक्षाओं से प्रभावित थे, जिसमें कहा गया था कि "भूख से परेशान शत्रु को भी रोटी तथा प्यास से परेशान को पानी देना चाहिए।" वहाँ यह भी कहा गया है "शत्रु की असफलता पर दुखी होना चाहिये, न कि प्रसन्नचित, क्योंकि घृणा कलंक पैदा करती है, जबकि प्रेम उसका निराकरण कर देता है।" गाँधी की शत्रु के प्रति प्रेम की भावना के निर्माण में यहूदी धर्म के इस नियम ने अपना प्रभाव छोड़ा था। इसी तरह यहूदी धर्म में प्रेम व दया के नियमों के अन्तर्गत कहा गया है "अपने मन में किसी के प्रति बैर का, दुश्मनी का भाव मत रखो।" इसने भी गाँधी की शत्रु के प्रति प्रेम की धारणा को बल प्रदान की।

इसके अतिरिक्त यहूदी धर्म के 'Ten Commandments' से भी गाँधी प्रभावित थे जिसमें कहा गया है कि—

- 'तुम हत्या नहीं करोगे।'
- 'तुम व्यभिचार नहीं करोगे।'
- 'तुम चोरी नहीं करोगे।'
- 'तुम अपने पड़ोसी के खिलाफ झूठी गवाही नहीं दोगे।'

- अपने पिता और अपनी माता का आदर करो ताकि उस देश में तुम्हारे दिन लम्बे हो जो तुम्हारे देवता ईश्वर ने तुम्हें दिया है।'
- 'तुम अपने पड़ोसी के मकान, उसकी पत्नी, उसके नौकर, नौकरानी, बैल, गधा अथवा कोई भी चीज, जो तुम्हारे पड़ोसी के पास है उसको लेना नहीं चाहोगे।'

इन नियमों ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। गाँधी यहूदी धर्म के 'ईश्वरवाद' को भी पूर्णतः स्वीकार करते थे। लेकिन वे ईश्वर, आत्मा, भगवान सभी को एक मानते थे।

3.1.2 ईसाई धर्म

ईसामसीह तथा ईसाई धर्म के नैतिक उद्देश्य गाँधी की प्रेरणा के प्रमुख स्रोत थे। गाँधी ईसा को प्राणीमात्र के प्रति अहिंसा व प्रेम के संदेश का देवदूत मानते थे। ईसाई धर्म का सक्रिय प्रेम, अप्रतिरोध, सत्याग्रह, क्षमा, त्याग, याचना, दया, सेवा, अहिंसा आदि ने गाँधी दर्शन को प्रमुख रूप से प्रभावित किया। उन्होंने ईसाई धर्म के सक्रिय प्रेम को अपने लिये महान रूप में स्वीकार किया। इस संदर्भ में उन्होंने कहा, "कोई अन्य धर्म इतनी दृढ़ता से ईश्वर के प्रेम स्वरूप को स्वीकार नहीं करता, जितना ईसाई धर्म। गाँधी 'Sermon on the Mount' की उस धर्म-शिक्षा से प्रभावित थे जिनमें कहा गया है 'तुमने सुना, यह कहा गया है कि आँख का बदला आँख और दाँत का बदला दाँत। लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम बुराई का प्रतिरोध न करो, बल्कि जो कोई दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे उसकी ओर बायाँ भी कर दो।'"

ईसाई धर्म के जिन उपदेशों का उन पर गहन प्रभाव पड़ा और जिन्हें उन्होंने सादर स्वीकारा व अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाया, वे निम्नलिखित हैं –

- परमात्मा का मनुष्य से प्रत्यक्ष संबंध है।
- मनुष्य को अपने जीवन की सभी गतिविधियों का संचालन निरन्तर विकासशील आत्मा की आवाज के अनुसार करना चाहिए।
- आत्मा के परमात्मा से विलय के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति संभव है।
- अपनी दैविक प्रकृति से मनुष्य एक नेक प्राणी है।
- आस्तिक व नास्तिक दोनों को समान रूप से नैतिक मूल्यों में आस्था रखनी चाहिए।
- मनुष्य में जीवन के हर क्षेत्र में गुण-दोष के आधार पर सही विकल्प चुनने की क्षमता है।
- हिंसा का जवाब हिंसा से न देकर प्रेम व सद्भावना से देना चाहिए जिससे कि शत्रु को अन्ततः मित्र बनाया जा सके।
- सत्याग्रही को सत्य के लिये आत्मपीड़न, आत्मत्याग तथा आत्मबलिदान के लिये ईसामसीह की तरह हमेशा तैयार रहना चाहिये।
- हर व्यक्ति को अपनी पसंद के धर्म को मानने का अधिकार होना चाहिए। ईश्वर की पूजा-अर्चना निजी तौर पर मौन उपासना या सामूहिक उपासना के रूप में की जानी चाहिए।
- न केवल व्यक्ति को, बल्कि धर्म सम्प्रदायों को भी प्रेम, ज्ञान तथा सत्य के मार्ग पर चलकर समाज सुधार का कार्य संगठित रूप से करना चाहिए।

गाँधी ने ईसाई धर्म के इस उपदेश का पालन भी जीवन पर्यन्त किया कि नैतिक विकास तथा समाज सुधार में कार्यरत नेताओं का चरित्र ऊँचा तथा अनुकरणीय होना चाहिये। अपने 55 वर्ष के सार्वजनिक जीवन में गाँधी इस मानदण्ड पर सदा खरे उतरे। ईसाई धर्म से उन्होंने यह भी सीखा कि लोगों को धार्मिक अलंकारों व प्रतीक चिन्हों से प्रभावित किया जा सकता है। अपने सत्याग्रह आन्दोलनों में गाँधी ने न केवल धार्मिक प्रतीक चिन्ह, शब्दावली, धार्मिक सत्संग अथवा सामूहिक उपासना के मार्ग से लोगों को प्रभावित किया, बल्कि आत्म-बलिदान के लिये भी सदैव तैयार रहे। गाँधी की सत्याग्रह आन्दोलनों की सफलता के पीछे ईसाई धर्म के इन समान नैतिक आदर्शों का महत्वपूर्ण योगदान था।

इसके अतिरिक्त गाँधी लन्दन व दक्षिण अफ्रीका स्थित प्रोटेस्टेंट, बैपटिस्ट, प्रेसबिटे-रियन, युनिटेरियन, तथा क्वेकर जैसे मतांतरावलंबी ईसाई पादरियों द्वारा की गई ईसाई धर्म की उदारवादी व्याख्याओं से भी प्रभावित थे। इन पादरियों ने कैथोलिक पादरियों की तरह गाँधी तथा अन्य भारतीयों को ईसाई धर्म अपनाने के लिए बाध्य करने की बजाय उनका ईसाई न्याय व नैतिकता से साक्षात्कार कराया।

3.1.3 इस्लाम धर्म

गाँधी इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद से प्रभावित हुए थे। उन्होंने इस धर्म का आधार प्रेम, सत्य, अहिंसा एवं भ्रातृत्व माना। गाँधी इस्लाम धर्म के मानव सेवा, जकात, सद्कात व जीवन के हर क्षेत्र में मूल्यों के प्रयोग के विचार से प्रभावित थे। उन्होंने कार्लाइल की पुस्तक 'Heroes And Hero Worship' से मुहम्मद साहब की महानता, वीरता, और साधनामय जीवन का पाठ सीखा था। गाँधी ने 'रघुपति राघव राजाराम, पतितपावन सीताराम। ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबसको सम्मति दे भगवान' की प्रतिदिन प्रार्थना करके केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता की पाठ ही नहीं प्रस्तुत किया, बल्कि इस्लाम धर्म के प्रति अपनी आस्था भी व्यक्त की। उन्होंने कुरान को एक पवित्र व महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रंथ माना तथा अपनी प्रार्थना सभाओं में कुरान के महत्वपूर्ण अंशों को सम्मिलित किया।

3.2 पश्चिमी विचारकों का प्रभाव

गाँधी के आर्थिक विचारों पर जहां विभिन्न धर्म दर्शनों का प्रभाव था वहीं अनेक पश्चिमी विचारकों ने भी गाँधी के चिंतन को प्रभावित किया जिनका वर्णन निम्नलिखित है—

3.2.1 ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक टी.एच. ग्रीन : गाँधी की राजनैतिक दायित्व की अवधारणा अपने मूल रूप में ब्रिटिश आदर्शवादी विचार टी.एच. ग्रीन से समानता रखती थी। गाँधी ग्रीन के इस विचार से तो सहमत थे कि राजनैतिक दायित्व अपने मूल रूप में नागरिकों व राज्य के मध्य एक पारस्परिक किया है, लेकिन वे इस बात से सहमत नहीं थे कि राजा के प्रति प्रजा के, स्वामी के प्रति के दास के और राज्य के प्रति प्रजा के दायित्व को राजनैतिक दायित्व की संज्ञा दी जा सकती है। अपितु गाँधी केवल यहीं मानते थे कि राजनैतिक दायित्व का तात्पर्य राजा का प्रजा के प्रति व प्रजा का राज्य के प्रति तथा राज्य द्वारा संरक्षित नागरिकों के परस्पर दायित्व से है।

ग्रीन की तरह गाँधी मानते थे कि राजनैतिक दायित्व एक ऐच्छिक क्रिया है इसलिए उसका निर्वहन भी व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार करना चाहिए और वह भी केवल उस हद तक जहाँ ऐसी क्रिया से सबकी भलाई हो अथवा सर्वोदय के लक्ष्य की प्राप्ति हो। गाँधी ग्रीन की इस बात से भी सहमत थे कि इन कर्तव्यों के वहन के बदले में नागरिकों को उनसे संबंधित उन सब अधिकारों की राज्य से अपेक्षा करनी चाहिये जिनसे वे अपने सांस्कृतिक प्रकृति का अनुसरण कर सकें। गाँधी का राज्य के चरम लक्ष्य के रूप में सर्वोदय का सिद्धान्त भी ग्रीन के सार्वभौमिक शुभ (Common Good) से समानता रखता है। ग्रीन की तरह गाँधी भी यह मानते थे कि इस चरम लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में राज्य को एक सीमित भूमिका ही निभानी चाहिये। उसके अतिरिक्त ग्रीन की तरह गाँधी भी यह मानते हैं कि नागरिकों की स्वतंत्रता से अभिप्राय उनकी स्वच्छंदता से न होकर केवल उन कार्यों को करने की स्वतंत्रता से है जो नैतिक रूप से करने योग्य है।

3.2.2 बहुमतवादी विचारक बेंथम व मिल

गाँधी ने ब्रिटिश विचारक बेंथम और जे.एस. मिल के विचारों का भी गहन अध्ययन किया। वे बेंथम के इस विचार से सहमत थे कि मनुष्य न केवल प्राणियों की तरह सुख-दुःख की अनुभूति कर सकता है, बल्कि उसमें विवेक और तर्क करने की भी क्षमता भी है जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्न एवं श्रेष्ठ बनाती है। दूसरी ओर वह मिल के इस कथन को भी स्वीकारते थे कि व्यक्ति में यह क्षमता है कि वह सामाजिक हित के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग कर सके, क्योंकि अन्ततः जनहित में ही उसका अपना हित शामिल होता है। गाँधी ने बेंथम व मिल के राज्य के चरम लक्ष्य संबंधी विचारों का भी अध्ययन किया। राज्य के लक्ष्य के रूप में वे बेंथम के "अधिकतम का अधिकतम कल्याण" के सिद्धान्त अनैतिक मानते थे, क्योंकि यह कल्याण अल्पमत के हितों की कीमत पर होता है। गाँधी इस राज्य की स्वार्थपूर्ण क्रिया मानते थे, क्योंकि ऐसा करके वह केवल उसी बहुमत के कल्याण के लिये

प्रयत्न करेगा जिसकी उसे सत्ता में आने व बने रहने के लिये आवश्यकता होगी। गाँधी इस सिद्धान्त को इसलिए भी अनैतिक मानते थे क्योंकि इसमें बहुमत की आर्थिक भलाई उसके अन्य क्षेत्रों में भलाई की कीमत पर होगी। इसके अतिरिक्त बहुमतवाद के आदर्श को वह एक ऐसा आदर्श मानते थे जिसे राज्य सहज ही प्राप्त कर लेगा और फिर लक्ष्यविहीन हो जाएगा। अधिकतम के अधिकतम कल्याण के विचार को गाँधी ने परिष्कृत कर सर्व के उदय का चिन्तन दिया।

3.2.3 अल्पमतवादी जॉन रस्किन

गाँधी के विचारों को आकार देने में जॉन रस्किन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गाँधी जॉन रस्किन की कृति 'Unto the last' में वर्णित शरीर श्रम के आदर्श से बहुत अधिक प्रेरित हुए। इसे गाँधी ने अपने जीवन में भी चरितार्थ किया। इसके साथ ही गाँधी इसी पुस्तक के विचारों, यथा व्यक्ति का हित सबके हित में सम्मिलित है, सबको अपने-अपने कार्यों से जीविकोपार्जन करने का समान अधिकार है, इसलिये वकील के कार्य का वही मूल्य है जो नाई के कार्य का है और शरीर श्रमयुक्त सादा जीवन ही मनुष्योचित जीवन है से प्रभावित हुए। जॉन रस्किन के इन विचारों से गाँधी का शरीर श्रम, अपरिग्रह तथा सादगी के प्रति आस्था व प्रेम भाव उत्पन्न हुआ।

गाँधी व जॉन रस्किन के विचारों में निम्नलिखित समानता परिलक्षित होती हैं –

- आत्मा परमतत्त्व है और मनुष्य स्वभावतः अच्छा है, अर्थात् सदगुण ग्रहण करने योग्य है।
- बुद्धि की अपेक्षा मानव चरित्र महत्वपूर्ण है।
- राजनीति और अर्थशास्त्र में भी नैतिकता अपेक्षित है।
- बड़ी मशीनों का प्रयोग कम से कम हो और यदि प्रयोग हो भी तो वह इस प्रकार हो कि उससे मनुष्य की स्वतंत्रता में वृद्धि हो, न कि उसकी दासता में।
- धनी मनुष्य गरीबों को पुत्रवत् स्नेह दें।

राज्य के चरम लक्ष्य के संबंध में जॉन रस्किन अल्पमतवादी थे। रस्किन राज्य से केवल उसी अल्पमत के कल्याण की अपेक्षा रखते थे जिसकी उपयोगिता सत्ता में आने की दृष्टि से कम रहती है। इस प्रकार राज्य द्वारा अल्पमत के कल्याण के लिये किया गया कार्य स्वार्थ— पूर्वक न होकर परमार्थ का होगा। गाँधी को जॉन रस्किन की यह बात तो अच्छी लगी कि राज्य उपेक्षित अल्पमत के कल्याण को प्राथमिकता दे, लेकिन वे यह नहीं चाहते थे कि राज्य अपने आपको उस लक्ष्य की प्राप्ति तक ही सीमित कर ले। क्योंकि यह लक्ष्य तो और भी जल्दी प्राप्त हो जाएगा और राज्य लक्ष्य विहीन हो जाएगा।

ब्रिटिश बहुमतवादी तथा अल्पमतवादियों के गहन अध्ययन के बाद गाँधी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दोनों सिद्धान्त अपने आप में अपूर्ण हैं। वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं। गाँधी ने इन दोनों को जोड़कर सर्वमतवाद को स्वीकार किया और उसे सर्वोदय की संज्ञा दी। सर्वोदय से गाँधी का अभिप्राय जीवन के सभी क्षेत्रों में सभी की भलाई से है। गाँधी इस आदर्श को नैतिकता से ओत-प्रोत मानते थे क्योंकि उसमें न तो बहुमत की भलाई अल्पमत की कीमत पर होगी, न ही अल्पमत की बहुमत की कीमत पर। इसके अतिरिक्त सर्वोदय का आदर्श एक ऐसा आदर्श होगा जिसकी ओर राज्य सदैव गतिशील रहेगा लेकिन कभी उसे शत-प्रतिशत प्राप्त कर लक्ष्य विहीन नहीं होगा। इस प्रकार गाँधी के सर्वोदय के सिद्धान्त में ब्रिटिश बहुमतवाद तथा अल्पमतवाद का न्यायोचित सामंजस्य है।

3.2.4 थामस हॉब्स

राजनीतिक दायित्व के संदर्भ में ग्रीन के साथ-साथ ब्रिटिश समझौतावादी थॉमस हॉब्स के साथ भी गाँधी के विचार समानता रखते थे। हाब्स का विचार था कि नागरिकों को उन कानूनों व आदेशों का पालन करना चाहिये जो या तो उन्होंने स्वयं बनाये हो, या जो उनके द्वारा निर्वाचित तथा अधिकृत प्रतिनिधियों ने बनाये हों। हाब्स की मान्यता थी कि किसी भी नागरिक के लिये ऐसे कानूनों का पालन करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक आसान व स्वाभाविक होगा। गाँधी की भी यही मान्यता थी। इसी आधार पर उन्होंने ब्रिटिश कानूनों को नहीं माना क्योंकि वे विदेशी थे। वास्तव में गाँधी के राजनैतिक दायित्व संबंधी विचारों में ग्रीन व हाब्स दोनों के विचारों का सामंजस्य मिलता है क्योंकि गाँधी का यह

मानना था कि लोग अपने प्रतिनिधियों के द्वारा बनाये गये कानूनों में से भी केवल उनको माने जिनमें सर्वोदय के चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती हो।

3.2.5 जॉन लॉक

ब्रिटिश समझौतावादी विचारक लॉक की तरह गाँधी भी एक ऐसी शासन व्यवस्था के समर्थक थे जो लोगों के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिये चुनी गई हो तथा जो लोगों के प्रति अपने सामुहिक उत्तरदायित्व को निष्ठापूर्वक निभाये। लॉक की इसी विचारधारा के आधार पर ब्रिटिश वेस्टमिनिस्टर शैली को गाँधी ने उसके मूल में भारत के लिये स्वीकारा।

3.2.6 हेराल्ड लास्की

गाँधी अपने समकालीन ब्रिटिश विचारक हेराल्ड लास्की के उस विचार से भी सहमत थे जिसमें उन्होंने राज्य से एक सकारात्मक व रचनात्मक भूमिका निभाने की अपेक्षा की थी। लास्की के अनुसार राज्य को न केवल नागरिकों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना चाहिए, बल्कि ऐसा रचनात्मक वातावरण भी तैयार करना चाहिये जिसमें लोगों के लिये अपना रास्ता चुनना व उसका अनुसरण करना आसान हो जाए।

3.2.7 हेनरी डेविड थोरो

गाँधी पर अमेरिका के प्रसिद्ध अराजकतावादी हेनरी डेविड थोरो के कार्यों तथा विचारों का भी बहुत प्रभाव पड़ा। थोरो ने ही सर्वप्रथम 'Civil Disobedience' शब्द का प्रयोग 1841 में अपने भाषण में किया था। थोरो की 'सविनय कानून भंग' के संबंध में मान्यता थी कि जिन मनुष्यों व संस्थाओं से भलाई हो उनसे अधिक से अधिक सहयोग और जिनसे बुराई को प्रोत्साहन मिले उनसे अधिक से अधिक असहयोग करना चाहिए। थोरो ने इसी असहयोग को सविनय कानून भंग की संज्ञा दी। गाँधी जी थोरो के सिद्धान्त से प्रभावित हुए थे। किन्तु गाँधी का थोरो के 'सविनय कानून भंग' से परिचित होने से पूर्व ही दक्षिण अफ्रीका में सत्ता के प्रतिरोध का आन्दोलन काफी आगे बढ़ चुका था। उस समय वह आन्दोलन 'Passive Resistance' के नाम से पहचाना जाता था। अपने अंग्रेज पाठकों को सत्याग्रह की लड़ाई का रहस्य समझाने के लिये गाँधी ने थोरो के 'Civil Disobedience' शब्द का प्रयोग करना शुरू कर दिया। किन्तु उन्होंने देखा 'Civil Disobedience' शब्द भी इस लड़ाई का सही अर्थ नहीं दे पा रहा है इसलिए उन्होंने 'Civil Resistance' शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया।

थोरो की तरह ही गाँधी भी राज्य को हिंसा पर आधारित एक अनिवार्य बुराई मानते थे तथा उस शासन व्यवस्था को अच्छा मानते थे जो लोगों की स्वतंत्रता में कम से कम बाधा करे तथा उन्हें कम से कम अपने पर आश्रित रखे ताकि वे अधिकतर कार्य स्वयं अपने विवेक व अपनी पहल से कर सकें। गाँधी ने थोरो के इस कथन को भी स्वीकार किया कि व्यक्ति या एक सजग नागरिक को राज्य के ऐसे किसी भी कानून को नहीं मानना चाहिए जिसे मानने के लिये उनका विवेक या आत्मा गवाही न देते हो। असत्य व अन्याय पर आधारित राज्य को कर न देने की प्रेरणा गाँधी ने थोरो से ही ली थी। गाँधी उनकी इस बात से भी सहमत थे कि असत्य व अन्याय पर आधारित समाज अथवा राज्य में रहने की अपेक्षा किसी जेल में रहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि वहाँ उन्हें ऐसे आदेशों व कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ेगा। थोरो के समान ही गाँधी मानते थे कि राज्य पत्थर की दीवारों व सलाखों के पीछे अपने विरोधी के शरीर को कैद कर सकता है उसकी आत्मा व विचारों को नहीं। गाँधी भी जेल को यातना गृह न मानकर अपने आत्मिक तथा बौद्धिक विकास को प्रोत्साहित करने वाला मन्दिर मानते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि थोरो के विचारों ने भी गाँधी को कई क्षेत्रों में प्रभावित किया था।

3.2.8 अब्राहम लिंकन

महात्मा गाँधी अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति, अमरीकी उदारवादी चिन्तक अब्राहम लिंकन से भी प्रभावित थे। गाँधी ने लिंकन की जनतंत्र की उस अवधारणा को पूर्ण रूप से स्वीकार किया जिसमें जनता का, जनता के लिए, जनता के द्वारा शासन को लोकतंत्र की संज्ञा दी गई है। गाँधी ने इस परिभाषा को स्वराज की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने लिंकन की इस परिभाषा को व्यापक

रूप देते हुए कहा कि ऐसी शासन व्यवस्था केवल केन्द्रीय व प्रांतीय स्तरों तक ही न होकर, शासन के सभी स्तरों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक होनी चाहिए, जिससे कि हर नागरिक को अपनी आत्मा और विवेक का अधिक से अधिक अनुसरण करने का अवसर मिल सके।

3.2.9 रूसी शांतिवादी विचारक लेव टालस्टॉय

गाँधी ने रूसी दार्शनिक टालस्टॉय की 'The Kingdom of God is Within You,' 'The Gospel in Brief', 'The Letter to a Hindu' नामक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था और उनसे काफी प्रभावित हुए थे। 'The Kingdom of God is Within You' पुस्तक गाँधी ने उस समय पढ़ी जब वे संशयवादी उलझन में थे। गाँधी कहते हैं, इसके अध्ययन ने मेरे संशयवाद को दूर कर दिया और मुझको अहिंसा में विश्वास करने वाला बना दिया। गाँधी स्वयं को टालस्टॉय का प्रशंसक मानते थे और जीवन में बहुत सी बातों के लिये स्वयं को उनका आभारी मानते थे। गाँधी लिखते हैं "स्वर्गीय रायचन्द के बाद टालस्टॉय उन तीन आधुनिक मनुष्यों में से एक हैं जिनका मेरे जीवन पर अधिकतम आध्यात्मिक प्रभाव पड़ा है। टालस्टॉय का तत्व दर्शन पूर्णतः ईसाई धर्म पर आधारित है। उनके आधुनिक राजनैतिक व सामाजिक प्रश्नों के समाधान शैलों उपदेश ईसाई धर्म के Sermon on the mount पर आधारित है।

3.2.10 रूसो

जिन अन्य पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव गाँधी पर पड़ा था, उनमें फ्रांसीसी समझौतावादी विचारक रूसो का नाम सबसे पहले आता है। गाँधी रूसो के 'Back to the Nature' से काफी प्रभावित थे तथा उन्हीं की तरह ग्राम पंचायत जैसी शासन की प्राथमिक ईकाइयों को सर्वाधिक महत्व देते थे। गाँधी के अनुसार विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था में सर्वाधिक सत्ता व संसाधन ग्राम पंचायतों के पास होनी चाहिये जिससे कि लोग उनके प्रत्यक्ष प्रयोग से अधिक से अधिक आत्मनिर्भर हो जाये, उनकी स्वतंत्रता तथा पहल के अवसर सुरक्षित रहे तथा राज्य पर उनकी निर्भरता दिन प्रतिदिन कम से कम होती रहे। गाँधी की रूसो की तरह यह भी मान्यता थी कि यदि आत्मनिर्भरता की यह प्रक्रिया चलती रही तो एक दिन ऐसी अवस्था आ जाएगी जिसमें हिंसा पर आधारित नागरिकों से जोर जबरदस्ती करने वाली शासन व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। ऐसी शासन व्यवस्था को रूसो ने 'Golden Age' तथा गाँधी ने 'रामराज्य' या 'अहिंसक राज्य' की संज्ञा दी। इसके अलावा गाँधी आयरलैण्ड की महिलाओं के सिनफिन आन्दोलन से भी प्रभावित थे। इनके आन्दोलन से गाँधी संगठन व एकता के महत्व को भलीभाँति समझा था और राममोहन राय की तरह इस निर्णय पर पहुँचे थे कि उन्हें अपने अहिंसक संघर्ष को अपने जैसे गिने-चुने नेताओं के वैयक्तिक आन्दोलन से ऊपर उठाकर एक सामूहिक व सार्वजनिक सत्याग्रह का रूप देना होगा।

दूसरी ओर गाँधी मैकियावली के इस कथन से सहमत नहीं थे कि साध्य ही साधनों का औचित्य है तथा नागरिक राज्य के कानूनों का पालन दण्ड के भय से करते हैं। गाँधी मानते थे कि साधन साध्य के समान ही महत्वपूर्ण है। अतः साधनों को साध्य से अलग नहीं किया जा सकता है। गाँधी की मान्यता थी कि यदि व्यक्ति कानूनों का पालन दण्ड के भय से करते हैं तो भारतीय ब्रिटिश कानूनों का स्वेच्छा से उल्लंघन कर यातनाएं कैसे सह पाते? अतः व्यक्ति कानूनों का पालन दण्ड या भय से नहीं, स्वेच्छा से करते हैं। गाँधी हिटलर, मुसोलिनी व हीगल के इस विचार से भी सहमत नहीं थे कि राज्य स्वयं में एक साध्य है। गाँधी की राय में राज्य केवल व्यक्ति की पहल, स्वतंत्रता व नैतिकता के आदर्श की प्राप्ति का एक साधन मात्र है।

3.3. भारतीय धर्म-दर्शनों का प्रभाव

भारतीयोत्तर धर्म-दर्शन के समान ही गाँधी के जीवन में भारतीय धर्म-दर्शनों का भी गहरा एवं महत्वपूर्ण स्थान था। गाँधी दर्शन के निर्माण में भारतीय धर्म-दर्शन व भारतीय चिन्तकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गाँधी पर भारतीय प्रभावों के अन्तर्गत विभिन्न धर्म-दर्शन यथा वैदिक, जैन, बौद्ध, सांख्ययोग, मीमांसक आदि, विभिन्न विचारक व चिन्तक यथा गोपालकृष्ण गोखले, सर फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रायचन्द जैन आदि तथा विभिन्न धार्मिक, भक्ति व सामाजिक आन्दोलन का नाम उल्लेखनीय है।

3.3.1 वेद तथा उपनिषद्

गाँधी जी वेद उपनिषद् से भी स्पष्ट रूप से प्रभावित थे। उनके अनुसार वेदकालीन सभ्यता में हिन्दू वर्ग जाति प्रथा व अस्पृश्यता की भावना से ग्रसित नहीं था, इसलिये वे इसे अनुकरणीय मानते थे। उन्होंने वेद वाक्य— ‘सभी कर्म एवं विधाएं भक्ति के लिये होनी चाहिए’ का समर्थन किया। उपनिषदों में गाँधी विशेषतः ईश्वरस्योपनिषद् से प्रभावित हुए थे। उसमें कहा गया था कि इस संसार में जो कुछ भी है उसमें ईश्वर व्याप्त है, इसलिये ईश्वर के नाम से त्याग करके तुम यथा प्राप्त वस्तुओं को उपयोग करो व किसी के धन को लेने की इच्छा मत करो। उन्होंने इस मंत्र को हिन्दू धर्म का सर्वस्व माना। गाँधी मानते थे कि जैन, बौद्ध तथा सभी हिन्दू दर्शन वेद—उपनिषदों के ऋणी हैं। उन्होंने अपनी दैनिक प्रार्थना में उपनिषद् के मंत्रों का स्मरण किया जो उनकी उपनिषदों के प्रति आस्था को दर्शाता है।

3.3.2 श्रीमद्भगवद् गीता

गाँधी की पृष्ठभूमि मुख्यतः गीता पर ही आधारित है। उन पर गीता का इतना महत्वपूर्ण प्रभाव था कि उन्होंने उसे गीता माता की संज्ञा दे डाली। गाँधी का उद्देश्य भी अपने जीवन में गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञता की अवस्था प्राप्त करना तथा सम्पूर्ण मानवता से उसे क्रियान्वित करना था। गाँधी की यही कल्पना आगे चलकर रामराज्य के रूप में प्रस्फुटित हुई। गाँधी गीता को अपने जीवन की संरक्षिका मानते थे। उन्होंने कहा था “जब मुझे संशय परेशान करता है एवं क्षितिज पर मुझे प्रकाश की एक भी किरण दिखाई नहीं देती तो मैं भगवद्गीता की ओर उन्मुख होता हूँ और मुझे कोई न कोई श्लोक संतोष के लिये मिल ही जाता है।”

गाँधी गीता के ‘अनासक्त कर्मयोग’ से बहुत प्रभावित थे। इसी से प्रभावित होकर गाँधी ने कहा था कि कर्तव्य पालन का अधिकार ही एकमात्र ऐसा अधिकार है जिसके लिये मनुष्य जी सकता है तथा मर सकता है क्योंकि इसी में उसके सभी उचित अधिकारों का समावेश हो जाता है। गाँधी ने गीता के ‘स्वधर्म’ के सिद्धान्त से ही प्रेरित होकर कहा था कि व्यक्ति को अपने पुष्टतैनी तथा वर्णीय व्यवसाय का निर्वाह करना चाहिए, किन्तु इस बात का भी ध्यान देना आवश्यक है कि वह कार्य नैतिक रूप से संगत हो। गाँधी के कर्ममुक्ति, बुद्धियोग तथा श्रद्धा संबंधी सिद्धान्त गीता पर ही आधारित हैं। श्रीमद्भगवद् गीता के जीवनयात्रा की एकरूपता के आदर्श ने उनमें अहिंसा तथा अपरिग्रह समभाव, नैतिक वस्तुओं के प्रति विरक्ति का भाव पैदा किया। गाँधी गीता के तत्त्वज्ञान को सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ मानते थे। उन्होंने गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत किसी भी बात को शास्त्र सम्मत नहीं माना है।

3.3.3 महाभारत तथा पुराण

गाँधी पर महाभारत तथा पुराण का भी प्रभाव था। उन्होंने महाभारत को प्रतिदिन मनुष्य के हृदय में चलने वाले आसुरी तथा दैवीय वृत्ति के बीच चलने वाला द्वंद्व युद्ध माना। पुराणों को गाँधी ने अपने युग की कृतियां तथा स्मृतियों के विकास के रूप में देखा था। पुराणों में गाँधी ने विशेषतः भागवत पुराण में से भक्ति तत्व को अधिक समझने का कोशिश की। लेकिन पुराणों में वर्णित सत्य को उन्होंने आंशिक रूप में ही ग्रहण किया था।

3.3.4 जैन दर्शन

गाँधी पर जैन दर्शन का भी महत्वपूर्ण प्रभाव था। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित तीनों नय—दुर्नय, नय तथा प्रमाण नय को गाँधी ने पूर्णतः स्वीकार नहीं किया था। उनके अनुसार प्रमाण नय तर्कतः पूर्णतः सही है जिसके अनुसार प्रत्येक निर्णय को स्यादपूर्वक कहना चाहिये। लेकिन गाँधी ने जब स्यादवाद का प्रयोग किया तब प्रमाण नय की जगह नय का ही प्रयोग किया। गाँधी का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि से सही है। गाँधी जैन दर्शन के सप्तभंगी के सिद्धान्त से भी परिचित थे तथा उन्होंने भी किसी भी बात को सात दृष्टियों से देखने का समर्थन किया। इस संदर्भ में गाँधी का वक्तव्य है—सभी रचनाओं में लेखक की दृष्टि अधिकतर एकांगी होती है परन्तु हर बात कम से कम सात दृष्टियों से देखी जा सकती है और उन—उन दृष्टियों से वह बात सत्य होती है। परन्तु सभी दृष्टियां एक ही मौके पर एक साथ सत्य नहीं हो सकती हैं। गाँधी जैन दर्शन के ‘अनेकान्त’ से बहुत अधिक प्रभावित थे। इसके प्रति आभार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है “मैं इस सिद्धान्त को बहुत पसंद करता हूँ। इसी सिद्धान्त ने मुझे सिखाया है कि मुसलमान को उसकी दृष्टि से जांचना चाहिये और ईसाई को उसकी

दृष्टि से।" गाँधी ने जैनियों के सत्य, अहिंसा आदि पंचमहाव्रतों को भी अपनाया तथा उन्हें अपने जीवन में चरितार्थ भी किया। गाँधी का अहिंसा दर्शन मूलरूप से जैन धर्म के अहिंसा दर्शन से प्रभावित था।

3.3.5 बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन से प्रभावित होकर गाँधी ने उसे हिन्दू धर्म का अंग तथा बुद्ध को वेदों को ज्ञाता माना। बुद्ध ने ईश्वर विषयक प्रचलित धारणाओं का खण्डन किया था। इसलिये उन्हें निरीश्वरवादी कहा जाता है। किन्तु गाँधी को यह मान्य नहीं था क्योंकि गाँधी की दृष्टि में बुद्ध ने ईश्वर को सर्वव्यापी नियति के रूप में माना है। उन्होंने नैतिक शासन व्यवस्था के संस्थापक के रूप में ईश्वर के प्रति आस्था प्रकट की है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बुद्ध का ईश्वरत्व वैदिक प्रत्यय 'ऋत' के रूप में प्रतिष्ठित है। गाँधी ने बुद्ध के 'निर्वाण शून्यता' के सिद्धान्त का भी समर्थन किया। गाँधी का मत था कि बुद्ध के इस सिद्धान्त का तात्पर्य है कि हम निर्वाण की अवस्था में बुरी बातों को न सोचे; जो कि उनकी महानता का द्योतक तथा शांति प्राप्त करने का नया तरीका है। इसके अतिरिक्त गाँधी बुद्ध की जीव मात्र के प्रति करुणा के सिद्धान्त से भी प्रेरित थे। इसी संदर्भ में उन्होंने कहा है "बुद्ध की दया तो देखिये वह मनुष्य जाति से भी आगे बढ़कर अन्य प्राणियों तक जा पहुँची है।"

3.3.6 न्याय-वैशेषिक दर्शन

गाँधी वैशेषिक दर्शन के अणुवाद को पूर्णतः स्वीकार किया तथा उसे आधुनिक अणुवाद से समन्वित माना। उन्होंने अपने प्रतिपक्षियों के सिद्धान्त का निराकरण नैयायिकों की तर्क शैली द्वारा किया। इस प्रकार गाँधी पर न्यायवैशेषिक का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

3.3.7 सांख्य-योग

गाँधी पर सांख्य एवं योगदर्शन का भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने सांख्य के प्रकृति तथा परिणमनवाद को स्वीकार किया था। उन्होंने सांख्य के ज्ञान मार्ग को मोक्ष दिलाने वाला माना, लेकिन उसे कभी अपने जीवन में चरितार्थ नहीं किया। क्योंकि उन्होंने मीमांसा का कर्मवाद मोक्ष प्राप्ति के लिये अधिक उपयुक्त माना। गाँधी योग-दर्शन में विशेषतः पतञ्जलि योग से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने योग दर्शन के प्रथम तीन सूत्रों तथा दो सिद्धान्तों— चित्त-वृत्ति-निरोध और इसकी सफलता के लिये ईश्वर की आराधना में आस्था प्रकट की। उनको योग-दर्शन के पंच महाव्रत तथा अष्टांग साधना पद्धति के प्रति आदरभाव था। गाँधी मानते थे कि योग-दर्शन राजयोग तथा मनोविज्ञान का महाकोश है।

3.3.8 मीमांसा दर्शन

गाँधी मीमांसा के कर्मवादी सिद्धान्त से प्रभावित थे। किन्तु उन्होंने उसे अपनाकर एक नया रूप दे दिया। मीमांसा में यज्ञ को स्व के लिये माना है किन्तु गाँधी का यज्ञ परोपकारार्थ है। उन्होंने मीमांसकों की तरह वर्णाश्रम धर्म को भी स्वीकृति प्रदान की, किन्तु उन्हें जातिप्रथा तथा अस्पृश्यता मान्य नहीं थे। गाँधी ने भी जाति को जन्मना स्वीकार किया, किन्तु उसके सिद्धान्त में थोड़ा परिवर्तन कर इसमें ऊँच-नीच का भेद स्वीकार नहीं किया।

3.3.9 वेदान्त दर्शन

गाँधी वेदान्त-दर्शन से भी गहनता से प्रभावित थे। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये उन्होंने वेदान्त को सर्वोत्कृष्ट माना। वेदान्त के आत्मज्ञान से ही प्रभावित होकर ही उन्होंने कहा है "निष्पक्ष रूप से विचार करने पर ही मुझे यह प्रतीती हुई कि हिन्दू धर्म में जैसे गुढ़ विचार हैं, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वैसे दूसरे धर्म में नहीं। गाँधी शंकराचार्य के सृष्टिविज्ञान के प्रति तो उदासीन थे, लेकिन उन्होंने अद्वैतवाद के प्रतिभसिक सत्, व्यवहारिक सत् तथा पारमार्थिक सत् के सिद्धान्त मान्य थे। उन्होंने पिण्ड व ब्रह्माण्ड में एकता स्थापित कर शंकर के व्यष्टि व समष्टि के सिद्धान्त का भी समर्थन किया। गाँधी को उनका आत्मैक्य के आधार पर अस्पृश्यता के पाखण्ड से मुक्ति का प्रसंग प्रिय था। शंकर के साथ-साथ गाँधी ने रामानुज तथा अन्य वैष्णव वेदांतियों के लीलावाद, पुष्टिमार्ग और वैष्णव धर्म को अपनाया था। गाँधी ने रामानुज के विदेह-मुक्ति के सिद्धान्त को तो स्वीकार किया लेकिन जीवन मुक्ति को असंभव माना।

3.4. विभिन्न आन्दोलनों का प्रभाव

3.4.1 भक्ति आन्दोलन का प्रभाव

गाँधी पर विभिन्न भक्ति आन्दोलनों का प्रभाव भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। संतों व भक्तों से प्रभावित होकर ही उन्होंने उनके भजनों का स्मरण किया। इन संतों तथा भक्तों में कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, रैदास, नानक, दादु, मीरा आदि प्रमुख हैं। उन्होंने कबीर तथा गुरुनानक जैसे संतों से राम-रहीम तथा कृष्ण-करीम की एकता का पाठ सीखा। उन्होंने संतों व भक्तों से ही अन्तारात्मा की आवाज, सत्य के सिद्धान्त, शब्द, सगुण-निर्गुण समन्वय, रामनाम साधना आदि के महत्त्व को ग्रहण किया। सगुण-निर्गुण ईश्वर के समन्वय के सन्दर्भ में वे तुलसीदास से प्रभावित थे। जीव व आत्मा के संबंध को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने रैदास की पंक्तियों का सहारा लिया था जिसमें कहा गया है कि आत्मा या परमात्मा दीपक है और जीव इसकी बत्ती है। बत्ती जल रही है और प्रकाश हो रहा है। देह के स्वरूप के संबंध में वे संत कबीर के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे।

3.4.2 सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन का प्रभाव :

अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीति के परिणाम स्वरूप उन्नीसवीं सदी में ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी ने सामाजिक जीवन को नया आर्थिक आयाम दिया। इनके द्वारा चलाये गये सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन का गाँधी के जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

- ब्रह्म समाज : ब्रह्म समाज ने जाति प्रथा की कठोरता, सती प्रथा तथा विधवा विवाह निषेध की परम्पराओं पर कुठाराघात किया। स्त्रियों के समान अधिकार की मांग करके इसने सामाजिक समानता के अधिकार का प्रतिपादन किया। ब्रह्म समाज के इन्हीं कार्यों से प्रभावित होकर गाँधी ने इन्हें नवीन रूप में प्रस्तुत किया।
- आर्य समाज : आर्य समाज की यह मान्यता थी कि पूर्ण रूप से स्वदेशी मान्यताओं व आदर्शों से ही देश का कल्याण संभव है। इसके साथ ही इस समाज ने जाति, रंग तथा देश के भेद-भाव को भुलाकर मानव की सेवा तथा अस्पृश्यता आदि पर प्रभावी ढंग से विचार किया। आर्य समाज के इन्हीं सिद्धान्तों का प्रभाव था कि गाँधी ने स्वदेशी व अस्पृश्यता को अपने एकादश व्रतों में सम्मिलित किया।
- रामकृष्ण मिशन : रामकृष्ण मिशन ने धर्म को एक अनुभूति के रूप में स्वीकार किया तथा ईश्वर की अनुभूति, सर्वधर्म-समभाव, प्रत्येक मनुष्य तथा स्त्री की सेवा, शुद्र वर्ण की उन्नति आदि पर न केवल प्रभावी ढंग से विचार किया, अपितु उन्हें क्रियान्वित भी किया। रामकृष्ण मिशन के इन सिद्धान्तों से प्रभावित होकर ही गाँधी ने इन्हें अपने एकादश व्रतों व रचनात्मक कार्यक्रमों में शामिल किया।
- थियोसोफिकल सोसाइटी : थियोसोफिकल सोसाइटी ने विश्व बंधुत्व, मैत्री, समानता, सहयोग तथा स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया। गाँधी इनसे न केवल प्रभावित हुए, अपितु देशभर में इन्हें क्रियान्वित भी किया।

उपर्युक्त आन्दोलनों के अतिरिक्त गाँधी पर प्रार्थना समाज, राधास्वामी सत्संग, देव-समाज, सिख समाज का भी प्रभाव पड़ा। इन सभी आन्दोलनों की प्रवृत्ति भले ही धार्मिक या आध्यात्मिक रही हो, किन्तु इन्होंने सामाजिक क्षेत्र में उत्पन्न कुरीतियों को दूर करने में पर्याप्त क्षमता प्रस्तुत की। गाँधी ने इनके सिद्धान्तों पर विचार किया तथा उसके व्यवहार से सम्पूर्ण राष्ट्र तथा मानवता को भी लाभान्वित किया।

3.5 समकालीन भारतीय चिन्तकों का प्रभाव

गाँधी दर्शन पर भारतीयों चिन्तकों का भी गहरा प्रभाव था। भारतीय चिन्तकों ने विशेषतः उनके राजनीतिक जीवन को प्रभावित किया जिन्हें नरमवादी तथा गरमवादी नामों से जाना जाता है। नरमवादी चिन्तकों में दादाभाई नारौजी, सर फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे आदि महत्वपूर्ण थे, जिन्होंने भारत सरकार के प्रति सहयोगात्मक रवैये को

अपनाया। इन चिन्तकों ने लोकतांत्रिक आदर्शों के प्रति आस्था व्यक्त की तथा भारतीय नागरिकों का राजकीय सेवाओं में नियुक्ति पर बल दिया। इन्होंने भारत में नैतिकता एवं शिक्षा के प्रसार पर बल दिया।

गरमवादी चिन्तकों में लाला लाजपत राय, तिलक, विपिन चन्द्र पाल आदि प्रमुख थे। इन्होंने स्वतंत्रता व स्वराज्य के लिये कठिन साधना की तथा सम्मान सूचक पदों, उपाधियों और प्रतिनिधि संस्थाओं का बहिष्कार किया। गाँधी ने उदारवादियों के आध्यात्मिक चिन्तन तथा गरमवादियों के राष्ट्रधर्म एवं प्रेम को अपनाया। गाँधी के लोकतंत्रीय आदर्शों, शिक्षा आदि पर उदारवाद का स्पष्ट प्रभाव है। उन्होंने असहयोग, सविनय अवज्ञा आन्दोलन में बहिष्कार की जिस पद्धति को अपनाया उस पर गरमवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव था। गरमपन्थियों ने साध्य की प्राप्ति के लिये साधनों के चयन पर विचार नहीं किया, जिसे गाँधी ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि साध्यों की प्राप्ति के लिये उन्होंने सदैव अहिंसक साधनों का ही समर्थन किया।

3.5.1 रायचंद जैन का गाँधी पर प्रभाव

जिन भारतीय चिंतकों ने गाँधी जी को सर्वाधिक प्रभावित किया उनमें रायचंद जैन का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। गाँधी जी ने इसे स्वयं स्वीकार किया था। गाँधी जी के शब्दों में “मुझ पर तीन पुरुषों ने गहरा प्रभाव डाला है—टॉलस्टॉय, रस्किन और रायचंद भाई। टॉलस्टॉय ने अपनी पुस्तकों और उनके साथ हुए थोड़े पत्र व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक पुस्तक ‘अन्टु दि लास्ट’ से जिसका गुजराती नाम मैंने सर्वोदय रखा है, और रायचंद भाई ने अपने गाढ़े परिचय से। जब मुझे हिन्दू धर्म में शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने में मदद करने वाले रायचंद भाई थे।”

श्री रायचंद जैन से गाँधी जी की प्रथम मुलाकात जुलाई 1891 को बम्बई में प्राणजीवन दास मेहता के घर पर हुई। वे मेहता जी के बड़े भाई के दामाद व उनके व्यापार में साझी थे। गाँधी जी प्रथम मुलाकात में ही उनकी स्मरण शक्ति व शास्त्र ज्ञान से प्रभावित हो गये थे। रायचंद जैन हीरे—जवाहरात के व्यापारी थे व एक दुकान चलाते थे। उस समय उनकी उम्र मात्र पच्चीस वर्ष थी। वे बहुत सावधानी व प्रामाणिकता से व्यापार करते थे, लेकिन गाँधी के अनुसार “व्यापार की गुत्थियां सुलझाना उनका विषय नहीं था। उनका विषय उनका पुरुषार्थ—आत्म साक्षात्कार—हरिदर्शन था। दुकान पर और कोई वस्तु हो या न हो एक—न—एक धर्म की पुस्तक और डायरी जरूर रहती थी। व्यापार की बात खत्म होते ही वे अपनी धर्म की पुस्तक खोल लेते और डायरी में कुछ लिखना प्रारंभ कर देते.....।” गाँधी कहते थे कि जो मनुष्य लाखों के सौदे की बात करके तुरंत आत्मज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाता है, वह व्यापारी श्रेणी का नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानी की कोटि का विद्वान है।

रायचंद जैन सभी धर्मों की गूढ़ जानकारी रखते थे। ‘योगवैशिष्ट्य’ उनका प्रिय ग्रंथ था। गाँधी जब इस संशय में थे कि कौनसा धर्म पूर्ण है? तथा उन्हें विभिन्न धर्म के लोग अपने धर्म में लाने के लिये प्रभावित कर रहे थे, ऐसे समय में उन्होंने रायचंद जी से अपनी समस्या कही। गाँधी के शब्दों में “उन्होंने लिखा कि धीरज रखो और हिन्दू धर्म का गहरा अध्ययन करो।” उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था—हिन्दू धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं व जो आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्म में नहीं हैं।” इस प्रकार गाँधी का हिन्दू धर्म में जो गूढ़ विश्वास पैदा हुआ, वह रायचंद भाई की ही देन है। उन्होंने गाँधी को हिन्दू धर्म के विभिन्न ग्रंथ पढ़ने के लिये प्रेरित किया ताकि वे स्वयं सही निर्णय पर पहुंच सकें।

एक व्यापारी होते हुए भी रायचंद भाई के वैराग्यपूर्ण जीवन ने गाँधी जी को बहुत प्रभावित किया। गाँधी के अनुसार जीवन की प्रत्येक क्रिया करते समय उनका किसी भी चीज में मोह नहीं था। उनका रहन—सहन बहुत सादा व सरल था। गाँधी के शब्दों में “यह वर्णन संयमी के विषय में संभव है। बाह्याडंबर से मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्मा का प्रसाद है। यह अनेक जन्मों के प्रयत्न से मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागों को निकालने का प्रयत्न करने वाले यह जानता है कि राग रहितता कितनी कठिन है। यह रागरहित दशा कवि की स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।” गाँधी मानते थे कि सामान्यतः यह मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य व्यवहार कुशल नहीं होते हैं, लेकिन रायचंद भाई धार्मिक होते हुए भी व्यवहार कुशल थे। गाँधी के शब्दों में “इस तरह के अपवाद होते हुए भी व्यवहार कुशलता और धर्मपरायणता का सुन्दर मेल जितना मैंने कवि में देखा है उतना किसी दुसरे में देखने में नहीं आया।”

गाँधी को रायचंद जैन की धर्म की व्याख्या ने बहुत प्रभावित किया। रायचंद जैन के अनुसार धर्म का अर्थ मतमतांतर नहीं है, न ही शास्त्रों के नाम से कही जाने वाली पुस्तक पढ़ना, कण्ठस्थ करना है। धर्म आत्मा का गुण है और वह मनुष्य जाति में दृश्य या अदृश्य रूप से मौजूद है। धर्म से हम मनुष्य जीवन का कर्तव्य समझ सकते हैं। धर्म द्वारा हम दूसरे जीवों के साथ अपना सच्चा संबंध पहचान सकते हैं। यह स्पष्ट है कि जब तक हम अपने को न पहचान ले तब तक यह सब कभी भी नहीं हो सकता। इसलिये धर्म वह साधन है जिसके द्वारा हम स्वयं को पहचान सकते हैं।" गाँधी को रायचंद भाई के दयाधर्म ने भी बहुत प्रभावित किया। गाँधी के स्वयं के शब्दों में "बहुत बार कहा और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतों के जीवन में से बहुत कुछ लिया है परन्तु सबसे अधिक किसी के जीवन से मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि के जीवन में से है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवन से सीखा है। खून करने वाले से भी प्रेम करना, यह दयाधर्म मुझे कवि ने सिखाया है।" रायचन्द जैन बहुत छोटी सी उम्र में ही आत्मज्ञान, वीतराग, धर्मपरायणता के क्षेत्र में बहुत आगे निकल चुके थे। उनका देहांत भी छोटी सी उम्र में हो गया था। उनके जीवन के इन्हीं पहलुओं का गाँधी के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस प्रकार स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है कि गांधी के जीवन विचारों पर विभिन्न धर्म दर्शनों, विचारकों, चिंतकों, पाश्चात्य व भारतीय दोनों का गहरा प्रभाव था, जिसने उन्हें अपने जीवन के सही रास्ते चुनने तथा अपने दर्शन का विकास करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

4. सर्वोदय

सर्वोदय का अर्थ है, 'सब का उदय और सब प्रकार से उदय' अर्थात् समाज में प्रत्येक व्यक्ति का सर्वांगीण उत्थान। सर्वोदय पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद की होड़ में खड़ा किया हुआ कोई नया वाद नहीं है। सर्वोदय सब वादों का समन्वय करने वाला कल्याणकारी यंत्र है। सबका एकसाथ विकास ही 'सर्वोदय' है। सर्वोदय का यह अर्थ नहीं होगा कि कुछ का विकास हो और कुछ का नहीं हो, सर्वोदय बहुमत के हित की बात नहीं करता, वह तो समान रूप से सबका उदय चाहता है। सर्वोदय का साधन 'सर्व' शब्द में है, जो कुछ भी हो, व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और शैक्षणिक उन्नति सबों का हो। जो कुछ भी प्राप्त हो वह समाज के सभी व्यक्ति को प्राप्त हो। सर्वोदय इसी अर्थ में कहता है, जो कुछ भी पैदा करो, जो कुछ भी हासिल करो वह सब में बांटें। श्रम का, धन का, जमीन का समान बंटवारा कर लो।

4.1 सर्वोदय का अर्थ

काका कालेलकर कहते हैं, "सर्वोदय" कोई मामूली शब्द नहीं है, महात्मा जी के हृदय से निकली हुई यह एक ऋषि वाणी है। आज के युग का यह 'युग मंत्र' है। गांधीजी के एक अन्य अनुयायी ने सर्वोदय को भाष्य करते हुए कहा है कि "सर्वोदयी के मानी है अन्त्योदय। जो सबसे पिछड़ा हुआ है, दलित और उपेक्षित है, उससे प्रारम्भ करके सबकी उन्नति के लिए प्रारंभ किया जाता है वह है सर्वोदय। आचार्य विनोबा भावे ने कहा— 'सर्वोदय' एक ऐसा अर्थ धन शब्द है, जिसका जितना अधिक चिंतन और प्रयोग करते जायेंगे, उतना ही अधिक अर्थ हम उससे पाते जायेंगे। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सर्वोदय का सभी अर्थ सीधे-सीधे दिमाग में बैठ जाय यह आवश्यक नहीं है, हाँ जब हम उन अर्थों पर विचार करेंगे तो धीरे-धीरे समझ में आयेगी। विनोबा का विचार था कि कुछ भी हो सर्वोदय का एक अर्थ तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जब भगवान ने मानव-समाज का इस दुनिया में निर्माण किया है तो मानव का आपस में विरोध हो, एक का हित दूसरे के हित के विरोध में हो, यह इच्छा कदापि नहीं हो सकती। कोई पिता यह नहीं चाहता कि एक लड़के का हित दूसरे के हित के विरोध में हो। लड़कों में विचार-भेद हो सकता है, लेकिन हित विरोध नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न विचार हों तो ऐसे अनेक विचार मिलकर एकपूर्ण विचार बन सकते हैं, क्योंकि किसी एक आदमी को पूर्ण विचार सूझे यह हो नहीं सकता। विचार-भेदों का होना दोष नहीं है, बल्कि गुण ही है, लेकिन हित विरोध नहीं होना चाहिए।

विनोबा, 'सर्वोदय' के अर्थ को साधारण यानी सरल बताते हुए समझाते हैं कि हमने अपने जीवन को एक दूसरे के हित के विरोध में निर्मित कर लिया है। जैसे धन का ही संग्रह हम दूसरे के हितों को नजर अंदाज कर करते हैं। एक प्रकार ये यदि कहा जाय तो कभी-कभी दूसरों से छीनकर ही हम धन का अनावश्यक संग्रह करते हैं। मानवता और प्रेम से अधिक महत्त्व हमने धन को दे रखा है। नतीजा यह है कि जो परस्पर मेल या सम्बन्ध आसान होना चाहिए था, वह मुश्किल हो गया है। उस आसान

प्रेम की शोध में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गये हैं, फिर भी सबका हित नहीं सध रहा है, सबका कल्याण नहीं हो रहा है। सबका हित या कल्याण तो एक सीधी-सी बात मान लेने में हैं और वह यह कि हर व्यक्ति एक दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। यही कुटुम्ब में होता भी है, कुटुम्ब का न्याय समाज के लिए लागू करना कठिन नहीं होना चाहिए, बल्कि आसान होना चाहिए। ऐसे कौटुम्बिक न्याय को 'सर्वोदय' कहते हैं। यह सर्वोदय का कम-से-कम और स्पष्ट अर्थ है और इसी से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए। हमें अपना भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए। दूसरे का धन हम किसी तरह ले लें, इसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता है और इस नीति से दूसरे के हित के बदले अहित ही होता है। कमाई का अर्थ प्रत्यक्ष उत्पादन है।

4.2 सर्वोदय का दर्शन

सर्वोदय एक ऐसा जीवन-दर्शन है, जिसमें जीने का अनुपम तरीका निहित है। इसमें 'सब सुखी हम सुखी' वाली बात है। यह कोई नहीं बात कहता हो, ऐसा नहीं है, पर पुरानी अच्छाइयों को जीवन में दाखिल करने का एक रास्ता जरूर बताता है। गांधीजी कहा करते थे कि 'जीवन जीना सबसे बड़ी कला है और जिसने इसको सीख लिया वही सबसे बड़ा कलाकार है।'

मानव-जीवन एवं समाज के विकास के लिए प्रतिस्पर्धा को मुख्य साधन माना गया, लेकिन इसका परिणाम भयंकर हुआ। संघर्ष से संघर्ष, प्रतिस्पर्धा से प्रतिस्पर्धा विकसित हुई और फलस्वरूप आज विरोधवाद, संघर्षवाद और संहारवाद संस्कृति पर हावी है। राजनीतिक क्षेत्र में जहां इस विचार से द्वेष की भावना का जहर समाज की नस-नस में फैला हुआ है, वहीं आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा के विचार ने बड़े-बड़े पूंजीपतियों, सेठ-साहूकारों में और सामाजिक क्षेत्र में मदान्धता का विकास किया। सामान्य व्यक्ति सर्वहारा होकर शोषण के पहियों के नीचे दब गया। सर्वोदय ने संघर्ष के स्थान पर सहकार की बात कहकर जीवन के विकास की दिशा में समाज को एक अनोखा उपहार भेंट किया। डार्विन ने एक सिद्धान्त प्रतिपादन किया, उसमें उन्होंने कहा कि "जो सबसे अधिक सक्षम, वही जीवन-संग्राम में बचेगा।" डार्विन के इस सिद्धान्त में हक्सले ने कमी देखी और एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो डार्विन महोदय के सिद्धान्त से उदारवादी है। हक्सले ने कहा—"जीओ और जीने दो।" हालांकि हक्सले के सिद्धान्त में कोई त्रुटि नहीं लेकिन सर्वोदय सिद्धान्त मानवतावाद के उच्चतम शिखर को प्राप्त करते हुए कहता है—"दूसरे के लिए जीओ, जिलाने के लिए जीओ।" सर्वोदय में सर्व का हित, सर्व के लिए हित, सर्व के द्वारा हित की साधना की बात कही गयी है। केवल साधना की बात नहीं, वरन् जीवन के हर पहलू को यह विचार स्पर्श करता है। आदमी अपना रोजगार भी सर्वोदय की भावना से कर सकता है। व्यक्ति केवल अपने बारे में नहीं, बल्कि अपने पड़ोसी के बारे में भी सोचे, यह इस विचारधारा की नींव का पत्थर है। तभी तो बापू ने कहा था—"अमेरिकन गेहूं खाकर अपने पड़ोसी अनाज के व्यापारी को ग्राहक के अभाव में भूखों मरने देना पीड़ादायक है। वैसे ही 'रीजेन्ट स्ट्रीट' की नवीनतम तड़क-भड़कदार पोशाक पहनना मेरे लिए पापपूर्ण है, जबकि मैं जानता हूँ कि यदि मैंने अपने पड़ोसी जुलाहों की बुनी हुई पोशाक पहनी होती तो न केवल मेरा तन ढकता, बल्कि उनके तन भी ढकते और पेट भी भरते।" मित्र तो अपनी मर्जी से भी बनाये और मिटाये जा सकते हैं, पर पड़ोसी तो आपके लिए विधाता ने भेजा है। उसके साथ हिल-मिलकर रहना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। पड़ोसी में सहयोग की बात व्यापक रूप से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ तक में लागू होती है। यह सामाजिकता है। यदि हम सर्वोदय के इस विचार से मुंह मोड़ते हैं, तो फिर हमारे लिए समाजवाद, साम्यवाद या सभ्यता और संस्कृति आदि की बात करना प्रवंचना मात्र है। फिर मनुष्यता की मनुष्यता की असली परख भी तो उसकी पशुता से नहीं होकर उसकी आध्यात्मिक शक्ति, उसकी सर्वभूत हित-साधन की हृदयवत्ता में है। मानव समाज भी तो पशुबल की उपेक्षा कर नीति एवं धर्मबल को ही स्वीकारता है। ऐशले मांटेग्यू जैसे विचारक ने भी कहा है कि 'संघर्ष या होड़ नहीं, सहयोग ही प्रकृति का सिद्धान्त है।' मिलर के विचार भी सर्वोदय के विचार का ही समर्थन करता हुआ कहता है कि प्रकृति में सबसे प्रबल प्रवृत्ति पायी गयी है—सहजीवन और सहयोग की। सह—अस्तित्व प्रकृति का नियम है।

धर्म की दृष्टि से सर्वोदय को सभी धर्मों का समन्वय कहा जा सकता है। स्वयं विनोबा ने सर्वोदय को 'सर्वोत्तम धर्म तथा सर्वोदयमिद तीर्थम्' कहा है। विनोबा की यह मान्यता सच भी है, आखिर

विश्व के सभी धर्मों का सार भी तो सबों का हित सबों का कल्याण करना है। इसलिए सर्वोदय ऐसा धर्म-दर्शन है, जिसके अंतर्गत दुनिया के सभी धर्म समाये हुए हैं। सर्वोदय में प्रत्येक के दोषों को अस्वीकार कर सिर्फ गुण को स्वीकारा गया है।

सर्वोदय में 'सहजीवन' जैसे उच्च विचार भी सन्निहित हैं। यह हम सदा से जानते आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए यह समाज से अलग रहकर जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इस संदर्भ में यह स्वीकार करना चाहिए कि मनुष्य का व्यक्तित्व सुख की भावना सामाजिक सुख की भावना से परे नहीं होना चाहिए, ऐसा सर्वोदय विचार मानता है। यह संभव है कि सभ्यता के आरंभिक काल में मनुष्य की प्राथमिक सुख-भावना पशुओं के समान केवल इन्द्रिय विषय-भोग के लिए ही संकुचित रूप से रही होगी और वह मूलतः व्यक्तिगत भी रही होगी। सभ्यता के इतने विकास के बाद भी हमारे भीतर का स्वार्थी व्यक्तिवादी विचार इतना प्रबल है कि हम समष्टि की उपेक्षा कर व्यक्तिनिष्ठ बन जाते हैं, जो अवश्य ही भ्रामक विचार है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिन जातियों या संस्कृतियों ने सह-जीवन को छोड़ व्यक्तिवाद को अपनाया, उनमें परस्पर संघर्ष इतने उभरे कि वे टूट गयीं और आज भी टूट रही हैं। सहजीवन पर चलने के कारण ही प्राचीन भारत में लिच्छिवियों का गणतंत्र शक्तिशाली मगध राजवंश के श्रेष्ठ माना जाता था। मानवतावादी यह विचार कि जो व्यवहार हमें अच्छा नहीं लगता, वह हम दूसरों के साथ भी नहीं करें यानी खुद को अच्छा लगने वाला व्यवहार ही हम दूसरों के साथ करें-सहजीवन का ही पाठ पढ़ाता है। सर्वोदय में निहित सहजीवन का यह विचार मानव के सांसारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में भी प्रवेश कर गयी, इसलिए अब आध्यात्मिक जीवन में भी साधक सिर्फ 'मेरी मुक्ति हो जाय' ऐसी आराधना ईश्वर से नहीं करता, क्योंकि 'मैं' के आते 'मोक्ष' भाग जाता है। इसलिए अब आध्यात्मिक जीवन में भी सामूहिक साधना, सामूहिक समाधि एवं सामूहिक मोक्ष की बातें चल पड़ी हैं। अतः सहजीवन मात्र परमार्थ का सूत्र नहीं, बल्कि यह तो जीवन का आधार है।

सर्वोदय विचार हमें 'साम्य योग' की शिक्षा देता है। साम्ययोग की प्रेरणा गांधीजी को बाइबिल की उस कहानी से भी मिली, जिसमें एक बाग का मालिक सुबह आये मजदूरों को और दोपहर तथा शाम तक काम की आस लगाये बैठे मजदूरों को, पूरे दिन, आधा दिन और मात्र एक पहर काम कराकर सबों को समान मजदूरी देता है। गांधीजी ने माना कि वकील और नाई के काम की मजदूरी समान होनी चाहिए। इस सबका अभिप्राय यह है कि उन्होंने सर्वहारा व्यक्ति को ऊपर उठाने के लिए सर्वोदय के नाम पर व्यावहारिकता की एक राह दिखाई। वकील और नाई के कामों के मूल्य को बराबर आंकने का एक कारण यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आजीविका का समान अधिकार है। फिर यह मानव सृष्टि भी तो 'साम्य' पर अवलम्बित है। हम सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं। सबों की आत्मा एक ही है, भले ही हम देह से अलग दिखलाई पड़ते हैं। मानव जीवन के लिए सर्वोदय का यह 'साम्य योग' अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि सामाजिक 'साम्य' से स्वस्थ एवं स्वच्छ समाज व्यवस्था की कल्पना की जा सकती है। आर्थिक साम्य तो मानव के जीने के लिए अनिवार्य है ही, मानसिक साम्य से मन का नियंत्रण होता है, लेकिन परम साम्य जीवन का सारसर्वस्व है। मानसिक एवं परम साम्य की प्राप्ति के लिए ही सामाजिक एवं आर्थिक साम्य आवश्यक है। साम्यता के अभाव में ही विषमता और विद्वेष मानव समाज को विनाश के हद तक पहुंचाने में कामयाब हो रहा है। इसीलिये सर्वोदय-विचार मानव रक्षण के लिए 'साम्ययोग' को अपनाने के लिए प्रेरित करता है। सर्वोदय विचार में साम्ययोग के सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिजीवी और श्रमजीवी में प्रतिष्ठा भेद से दूर-दूर तक कोई नाता नहीं है, क्योंकि इसमें मस्तिष्क से काम करने वाले वकील, डॉक्टर, इंजीनियर प्राध्यापक आदि तथा शरीर से काम करने वाले बढ़ई, नाई और मेस्तर के काम की कीमत बराबर है। बल्कि सर्वोदय दृष्टि से मजदूर-किसान या कारीगर का जीवन ही सच्चा एवं सर्वोत्कृष्ट जीवन है। सर्वोदय के उक्त विचार में आर्थिक साम्य भी आता है और सामाजिक साम्य भी। सर्वोदय दर्शन इस अर्थ में साम्यवादी (कम्युनिष्ट) विचार से उच्च स्थान प्राप्त करता है, क्योंकि समानता का नारा बुलन्द करने वाले साम्यवादी नेता शायद यह नहीं जानते कि आज भी कई साम्यवादी देशों में श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के वेतन में भारी विषमता बनी है, अभी भी वर्ग-भेद नहीं मिटा है, आज भी श्रमिक वर्ग एवं व्यवस्थापक वर्ग नाम से दो वर्ग हैं ही। सर्वोदय के साम्ययोग के विचार में श्रम-निष्ठा भी है, जिससे कोई भी मानव सभ्यता अपने उच्च शिखर को आसानी से प्राप्त कर सकता है। विनोबा का विचार है कि जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन मिलकर

पानी बनता है, वैसे ही आत्मज्ञान और विज्ञान मिलकर 'सर्वोदय या साम्ययोग' बनता है। इस अर्थ में सर्वोदय समाजवाद का पूर्ण रूप है। सर्वोदय सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा सहयोग के आधार पर आदर्श-सामाजिक-व्यवस्था की स्थापना का संकल्प करता है। इस आदर्श-समाज व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का समान अवसर प्राप्त होगा-उसमें ऊंच-नीच, छूत-अछूत, गरीब-अमीर, मालिक-मजदूर और भूपति एवं खेत मजदूर के बीच गहरी खाई न होगी, कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा। ईर्ष्या और द्वेष के स्थान पर, प्रेम और भलाई ही सामान्य व्यवहार के नियम होंगे और सब व्यक्ति एक दूसरे की उन्नति करने का मान करेंगे। यह व्यवस्था स्वर्ग तुल्य होगी। इसी को संक्षेप में सर्वोदय कहा गया है।

सर्वोदय मानव समाज के परिवर्तन एवं पुनर्निर्माण करने के लिए विश्व की अन्य धर्मों की तरह अहिंसा, प्रेम और करुणा को ही अपना मुख्य साधन माना है। समाजगत शोषण, उत्पीड़न, विषमता एवं अन्य सामाजिक, आर्थिक अन्याय के उन्मूलन के लिए सर्वोदय दण्ड शक्ति और हिंसा शक्ति के विरुद्ध अहिंसक जनशक्ति जिसे 'तीसरी शक्ति' भी कहते हैं का सहारा लेता है। सर्वोदय विचार की यह मान्यता है कि 'दण्डशक्ति' के आधार पर कभी भी स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिए तो विचार क्रांति करनी होगी। जनता के अभिक्रम और कर्तृत्व शक्ति को जगाकर ही अहिंसक समाज की स्थापना की जा सकती है। सर्वोदय में त्याग के द्वारा हृदय परिवर्तन, तर्क के विचार परिवर्तन, शिक्षा के द्वारा संस्कार परिवर्तन एवं पुरुषार्थ के द्वारा स्थिति परिवर्तन कर स्वच्छ एवं नैतिकपूर्ण मानव समाज की रचना की जाती है। ऐसे समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहती है। समाज में प्रेम एवं सहयोग का स्वस्थ वातावरण रहता है।

4.3 सर्वोदय दर्शन के आधारभूत तत्त्व

सर्वोदय दर्शन के कुछ आधारभूत तत्त्व हैं, जो निम्नलिखित हैं—

4.3.1 सत्य— गांधीजी के लिए सत्य सर्व प्रधान सिद्धांत है, जो अपने में अनेक सिद्धांतों को समेटे हुए है। उनका सारा जीवन सत्य के साथ किया गया प्रयोग है। उनके विचार में सत्य ही ईश्वर है। इसलिए इसी सत्य के प्रति निष्ठा ही व्यक्ति के अस्तित्व का एक मात्र औचित्य है। व्यक्ति का समस्त गतिविधि सत्य केन्द्रित होनी चाहिए। सत्य ही व्यक्ति के जीवन का प्राण तत्त्व होना चाहिए क्योंकि सत्य के बिना जीवन में किसी सिद्धांत या नियम का पालन करना असंभव है। इसलिए सर्वोदय विचार के पालन करने के लिए सत्य का पालन अपरिहार्य है क्योंकि सत्य का पालन तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है। सत्य के पालन में पूर्वग्रह, टाल-मटोल, दुराव, प्रवचना या विकृति का कोई स्थान नहीं है। सर्वोदय विचार को व्यक्त करते समय आचार्य विनोबा भी कहा करते थे—“प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करें, तो उसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। समाज में रहकर सबका यही कर्तव्य होना चाहिए।” साधारण अर्थ में सत्य को—सत्य-आग्रह, सत्य-विचार, सत्य-वाणी एवं सत्य-कर्म से जान सकते हैं। असत्य का सत्यादि साधनों द्वारा प्रतिकार करना सत्याग्रह है। अतः सर्वोदय या सबके उत्थान में सत्य का बहुत महत्त्व है।

4.3.2 अहिंसा— सर्वोदय में सत्य की भांति अहिंसा का भी बहुत महत्त्व है। समान अर्थ में किसी दूसरे जीव को न मारना ही अहिंसा है। व्यापक अर्थ में व्यक्ति द्वारा मन, वचन और कर्म द्वारा प्राणी मात्र को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना ही अहिंसा है। अहिंसा का दूसरा नाम प्रेम है। गांधीजी कहते हैं—‘जो व्यक्ति अहिंसक होने का दावा करता है, उससे यह अपेक्षित है कि वह अपने को क्षतिग्रस्त करने वाले पर क्रुद्ध न हो। वह उसका बुरा नहीं चाहेगा, वह उसका भी भला चाहेगा, वह उसे किसी प्रकार का शारीरिक आघात नहीं पहुंचायेगा। वह अनिष्ट कर्ता द्वारा उसे पहुंचायी गयी समस्त क्षति को सह लेगा। इस प्रकार समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का परिपूर्ण तिरो भाव ही अहिंसा है। अपनी गतिशील अवस्था में इसका अर्थ है—अंतः सम्मत पीड़ा सहन। इसका प्रसार हानिकर कीटाणु समेत मानवोत्तर योनियों तक है। उनकी सृष्टि हमारी विनाशात्मक प्रवृत्तियों के प्रति सद्भावना है। यह विशुद्ध प्रेम है। सर्वोदय विचार में यह मान्य है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के साथ अपने-अपने व्यवहार में अहिंसक होना चाहिए, तभी सर्वोदय का हित सधेगा। गांधीजी तो कहा करते थे, “मेरे लिए स्वराज्य से भी बढ़कर अहिंसा का स्थान है।” सर्वोदय जनसमूह में अहिंसा को फैलाना चाहता है, क्योंकि जनसमूह द्वारा हिंसा के अवलम्बन से रोग कभी नहीं मिट सकता। जो हो आज तक का अनुभव यही बताता है

कि हिंसा की सफलता क्षणिक होती है। अबतक हिंसा के विविध रूपों एवं मुख्यतः हिंसक की इच्छा पर निर्भर कृत्रिम नियंत्रणों का ही तो प्रयोग किया गया है। निर्णायक क्षणों में ये नियंत्रण स्वभावतः असफल रहे हैं। गांधीजी का विश्वास है कि लोकतांत्रिक सर्वोदय समाज-व्यवस्था के लिए अहिंसा अनिवार्य है। डॉ. राधाकृष्णन् भी यह मानते हैं कि—“आध्यात्मिक जीवन की पवित्रता एवं श्रेष्ठता, मानव जाति के बंधुत्व बोध तथा शांति प्रेम, इन आदर्शों के आधार पर एक पूरी नयी पीढ़ी को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है।”

4.3.3 अपरिग्रह— सर्वोदय दर्शन का तीसरा मंत्र अपरिग्रह है। गांधीजी अपरिग्रह का अर्थ समझाते हुए कहते हैं—“आदर्श स्थिति में अपरिग्रह केवल शरीर के वस्त्रों तक का त्याग न होकर अपनी अस्थियों के मांस तक का त्याग है।” सर्वोदय दर्शन का जीवन में पालन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी शारीरिक आवश्यकता के अनुसार किसी भी वस्तु का अधिक संग्रह न करे और न उससे किसी भी प्रकार का भेद करे। वस्तुओं का उपयोग केवल इस शरीर को चलाने के लिए हो। आचार्य विनोबा ने इस सम्बन्ध में कहा—“यदि इस दृष्टिकोण को अपनाया जाय तो इस संसार में कोई भी व्यक्ति भूखा न मरे।” गांधीजी का विश्वास था कि ईश्वर पर निष्ठा रखने वाले व्यक्ति को परिग्रह की जरूरत नहीं होती है। संत और महापुरुषों का जीवन अधिक सुखमय होता है। इसलिए सर्वोदय विचार से अपरिग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान होना आवश्यक है।

4.3.4 आत्म-त्याग— सर्वोदय सिद्धान्त की मुख्य मान्यता यही है कि त्यागमय जीवन में ही सच्चा सुख है, सच्चा आनन्द है। निश्चय ही अपने कर्तव्यों का पालन करने वाला और सत्य मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति दूसरों की सेवा में शांति का अनुभव करेगा। वह कभी भी किसी को धोखा तो नहीं ही देगा, अपना जीवन भी सादगीपूर्ण व्यतीत करेगा। इसलिए सर्वोदय विचार के सूत्रधार महात्मा गांधी हरिजनों, दीनदुखियों और दरिद्रों की सेवा करने में गर्व का अनुभव करते थे और दूसरों को इस पुण्य में सहभागी होने को प्रेरित करते थे। बापू का कहना था कि “दूसरों की स्वेच्छापूर्वक सेवा में हमारी शक्तियां लगनी चाहिए। यही सब धर्मों एवं सर्वोदय का सार है।” इसीलिए तो विनोबा और जयप्रकाश ने दूसरों की सेवा में अपने को अर्पित कर दिया, ‘जीवन दान’ कर दिया।

4.3.5 सबका उदय— सर्वोदय का अर्थ ही है सबका उदय। सर्वोदय की यह भावना सर्वोदय का सार है। गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक “अन टु दिस लास्ट” के आधार पर जो सर्वोदय के तीन सिद्धान्त समष्टि के हित में ही निहित हैं। आचार्य विनोबा के मतानुसार “सर्वोदय का तात्पर्य है हर एक दूसरे के लिए फिक्र रखे, साथ ही अपनी फिक्र न रखे कि जिससे दूसरों को कष्ट हो। यही हर कुटुम्ब में भी होता है। “वसुधैव कुटुम्बकम्” का यह न्याय समाज पर लागू करना कठिन नहीं, बल्कि आसान होना चाहिए। यही सर्वोदय का गूढ़ अर्थ है।

4.3.6 वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त अनुचित— सर्वोदय दर्शन मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को बिलकुल स्वीकार नहीं करता, क्योंकि जबतक समाज में वर्ग-भेद रहेगा, तो संघर्ष होना भी स्वाभाविक है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे साधन अपनाये जायें जो सभी वर्गों के लिए हितकर हो तथा कम से कम संघर्ष होने की संभावना हो। सत्य और अहिंसा को आधार मानकर ही वर्ग संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। वर्ग संघर्ष के विरोध में बोलते हुए विनोबा ने कहा—“जो वर्ग विग्रह के अनिवार्य होने की बात करते हैं उन्होंने अहिंसा का गूढ़ अर्थ नहीं समझा है या केवल ऊपर-ऊपर से ही समझा है।”

4.3.7 सर्वजन हिताय— सर्वोदय के इस तत्त्व में गांधीजी और विनोबा जी ने समाज में सबके सुखी होने का विचार व्यक्त किया है। दोनों इस बात को स्वीकारते हैं कि नैतिक अच्छाई हवा में नहीं रहती, बल्कि समस्त राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में निहित होती है। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के सभी स्तरों पर ‘सर्वजन हिताय’ की नीति का समर्थन किया। इसी विशेषता के कारण उनकी विचारधारा सर्वोदय के नाम से प्रसिद्ध है।

4.3.8 साधन शुद्धि— गांधी दर्शन में साधन को साध्य से विशेष महत्ता दी गयी है। इसलिए साधन शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। गांधीजी के अनुसार साधन की पवित्रता ही साध्य को पवित्र बनाता है, क्योंकि जैसा साधन होगा वैसे ही साध्य की प्राप्ति होगी। आचार्य विनोबा का विचार है कि मैं अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चाहे जैसे साधन यदि मान्य समझे जाते हैं तो फिर किसका उद्देश्य ठीक है,

यह कौन तयकरेगा? हर एक को अपना उद्देश्य ठीक ही लगता है, लेकिन कितने ही अलग-अलग उद्देश्य क्यों न हों; उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा और असत्य का उपयोग तो करना ही नहीं है; क्योंकि साधन ही अंत में सब कुछ है। बापू ने साधन-साध्य का सम्बन्ध बीज और वृक्ष के सम्बन्ध जैसा बतलाया, जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा। अतएव साध्य के सही होने पर भी यदि साधन अनुचित हों तो वे साध्य को नष्ट कर देंगे या उसे अनुचित दिशा में मोड़ देंगे। साधन और साध्य में गहरा और अटूट सम्बन्ध है, वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।

4.3.9 कर्तव्यों का पालन— सर्वोदय में जिस आदर्श समाज-व्यवस्था की कल्पना की गयी है, उसकी स्थापना तभी संभव है, जब प्रत्येक नागरिक बिना किसी आदेश या दबाव के अपने कर्तव्यों का पालन स्वेच्छा से करेगा। गांधीजी के सर्वोदय विचार में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों का अधिक महत्त्व है। कर्तव्य का पालन करने से अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार विनोबा भी सदैव कर्तव्य पालन के महत्त्व पर ही बल देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका विचार था कि अगर केवल अधिकारों का आग्रह रखें और कर्तव्यों को नजर अंदाज कर दें तो चारों तरफ हिंसा का वातावरण उपस्थित हो जायेगा और अव्यवस्था फैल जायेगी। यदि अधिकारों के आग्रह के बजाय हरएक अपना कर्तव्य पालन करें तो मानव जाति में जल्द ही व्यवस्था का राज्य स्थापित हो जायेगा, जिससे सर्वोदय के उद्देश्यों को पूरा होने में भी आसानी होगी।

वास्तव में उपर्युक्त प्रमुख तत्त्वों के आधार पर ही विनोबा ने सर्वोदय के सफल होने की कल्पना की है। गांधीजी की कल्पना के 'रामराज्य' का आधार भी यही 'सर्वोदय' है और इन्हीं मानवोचित सिद्धान्तों के द्वारा वे 'रामराज्य' स्थापित करना चाहते थे। सत्य तो यह है कि सर्वोदय के सिद्धान्तों पर चलकर ही संसार एक बन सकता है। यह भी स्पष्ट है कि सर्वोदय तबतक सम्पन्न नहीं हो सकता, जबतक कि भय, लोभ, द्वेष आदि समाज विरोधी तत्त्वों के आधार पर चलने वाले राष्ट्र के स्थान पर ऐसे सहकारी समाज की स्थापना न की जाय, जिसमें कि सामाजिक इच्छा और सामाजिक सहकारिता की पूर्ति समाज सदाचारपूर्ण उपायों से बुद्धिपूर्वक करे। विनोबा और अन्य सर्वोदयी विचारकों ने अपने इच्छित 'सर्वोदय समाज' के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने उसमें उन सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण किया है, जिनके आधार पर समाज का पुनर्निर्माण किया जाता है।

4.4 सर्वोदय समाज

गांधी जी के स्वर्गवास के बाद गांधी मार्ग को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से सेवाग्राम में मार्च 1948 में देश के सभी रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा गांधी विचार प्रेमियों का एक सम्मेलन गांधी सेवा संघ की ओर से हुआ, जिसमें सरकार में सम्मिलित नेता तथा मंत्रीगण भी उपस्थित हुए। इसी सम्मेलन में गहरे विचार मंथन के बाद "सर्वोदय समाज" और "सर्व सेवा संघ" की स्थापना हुई।

सर्वोदय समाज एक व्यापक संस्था है। इसकी सदस्यता के लिए कोई कठोर शर्त नहीं रखी गयी और न इसकी सदस्यता सम्बन्धी लम्बी-चौड़ी फेहरिस्त की आशा की गयी। सर्वोदय समाज की सदस्यता के बारे में विनोबा जी ने इसकी स्थापना सम्मेलन में कहा था, सर्वोदय समाज के सदस्य विचारों और भावनाओं में एक हों। किन उसूलों को मानते हैं, यह साफ हो। उसमें जो लोग दाखिल हों, उनसे किस तरह के बर्ताव की अपेक्षा है, इस बारे में कम-से-कम नियम हों। उन नियमों को मानने वाले जो भी हों, वे सब उसके सदस्य हैं, उनकी फेहरिस्त की भी जरूरत नहीं। क्योंकि अगर फेहरिस्त बने तो मुश्किल पैदा होती है। कोई कहे कि मैं इसमें आने के योग्य हूँ, तो उसकी योग्यता जांचने की बात आयेगी। फेहरिस्त के साथ दूसरों को 'जज' करने का, उनकी जांच पड़ताल करने का खतरा पैदा होता है। यह बात फिरका बंदी की तरफ ले जानी वाली है, जो समझते हैं कि हम इसके सदस्य हैं, वे सदस्य हैं। वे अपनी-अपनी जगह काम करते रहें। वैसे, 'सर्वोदय समाज' की सदस्यता के लिए एक सदस्यता सूची बनायी गई और इसे विनोबा ने भी स्वीकृति देते हुए कहा—“प्रस्ताव में यह बात लिखी है कि 'सर्वोदय-समाज' में सदस्यता के लिए एक सदस्यता सूची बनायी गई और इसे विनोबा ने भी स्वीकृति देते हुए कहा—“प्रस्ताव में यह बात लिखी है कि 'सर्वोदय-समाज' के विचारों को मानने वाले अपने-अपने नाम पोस्टकार्ड द्वारा भेज दें, ताकि उनकी फेहरिस्त रखी जा सके। मैं नहीं समझा हूँ, ऐसी फेहरिस्त का हम क्या करेंगे। फिर भी मैंने अनुमति दे दी, क्योंकि मैंने देखा कि उससे हमारे भाइयों को संतोष होता है, लेकिन इससे यह न समझा जाय कि सर्वोदय समाज के वे ही सेवक हैं, जिन्होंने अपने

नाम भेजे हैं। जिनके नाम दफ्तर में दर्ज नहीं हैं, लेकिन जो इसी काम को कर रहे हैं, वे भी इस समाज के सेवक हैं। प्रतिवर्ष जो मेला लगेगा, उसमें जिनके नाम दफ्तर में हैं, वे ही आये ऐसा भी नहीं है। इस विचार में श्रद्धा रखने वाले सब कोई उस मेले में आ सकते हैं ... खुद को सेवक भी जो नहीं कहते लेकिन काम यही करते हैं, वे भी सर्वोदय समाज के सेवक हैं। ऐसा व्यापक हमारा सर्वोदय समाज है।” विनोबा के उक्त दोनों उक्तियों से यह स्पष्ट है कि सर्वोदय समाज की सदस्यता के लिए यानी सर्वोदय समाज का सेवक कहलाने या बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सर्वोदय समाज की सदस्यता सूची में उसका नाम अंकित हो। हाँ, सर्वोदय समाज के सेवक के लिए इतना तो आवश्यक है ही कि उसका काम सर्वोदय समाज के सिद्धांतों के अनुकूल हो। मोटे रूप में नियमानुसार ‘सर्वोदय-समाज’ की सदस्यता के लिए शर्त रखी गयी कि जो व्यक्ति सत्य-अहिंसा में भरोसा रखता हो, खादी पहनता हो, छूआ-छूत, जात-पात न मानता हो, शराब न पीता हो और सारे धर्मों को समान मानता हो, वह सर्वोदय समाज का सदस्य होगा।

4.4.1 सर्वोदय समाज के कार्य एवं उद्देश्य

सर्वोदय समाज की स्थापना संगोष्ठी में दादा धर्माधिकारी द्वारा सुझाये गये सर्वोदय समाज के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये गये—

- साम्प्रदायिक एकता या अलग-अलग मजहबों को मानने वालों में मेल कायम करना।
- अस्पृश्यता निवारण
- जाति-भेद निराकरण
- नशाबंदी
- खादी और दूसरे ग्रामोद्योग
- गांव की सफाई
- नई तालीम
- स्त्रियों को पुरुषों के बराबर हक दिलाना
- आरोग्य और स्वच्छता
- प्रांतीय भाषाओं की तरक्की तथा प्रांतीय संकीर्णता का निराकरण
- हिन्दुस्तानी का राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रचार
- आर्थिक समानता
- खेती की तरक्की
- मजदूर-संगठन
- आदिमजाति सेवा
- विद्यार्थी संगठन
- कुष्ठ रोगियों की सेवा
- संगठन निवारण और दुःखियों की सेवा
- गो-सेवा
- इसी तरह के दूसरे काम।

सर्वोदय समाज के इस व्यापक संस्थान का उद्देश्य है सत्य और अहिंसा के आधार पर एक ऐसे आदर्श समाज की रचना करना, जिसमें जात-पात, धर्म या ऊंच-नीच का बिल्कुल भेद-भाव न होगा, शोषण की थोड़ी सी भी गुंजाइश नहीं होगी। सबके साथ न्याय और समता का व्यवहार होगा और जिसमें व्यक्ति और संस्थाओं के विकास के लिए पूरा-पूरा अवसर उपलब्ध रहेगा। इस समाज का नाम ‘सर्वोदय समाज’ होगा, जिसे दूसरे शब्दों में विनोबा ‘अहिंसक समाज’ भी कहते हैं। गांधीवादी विचारक कहते हैं—“सर्वोदय-समाज शोषण रहित, शासन निरपेक्ष स्वावलम्बी सहकारी समाज होगा।” सर्वोदय

समाज का लक्ष्य बतलाते हुए आचार्य विनोबा कहते हैं—“हमें सारा समाज ही बदलना है और वह अहिंसक क्रांति के द्वारा ही बदलना है ...।”

सर्वोदय विचारक आचार्य विनोबा ने तो बहुत उच्च और वृहद् आशा लगा रखी थी। वे सर्वोदय का लक्ष्य ‘मैं’ का त्याग कर ‘जय-जगत’ तक पहुंचने का रखते हैं। उनके विचार का सार यह है कि सर्वोदय की सार्थकता इसी में है कि हम अपने अहं का, अभिमान का, ‘मैं’ होने के बोध का त्याग कर मानव सेवा में लग जाये, विश्व सेवा में तल्लीन हो जायें, बस सर्वोदय समाज की प्राप्ति हमें हो जायेगी। मानव-मानव एक होकर प्रेम की सरिता पृथ्वी पर बहा देना ही सर्वोदय का व्यापक लक्ष्य है। विनोबा अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहते हैं—‘सर्वोदय से किसी प्रकार भी हल्की चीज हिन्दुस्तान को बरदाश्त नहीं होगी।’ और इसकी प्राप्ति का मार्ग बतलाते हुए कहते हैं—अनेक प्रकार की जो तुच्छ उपाधियां चित्त से लगी हुई हैं, उन सबको दूर करके अपना परिशुद्ध स्वरूप पहचानना ही आज प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होना चाहिए। मैं ‘व्यापक आत्मा’ हूं—इस तरह की अनुभूति नित्य निरंतर चित्त में रखने से हम सर्वोदय के आदर्श तक पहुंच सकने में सफल हो सकते हैं। विश्व मानव का विचार करते हुए विनोबा कहते हैं—“भगवान ने हिन्दुस्तान को एक संकुचित राष्ट्र नहीं बनाया है, बल्कि एक खंडप्राय या राष्ट्र समूहप्राय महान देश बनाया है। ऐसे देश के लोगों के छोटे-छोटे अहंकार रखना कभी लाभप्रद नहीं होगा। मैं मराठी, मैं बंगाली, मैं गुजराती, इस तरह की जो भावना होगी, तारक नहीं होगी। मैं हिन्दू, मैं मुसलमान, मैं क्रिस्ती इस तरह की भावना ऐक्य पैदा करने वाली नहीं, बल्कि विरोध पैदा करने वाली होगी। विनोबा सभी तरह के अभिमान को त्यागने का निर्देश देते हैं—जाति का, भाषा का और पंथ का अभिमान त्यागना सर्वोदय समाज के हित के लिए अनिवार्य है। क्योंकि ऐसा अभिमान रखकर हम हिन्दुस्तान का हित नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, बल्कि मैं भारतीय हूं, यह अभिमान भी भारत के लिए कल्याणकारी नहीं होगा।” विनोबा कहते हैं देश पर, प्रांत पर, भाव और धर्म पर प्रेम रहे यह अच्छा है, लेकिन अभिमान न रहे। क्योंकि भारतीयत्व का भी अगर अभिमान रखेंगे तो वह दुनिया के आज के प्रवाह के खिलाफ होगा और दुनिया में विसंवाद यानी विसंगतियां होंगी। ऐसी स्थिति में न तो हिन्दुस्तान का कल्याण होगा और न दुनिया का ही कल्याण होगा। विनोबा कहते हैं हिन्दुस्तान से तो दुनिया यही अपेक्षा रखती है कि सारी दुनिया में जब विरोध निर्माण होगा तब उसमें से समन्वय पैदा करने का काम हिन्दुस्तान करे।

विनोबा का जो उद्देश्य था सर्वोदय समाज के द्वारा मनुष्य में त्याग द्वारा सेवा का वह इस प्रकार कि सेवा करने वाले सेवक के मन में यह भावना होनी चाहिए कि मैं सर्व-सेवक हूं, सारे विश्व का सेवक हूं, मैं प्रभु का दास, प्रभु का सेवक हूं—इसी भूमिका से सारी सेवा होनी चाहिए। ऐसी निष्ठा सर्वोदय समाज की है।

4.4.2 सर्वोदय समाज व्यवस्था का स्वरूप

सर्वोदय समाज सत्य और अहिंसा पर आधारित होगा, जहां गरीब-अमीर, ऊंच-नीच, जात-पांत, छूआ-छूत ऐसे भेद-भाव का कोई स्थान नहीं रहेगा। सर्वोदय समाज शोषणहीन और भेदभावहीन अर्थात् वह एकरस समाज होगा जो भूमि के आधार पर खड़ा होगा। सर्वोदयी समाज पर गांधी जी ने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा था—“नये दृष्टिकोण के अनुसार हमें न केवल जो मिल सके, उसे पाने का विचार छोड़ देंगे; बल्कि जो सबको मिल सके, उसे लेने से इंकार कर देंगे। मेरा विचार है कि अर्थशास्त्र की भाषा में हमारे लिए लोगों से सफलतापूर्वक अपील करना कठिन नहीं होना चाहिए और यह प्रयोग अच्छी तरह सफल हो जाय तो इससे बहुत बड़े अज्ञात आध्यात्मिक परिणाम निकलेंगे।

सर्वोदय समाज में सम्पत्तिवानों का यह कर्तव्य होगा कि वह अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग अपने बाल-बच्चों के सुख-समृद्धि की अपेक्षा उन लोगों के लिए पहले करेंगे, जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं के अभाव में अपना जीवन बड़े कष्ट से व्यतीत कर रहे हैं। अर्थात् एक भूखे नंगे व्यक्ति की जरूरतों को पहले पूरा किया जायेगा। सर्वोदय समाज की “समानता” का विश्लेषण करते हुए गांधी ने कहा था—“समानता का यह मतलब नहीं है कि हर एक के पास पांच एकड़ भूमि होनी चाहिए और एक ही तरह के मकान और उतने ही गज कपड़ा होना चाहिए। हम यही सोचते हैं कि हवा, पानी और जमीन जैसी चीजें, जो जीवन के लिए आवश्यक है, सबको समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। जब ये चीजें

सबको पर्याप्त मात्रा में मिल जाती हैं तो बाकी बची हुई चीजों को कोई ज्यादा ले लेता है, तो भी दूसरों को ईर्ष्या नहीं होगी।”

सर्वोदयी समाज में राज्य-व्यवस्था की संरचना ग्रामीण स्तर से प्रारंभ होगी। ग्राम स्तर पर सम्पूर्ण जनता की सभा आरंभिक जन-समुदाय के रूप में होगी, जो गांव के प्रशासनिक कार्यों के हेतु पंचायत का निर्वाचन करेगी। इसके ऊपर राज्य संरचना उच्च क्रम से निर्मित होगी। गांव की पंचायतें क्षेत्रीय जनसमूहों के रूप में संगठित की जायेंगी। इन क्षेत्रीय जनसमूहों की कार्यपालिका पंचायत समिति कहलायेगी। इसके उपरान्त इसी क्रम से जिला, प्रांत तथा राष्ट्रीय स्तरों की सभाएं होंगी। जिला स्तर तक की संस्थाओं के प्रतिनिधि अप्रत्यक्ष रूप से चुने जायेंगे तथा प्रांतीय सभाओं के प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से, परंतु प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में सुधार किया जायेगा। जिला स्तर तक संस्थाएं अपने कार्यकारी कर्तव्यों का संपादन समितियों द्वारा या व्यक्तिगत पदाधिकारियों को उत्तरदायित्व सौंपकर करेंगी। प्रांतीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर मंत्रीमंडलीय या मंत्रियों को नियुक्त करने की प्रथा नहीं रहेगी। विभिन्न प्रकार के विषयों के शासन तथा प्रशासन के लिए सभा के सदस्यों की विभिन्न समितियां निर्मित की जायेंगी, जिसके अधीन सिविल सेवा के कर्मचारी रहेंगे। इन समितियों को पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त होगी। विधि निर्माण का कार्य प्रत्येक स्तर पर सम्पूर्ण सभा करेगी। विभिन्न समितियों के कार्यों के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए एक समन्वय समिति रहेगी, जिसमें प्रत्येक समिति का एक सदस्य प्रतिनिधि के रूप में रहेगा। विभिन्न स्तरों की शासनिक संस्थाओं को अपने क्षेत्र में सम्बद्ध शासन सम्बन्धी कार्यों का दायित्व विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के आधार पर दिया जायेगा सभी संस्थाएं अपने आप में पूर्ण स्वायत्त रहेंगी, हाँ सबों में आपसी सहयोग रहेगा और आवश्यकतानुसार ऊपरी संस्थाओं को नीचे की संस्थाओं का निरीक्षण करने का अधिकार प्राप्त रहेगा, वह भी बहुत मर्यादित। सर्वोदय समाज की इस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के उद्देश्य यह छिपा हुआ है कि शासन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो, नौकरशाही तंत्र का लेशमात्र भी अस्तित्व नहीं हो, दलगत राजनीति तथा बहुमत की स्वेच्छाचारिता का भी तिरोहन हो। साथ ही जनता को अपने उपकरण पर समाज के कल्याण हेतु नीति निर्धारण करने तथा उनके अनुसार शासन-व्यवस्था के संचालन का अवसर मिलेगा और यही सच्चा लोकतंत्र और सच्चा स्वराज्य होगा।

सर्वोदय समाज की न्याय व्यवस्था के लिए उच्च न्यायालय या फिर सर्वोच्च न्यायालय जैसे कोई वृहद् संस्था की कल्पना नहीं की गयी है। न्याय शाखा के रूप में ग्राम स्तर पर ग्राम कचहरी की ही व्यवस्था का सर्वोदयी विचारक न्याय के अन्य शाखाओं के बारे में मौन है। लगता है सर्वोदय समाज का मुख्य न्यायपालिका अंग ग्राम कचहरी ही है। इसलिए भी सर्वोदय समाज में न्यायिक उच्च संस्थाओं पर बल नहीं दिया गया है कि सर्वोदय समाज चूंकि अहिंसक समाज होगा इसलिए यों भी न्यायिक संस्थाओं की आवश्यकता बहुत कम रहेगी। सर्वोदय विचारक सहित अन्य समाजशास्त्री भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि अपराध अधिकतर सामाजिक दुर्व्यवस्था के कारण होते हैं और अपराधी के आचरण में सुधार लाना ही दण्ड का उद्देश्य होना चाहिए। अतएव जब सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में वांछित परिवर्तन कर दिये जायें तो अपराध स्वमेव कम हो जायेंगे और तब न्यायालयों की आवश्यकता भी स्वभावतः कम रह जायेगी। सर्वोदय समाज व्यवस्थापक न्याय प्रशासन तथा संगठन में तदनुसार परिवर्तन तथा सुधार लाना चाहते हैं।

सर्वोदय समाज की विदेश नीति अहिंसा तथा मानवतावादी विचारों पर आधारित है। सर्वोदय विचारक देश की सीमा रक्षा के लिए सशस्त्र सैनिकों के स्थान पर अहिंसक शांतिसेना रखने का निर्णय लेते हैं। उनका विचार है कि आज आवश्यक रूप से सभी राष्ट्र राष्ट्र की आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा राष्ट्र की सुरक्षा के नाम पर अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में खर्च कर रहा है। एक ओर तो विश्व की जनसंख्या का विशाल हिस्सा भूख, बीमारी और विभिन्न प्रकार के शोषणों का शिकार होकर मृत्यु के मुंह में जा रहे हैं और दूसरी ओर सालाना अरबों रुपये मानव जाति का विनाश करने के लिए पानी की तरह बहाए जा रहे हैं। सर्वोदय के उदारवादी सिद्धान्तों के तहत विदेश नीति तो उदारवाद है ही साथ ही प्रांत और देश की सीमा को लांघकर “विश्व सरकार” की कल्पना करता है। सर्वोदयी राष्ट्रवादी तो हैं; पर उग्र राष्ट्रवादी नहीं हैं। ये संकीर्ण तथा आक्रामक राष्ट्रवाद के विरोधी हैं; इसलिए उनका अंतर्राष्ट्रीयतावाद मानवतावादी है। आचार्य विनोबा मानते हैं कि “जय-हिन्द” का नारा “जय जगत” का विरोधी नहीं है। इसलिए हम में विश्व मानव की भावना आनी चाहिए। वे “विश्व-सरकार” तथा “विश्व

राज्य” को आवश्यक ही नहीं मानते, बल्कि कहते हैं कि विश्व सरकार की कल्पना एक न एक दिन जरूर मूर्त रूप लेगी।

कुछ लोग “सर्वोदय समाज” को आदर्श मानते हैं तथा अहिंसा की पद्धति पर शंका व्यक्त करते हैं। विनोबा स्वयं कहते हैं कि “लोग मुझे पूछते हैं कि दुनिया में हिंसा की हवा बह रही है, हिन्दुस्तान उससे कैसे बचेगा? मैं उनसे कहता हूँ, हिन्दुस्तान में हम अहिंसा की हवा निर्माण करेंगे, दुनिया उसमें से कैसे बचेगी? दुनिया का मुझ पर असर होता है, ऐसा कहने वाले से मैं कहता हूँ अरे बुद्ध दुनिया का अगर मुझपर असर होता है, तो मेरा भी दुनिया पर असर होता है, इतनी बात भी तू नहीं समझता है?” विनोबा अहिंसक शक्ति पर विश्वास प्रकट करते हुए कहते हैं—“इस दुनिया में सत्त्वगुण की जो ताकत है, वह रजोगुण में या तमोगुण में हो ही नहीं सकती। अतः जिसका बल सत्त्वाधिष्ठित है, उसी का प्रभाव सारी दुनिया पर होने वाला है।” इसलिए सर्वोदय समाज अगर भारत में फलित हो जाता है, तो निश्चय ही वह सारी दुनिया को प्रभावित करेगा और उसके लिए अनुकरणीय भी साबित होगा। विनोबा जो तरीका या कला सर्वोदय समाज की स्थापना के लिए बतलाते हैं वह पूर्णतः व्यावहारिक लगता है। वे कहते हैं—“सर्वोदय समाज की स्थापना करनी हो तो हमें द्वेष त्यागना चाहिए, दुश्मनों से दोस्ती का हाथ बढ़ाना चाहिए।” इस तरह सर्वोदय समाज का काम व्यक्तिगत तौर पर शुरू हो जाता है। फिर आहिंसे-आहिंसे दो-चार मित्र तैयार हो जाते हैं और धीरे-धीरे गांव हो जाता है। फिर दो-चार गांव मिलकर काम कर सकते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे सारा विश्व और सारा ब्रह्माण्ड भी संगठित हो सकता है। यह संगठन नीचे, भीतर से और स्वाभाविक रूप से हुआ समझा जावेगा।

विनोबा जी ने सर्वोदय समाज के निर्माण के लिए व्यक्ति को उसकी शुरुआत स्वयं से करने की सलाह दी। ऐसी मान्यता अन्य गांधीवादी विचारकों की भी है। “सर्वोदय समाज” की स्थापना के दिन यानी 11-15 मार्च, 1948 के सेवाग्राम सम्मेलन में प्रख्यात गांधीवादी विचारक तथा अर्थशास्त्री जे.सी. कुमारप्पा ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था—“हम यदि अपना रोज का जीवन दूसरी तरह से ढाल देंगे तो सारा नक्शा बदल जायेगा। ... अहिंसा की बुनियाद पर पुनः नये सिरे से संगठन करना चाहिए। हमारा दैनिक जीवन यानी हमारा खाना-पीना, कपड़ा और मकान आदि तमाम बातों का संयोग उस धरातल पर से होना चाहिए।” ... कुमारप्पा जी ने तो यह भी कहा—“सरकारी सेना में हम जिस हिंसा की परछाई देखते हैं वह हिंसा हम ही पैदा करते हैं। हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में जो हिंसा पैदा होती है, उसी की परछाई हम अपनी सेनाओं में देखते हैं। यूरोपीय युद्ध, अमेरिकी युद्ध, सरकारी फौजें, पाकिस्तान का आविर्भाव—ये सब आखिर हमारी रोजमर्रा की जिंदगी के नतीजे हैं।” बहुत ही सटीक बात कुमारप्पा ने कही है। सचमुच अगर हमारा व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन अहिंसक होगा, प्रेममय होगा, द्वेष रहित होगा तो दुनिया में युद्ध हो नहीं सकते, हिंसा हो नहीं सकती। इसलिए हमें यह गंभीरता से विचार करना चाहिए कि हमारी जीवन जीने की पद्धति कैसी हो? जिससे हमारा व्यक्तिगत जीवन तो प्रेममय हो ही, साथ ही सामाजिक जीवन भी प्रेमपूर्ण हो, भरापूरा हो, आनन्दमय हो। प्रेममय सामाजिक जीवन स्वभावतः सर्वोदय समाज की स्थापना कर देगा। जे.सी. कुमारप्पा के विचारों का समर्थन करते हुए शंकर राव देव ने भी कहा था—“अगर सरकार में कोई दोष है तो वह, जैसा कि कुमारप्पा जी ने कहा हमारी कमजोरी का प्रतिबिम्ब है। जबतक हम अपने जीवन का नक्शा नहीं बदलते तबतक सरकार से पुलिस और फौज हटाने को नहीं कह सकते, हिंसा और अहिंसा कोई भाववाचक चीजें नहीं हैं। वे तो सामाजिक रचना के परिणाम हैं। अहिंसक समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध ही ऐसे होंगे कि पुलिस और फौज की कोई जरूरत नहीं होगी।” शंकर राव देव जी ने कहा—“गांधी जी ने तो व्यक्तियों का जीवन अहिंसक बनाकर उसका व्यावहारिक नमूना हमारे सामने रख दिया जीवन में हिंसा पैदा इसलिए होती है कि हम असंयमी और भोगी हैं।” सचमुच यदि हम दूसरों के हक पर जीवन व्यतीत करने की आदत छोड़ दें तो हिंसा स्वतः खत्म हो जायेगी।

सर्वोदय समाज को व्यवहारिक बतलाते हुए तथा उसकी स्थापना के सम्बन्ध में काका कालेलकर ने कहा था—“आगे जो समाज होगा उसकी रचना नये तरीके से करनी होगी, जिसमें भेद-भाव को महत्त्व नहीं दिया जायेगा। जातिभेद तोड़ना ही होगा। लोगों में सामाजिकता, राष्ट्रीयता, औद्योगिकता और सर्वोदय वृत्ति का पोषण पूरे वेग से करना होगा। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा का प्रचार गांवों में इतनी मात्रा में होना चाहिए कि उच्च शिक्षा के लिए भी गांव वालों को शहरों की ओर न दौड़ना पड़े। उत्तम रास्ते, उत्तम स्वच्छता, आरोग्य के लिए सब तरह की शिक्षा व सहायता गांवों को

मिलेगी। शहरों के दोष एवं दुर्गुण गांवों में न फैले, ऐसी व्यवस्था की जायेगी। इसके लिए दुर्गुणों से शहरों को ही मुक्त करना होगा। गांव का विकास इस तरह होगा कि शहर और गांव का भेद ही न रहेगा। नेता लोग सारे देश में सेवा-भाव से घूमते रहेंगे। ग्रामोद्योग का आधुनिक ढंग से विकास होगा और सच्चे स्वराज्य का आध्यात्मिक वायुमंडल सर्वोदय के द्वारा समस्त प्रजा में फैल जायेगा, तब ग्राम युग की स्थापना होगी। इसके लिए आज बड़े-बड़े शहरों को यथा समय आत्मबलिदान करना होगा और तब जाकर अहिंसक समाज की स्थापना सारी दुनिया में होगी। इसमें यंत्रोद्योगों का विरोध नहीं, नाश नहीं, परंतु नियंत्रण करना पड़ेगा, ताकि यंत्र ही मनुष्य जीवन पर सवार न हो जाय। ऐसा समाज वही सर्वोदय समाज होगा जो गांधी का सपना था।

स्पष्ट है कि सर्वोदय दर्शन मनुष्य की विभिन्न समस्याओं का नैतिक एवं शांतिपूर्ण ढंग से समाधान कर एक ऐसे समाज की स्थापना का लक्ष्य रखता है तथा उसके लिए प्रयास करता है, जिसमें किसी व्यक्ति या वर्ग की उन्नति न होकर सभी की, पूरे समाज की उन्नति हो तथा जिसमें सभी मिलजुलकर रहें एवं आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक शोषण की चिंता से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास कर सकें। स्वयं आचार्य विनोबा ने कहा है—“मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आज दुनिया को या तो सर्वोदय कबूल करना है या सर्वनाश। इन दो के सिवाय तीसरा रास्ता नहीं है। वैसे सर्वोदय का रूप अलग-अलग देश और समाज में परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग होगा, परंतु इतना तय है कि दुनिया का अब सर्वोदय के बगैर कोई चारा नहीं है। घर में, समाज में, राष्ट्र में, तथा विश्व में नित्य कलह, अशांति, संघर्ष के अवसर उपस्थित होते हैं। बड़े-बड़े युद्ध और अणुबम जैसे भयंकर भयानक आविष्कार इसी कलह और संघर्ष के परिणाम हैं, जो मानव सभ्यता को नाश करने में तुले हुए हैं। इन सबों से बचकर मानव सभ्यता की रक्षा हेतु “सर्वोदय” से उत्तम कोई मार्ग नहीं।”

4.4.3 सर्वोदय का भविष्य

इथेल मैनिन ने अपनी पुस्तक “गांधीजी के एक सौ वर्ष” में यह विचार व्यक्त किया है कि “वर्तमान समय में सत्ताधीशों द्वारा गांधी विचार को उपेक्षित किए जाने का तथा उससे दूर भागने का अर्थ यह है कि इन लोगों ने गांधी और सर्वोदय के खतरे को पहचाना है और सचमुच इसकी संभावनाएं एवं इसके तेज से वे सबसे अधिक सशंकित हैं।” प्रख्यात गांधीवादी विचारक डॉ. रामजी सिंह भी मैनिन महोदय के विचारों का समर्थन करते हुए कहते हैं—“ज्यों-ज्यों अहिंसा का विश्वीकरण हो रहा है, अहिंसात्मक प्रतिकार का उपयोग बढ़ रहा है और विश्व नागरिकता तथा विश्वधर्म एवं विश्व राज्य की बातें बढ़ रही हैं; त्यों-त्यों सर्वोदय का भविष्य उज्ज्वल से उज्ज्वलतर दिखाई पड़ रहा है।” इसका मतलब यह हुआ कि वर्तमान शासनतंत्र सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था से जितनी घृणा एवं बेचैनी अनुभव करेगा और इससे दूर भागने की चेष्टा करेगा, उतना ही सर्वोदय सिद्धांत के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास बढ़ेगा और लोग सर्वोदय के करीब आयेंगे। मनुष्य की यही प्रकृति सर्वोदय के भविष्य का मानदण्ड होगी। मानव समाज वर्तमान व्यवस्था से किस हदतक ऊब चुका है, उसमें अविश्वास पैदा हो चुका है, जिससे थककर वह किसी नई व्यवस्था की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है या नई व्यवस्था की ओर कदम बढ़ा भी चुका है। मानव की इसी प्रवृत्ति तथा वर्तमान व्यवस्था के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि सर्वोदय का भविष्य क्या है? अंधकारपूर्ण है या उज्ज्वल है।

4.4.3.1 व्यक्ति के संदर्भ में

समाज की उन्नति पर्याप्त सीमातक व्यक्ति की उत्कृष्टता एवं महानता पर निर्भर है। इसका अभिप्राय यह है कि मानव जाति की उन्नति के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति का चारित्रिक उत्थान अनिवार्य है। गांधीजी ने समाज के कल्याण के लिए सर्वोदय की स्थापना का विचार व्यक्त किया और सर्वोदय समाज की स्थापना हेतु व्यक्ति की आत्मशुद्धि को विशेष महत्त्व देकर सर्वोदय समाज के व्यक्ति के लिए सत्याग्रही होने का तथा अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, स्वदेशी जैसे नियमों का पालन करना आवश्यक बतलाया। कुछ विचारकों का मत है कि व्यक्ति और समाज की उन्नति राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में उचित परिवर्तन और सुधार करने से ही हो सकती है। इन दोनों मान्यताओं से यह सिद्ध होता है कि सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में उचित परिवर्तन एवं सुधार करने के साथ-साथ व्यक्ति में प्रेम, परोपकार, सेवा, त्याग, सहानुभूति, सहयोग, पारस्परिक विश्वास आदि सद्गुणों का विकास करना भी बहुत आवश्यक है। इस दृष्टि से सर्वोदय का विचार आज के संदर्भ में उचित प्रतीत होता है कि

सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक सुधारों के साथ-साथ व्यक्ति की आंतरिक शुद्धि तथा चारित्रिक प्रगति आवश्यक है। आज व्यक्ति की आंतरिक अशुद्धि के कारण ही चारित्रिक पतन हो गया है, जिससे समाज दूषित हो गया है। व्यक्ति में विषय भोग अत्यधिक बढ़ गया है। इस भोगवादी पश्चिमी सभ्यता ने मनुष्य को असत्यवादी, हिंसक, चोर, लोभी, आलसी, डरपोक और निकम्मा बना दिया है। फलतः व्यक्ति मकड़े की तरह अपने ही बुने जाल में इस प्रकार उलझ गया है कि निकलना चाहकर भी नहीं निकल पाता है। इसलिए आवश्यकता है, सर्वोदय की उन मान्यताओं की, जिन्हें गांधीजी ने मनुष्य के सत्य के अधिकाधिक करीब पहुंचने के लिए प्रतिपादित किया है। उदाहरण स्वरूप सर्वोदय के अंतर्गत सत्य और अहिंसा द्वारा मनुष्य में ईमानदारी, सेवा, परोपकार, मैत्री, भ्रातृत्व और उत्तम गुणों का विकास हो सकता है। अस्तेय एवं अपरिग्रह के फलस्वरूप व्यक्ति में त्याग की भावना जाग्रत होती है और उसकी धन-लालसा तथा निरंतर बढ़ती हुई आवश्यकताएं एवं उसका लोभ सीमित और समाप्त होता है। इसी प्रकार सर्वधर्म समभाव एवं स्वदेशी का पालन करने से मानव में सहिष्णुता, उदारता, देश भक्ति आदि उत्कृष्ट गुणों की वृद्धि हो सकती है, जो व्यक्ति का आत्म परिष्कार और आत्म विस्तार भी करते हैं। प्रायः लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि बिना मनुष्य के सुधरे किसी भी व्यवस्था में सुधार नहीं होगा। इसलिए वर्तमान समय में यह एक समस्या खड़ी हो गई है कि व्यक्ति का सुधार कैसे किया जाय, जिससे घूसखोरी, चोरी, डकैती आदि से आप लोगों को छुटकारा मिले। इस संदर्भ में सर्वोदय विचार के अंतर्गत गांधीजी की उक्त नैतिक मान्यताएं अधिक उपादेय दिखलाई पड़ती हैं। यह उपादेयता सर्वोदय के लिए शुभ लक्षण है।

4.4.3.2 समाज के संदर्भ में

सर्वोदय विचार का महत्त्व केवल व्यक्ति के कल्याण तथा उत्थान तक ही सीमित नहीं है। यह तो उसका प्रथम सोपान है। वास्तव में यह व्यक्ति की आंतरिक शुद्धि एवं चारित्रिक उन्नति में विशेष योगदान करके अंततः सम्पूर्ण मानव समाज का कल्याण करता है, क्योंकि व्यक्तियों के संगठन से ही समाज का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप से भी सर्वोदय विचार लगभग सभी सामाजिक संस्थाओं पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं और सभी मनुष्य उनके अनुसार आचरण करें तो इन समस्याओं का संभवतः समाधान भी संभव हो सकता है। सर्वोदय विचार के अंतर्गत अहिंसक समाज की रचना की जाती है, जिसे सर्वोदय समाज कहते हैं। सर्वोदय समाज चूंकि अहिंसक समाज है, इसलिए इस समाज के सदस्य क्रोध, घृणा, स्वार्थपरता, विद्वेष आदि दुर्भावनाओं पर नियंत्रण रखते हुए यथासंभव अहिंसा का पालन कर अनेक प्रकार के पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्षों को दूर करते हैं, जिससे वे अधिक शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यही, नहीं सर्वोदय समाज की स्थापना से मनुष्यों में पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, विश्वास आदि सदगुणों की वृद्धि एवं उत्पत्ति होती है, जिनके अभाव के फलस्वरूप आज भारत ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व अशांति और कलह से त्रस्त है। सर्वोदय समाज की मान्यताओं के अनुकूल समाज का प्रत्येक सदस्य निरंतर बढ़ती हुई धनलिप्सा तथा भौतिक आवश्यकताओं को सीमित कर जीवन व्यतीत करे, तो आज समाज में व्याप्त शोषण, अत्याचार, अन्याय, छीना-झपटी, विनाशकारी प्रतियोगिताएं तिरोहित हो जायंगी।

सर्वोदय समाज का उत्कृष्ट विचार अस्पृश्यता निवारण, जातिप्रथा के उन्मूलन एवं जाति प्रथा और छूआछूत से जलते हुए समाज को बचाने में पूर्णतः सक्षम है। अब तो देश के भाग्य विधाता ही जाति-प्रथा और छूआछूत के आधार पर मानव समाज को खंडित करने का घृणित तरीका अपनाने लगे हैं। धर्म के नाम पर भी मानव-मानव के बीच विद्वेष फैलाकर अपनी कुर्सी सुरक्षित रखते हैं। सर्वधर्म समभाव इस विद्वेष को समाप्त करने में सक्षम है। आम जनता सचमुच इस घृणा और द्वेष से राहत चाहती है और यह राहत उन्हें सर्वोदय विचार ही दे सकता है। भारत तथा विश्व में भी अनेकों बार ऐसे विद्वेष को अहिंसात्मक प्रक्रिया द्वारा समाप्त किया गया है और किया जा रहा है।

आज की शिक्षा व्यवस्था भी सभी प्रकार की हिंसा की जड़ है। शिक्षा जीवन के लिए न होकर वह मात्र अक्षर ज्ञान तक सीमित रह गई है। आज की शिक्षा न तो मानव का नैतिक या आध्यात्मिक परिष्कार करती है और न ही उसकी जीवनोपयोगी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धनोपार्जन का ही साधन बन पा रही है। आज रोजगारोन्मुख शिक्षा की खोज जारी है; साथ ही व्यक्तित्व निर्माण की

भी तलाश है। इस तलाश की पूर्ति सर्वोदय विचार के अंतर्गत निहित शिक्षा विचार—बुनियादी शिक्षा करती है। सर्वोदय विचार के प्रति लोगों की इस प्यास से सर्वोदय का भविष्य शुभ दिखलाई पड़ता है।

भारत ही नहीं; बल्कि दुनिया के अन्य देशों के अर्थवेत्ता भी नई-नई आर्थिक नीतियों का प्रयोग कर बारम्बार असफल होते जा रहे हैं। उनकी कोई भी अर्थनीति मानव समुदाय को पर्याप्त सुख और शांति उपलब्ध नहीं करा सकी है। मानव समुदाय का जहां कुछ हिस्सा भौतिक रूप से सम्पन्न, किन्तु मानसिक रूप से निर्धन यानी अशांत दिखलाई पड़ता है, वहां बहुत बड़ा भाग अभी भी अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा है। अमरीका जैसे देश की साम्राज्यवादी भूख बढ़ती जा रही है। इन सभी समस्याओं का निदान सर्वोदय अर्थनीति में है, ट्रस्टीशिप में है। मानव की खोज भी इसी की प्राप्ति करना है।

4.4.3.3 अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में

व्यक्ति की उन्नति तथा समाज के सर्वांगीण विकास और कल्याण के अतिरिक्त आधुनिक युग में सम्पूर्ण मानवता एवं अंतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी सर्वोदय विचार का विशेष महत्त्व है। आज संचार एवं यातायात के द्रुतगामी वैज्ञानिक साधनों के फलस्वरूप विभिन्न देशों में समय और स्थान की दूरी बहुत कम हो गई है और सभी राष्ट्र एक-दूसरे के इतने निकट आ गए हैं कि एक राष्ट्र में होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं तथा कार्यों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अन्य राष्ट्रों पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः आज इस देश में जो कुछ होता है, संसार के अन्य देश उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित तथा परस्पराश्रित होने के कारण सभी राष्ट्र वर्तमान युग में बृहत विश्व परिवार के अभिन्न सदस्य बन चुके हैं। अतः आज कोई भी राष्ट्र चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अन्य राष्ट्रों से पूर्णतः पृथक् तथा उनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकता। समस्त राष्ट्रों की इस अन्योन्याश्रिता के फलस्वरूप जहां विश्व में अंतर्राष्ट्रीयता की व्यापक भावना का उदय तथा मानव जाति के ज्ञान का पर्याप्त विस्तार हुआ है, वहां उनके समक्ष अनेक जटिल प्रश्न भी उपस्थित हुए हैं, जिन्हें आधुनिक युग का मौलिक प्रश्न कहा जा सकता है। छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को न तो अपनी इच्छानुसार स्वतंत्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करने का समान अधिकार है, न ही विश्व को रंग-भेद, जाति-भेद, अन्याय, अत्याचार शोषण से ही छुटकारा मिला है। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की भूख भी बड़े तथा समृद्ध राष्ट्रों में प्रबल रूप से व्याप्त है। विज्ञान प्रदत्त महान शक्ति का उपयोग मनुष्य के कल्याण में कम और युद्ध में सहायक अधिकाधिक विनाशकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण एवं उसके रक्षण में किया जा रहा है। राष्ट्रों के अधिकाधिक धन का उपयोग भूखी जनता के पेट भरने के लिए नहीं; बल्कि शस्त्रास्त्रों के निर्माण में किया जाता है। सभी राष्ट्र एक-दूसरे से डरे हुए हैं। फिर भी इसका दूसरा पहलू यह है कि इन सारे कृत्यों से थककर विश्व मानवता सर्वोदय विचार की ओर बढ़ी है। रंग भेद, जाति भेद, साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों का दमन किया जा रहा है। अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट तथा उनके निर्माण को सीमित किया जा रहा है। शांति और सह-अस्तित्व में अधिकाधिक आस्था उत्पन्न हो रही है। अहिंसा यानी प्रेम, सद्भाव, शांति एवं सह-अस्तित्व मानव जाति विकास का साधन मात्र नहीं है; बल्कि इसी पर मानव का अस्तित्व भी निर्भर है। यही कारण है कि आज प्रत्येक विचारशील व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में सर्वोदय के उक्त सिद्धान्तों को आत्मसात करने पर विचार कर रहा है।

इन कारणों के अतिरिक्त व्यक्तियों एवं राष्ट्रों में पारस्परिक अविश्वास, भय, घृणा, ईर्ष्या, विद्वेष, प्रतिशोध आदि दुष्प्रवृत्तियां विश्व में होने वाले संघर्षों और युद्धों के संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण हैं। आज लगभग सभी राष्ट्र सिद्धान्ततः यह स्वीकार करते हैं कि मानव जाति के अस्तित्व एवं उत्थान के लिए विश्वशांति अनिवार्य है; क्योंकि तृतीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति का विनाश हो सकता है। वे यह भी मानते हैं कि युद्ध रोकने और विश्वशांति के लिए निःशस्त्रीकरण बहुत आवश्यक है। फिर भी आज विश्व में तनाव और संघर्ष कम नहीं हो रहा है; क्योंकि शक्तिशाली राष्ट्रों में पारस्परिक अविश्वास तथा भय के कारण इन युद्ध निरोधक विचारों एवं शांतिमय सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना लगभग असंभव हो गया है। इस घातक स्थिति से मुक्त होने का एकमात्र उचित उपाय यही है कि सभी राष्ट्र सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में यथासंभव सर्वोदय सिद्धान्त के आधार अहिंसा के अनुसार आचरण करें और एक-दूसरे पर पूर्ण विश्वास करते हुए अपने समस्त मतभेदों, झगड़ों तथा समस्याओं का समाधान करने के लिए केवल शांतिपूर्ण अहिंसात्मक उपायों का सहारा लें। अहिंसा पर आधारित सर्वोदय विचार के शांतिमय मार्ग से ही सभी राष्ट्रों में परस्पर प्रेम,

सहानुभूति तथा बन्धुत्व की वृद्धि हो सकती है, जिसके फलस्वरूप विश्व की अनेक जटिल समस्याएँ सफलतापूर्वक सुलझ सकती हैं। जबतक समस्त राष्ट्रों विशेषतः शक्तिशाली राष्ट्रों में एक-दूसरे के प्रति सौहार्द एवं सद्भाव उत्पन्न नहीं होता, तब तक विश्व में संघर्ष और युद्ध की संभावना का निराकरण असंभव है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि वर्तमान युग में सभी राष्ट्र सर्वोदय सिद्धान्तों के अनुसार कहाँ तक आचरण कर रहे हैं और भविष्य में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए इन्हें स्वीकार किए जाने की कहाँ तक संभावना है। इस प्रश्न के सटीक उत्तर के लिए आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों एवं समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। यह सत्य है कि आज अधिकतर राष्ट्रों के नेता सिद्धान्ततः युद्ध रोकने और विश्व शांति स्थापित करने के लिए सर्वोदय के शांतिपूर्ण मार्ग को बहुत महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक मानते हैं और कुछ सीमा तक अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उन्हें कार्यान्वित भी किया जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा, अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ, विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय आदि अन्य संस्थाएँ मूलतः शांति एवं अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित हैं और इनका मुख्य उद्देश्य दरिद्रता, रोग, बेकारी, जनसंख्या की वृद्धि, अशिक्षा आदि विश्व की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं तथा राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदों का शांतिपूर्ण उपायों द्वारा समाधान करना ही है। इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में विश्व का जनमत सामान्यतः अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा तथा शांति के पक्ष में है। अतः आज अधिकतर राजनीतिज्ञ और राष्ट्रों के नेता स्पष्टतः यह कहने का साहस नहीं करते कि वे अपनी किसी समस्या का समाधान बल प्रयोग द्वारा करना चाहते हैं। यही नहीं शक्तिशाली राष्ट्रों के नेता भी अब यह स्वीकार करते हैं कि निःशस्त्रीकरण तथा अन्य शांतिमय उपायों द्वारा विश्व में विद्यमान तनाव और संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करना उनका कर्तव्य है। ये सभी लक्षण सर्वोदय सिद्धान्त की विजय के तथा इसके उज्ज्वल भविष्य के द्योतक हैं।

परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वर्तमान काल में सभी राष्ट्र शांति तथा अहिंसा के पूर्ण अनुयायी बन चुके हैं और संसार में किसी प्रकार का तनाव एवं संघर्ष नहीं है। सत्य को यह है कि सिद्धान्ततः शांतिमय अहिंसात्मक मार्ग को उपयोगी और उचित मानते हुए भी आज अधिकतर राष्ट्र व्यावहारिक क्षेत्र में इसके अनुसार कार्य करने के लिए उद्यत प्रतीत नहीं होते। वे अपने स्वार्थों को मानव जाति के व्यापक हितों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं और अंतर्राष्ट्रीय तनाव, संघर्ष के निराकरण के लिए वास्तविक प्रयास नहीं करते। यही कारण है कि आज भी संसार में साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद नये रूप में विद्यमान है। शक्तिशाली राष्ट्र छोटे और दुर्बल राष्ट्रों का राजनैतिक एवं आर्थिक शोषण कर रहे हैं। रंग-भेद तथा जाति-भेद के आधार पर लाखों मनुष्यों के साथ घोर अन्याय और अमानवीय व्यवहार किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त आज भी शक्तिशाली राष्ट्रों के नेता अंतर्राष्ट्रीय तनाव तथा संघर्ष को समाप्त करने तथा विश्वशांति स्थापित करने के सम्बन्ध में प्रभावोत्पादक भाषण देने के साथ-साथ महाविनाशकारी शस्त्रास्त्रों का निरंतर अधिकाधिक निर्माण एवं संचय करते जा रहे हैं और इस प्रकार परमाणु शक्ति का विध्वंसात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग किया जा रहा है। पारस्परिक अविश्वास तथा भय के कारण सभी शक्तिशाली राष्ट्र युद्ध रोकने के नाम पर प्रतिरक्षात्मक सैनिक संधियों में संगठित हो चुके हैं; क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास है कि युद्ध रोकने के लिए सुरक्षात्मक उपाय करना अर्थात् सभी प्रकार की सेनाओं तथा विध्वंसक शस्त्रास्त्रों में अधिकाधिक वृद्धि करना अनिवार्य है।

उक्त अंध दौड़ के बावजूद यदि मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा और मानव जाति का अस्तित्व अभीष्ट है, तो वर्तमान युग में सभी राष्ट्रों को हिंसा और युद्ध के घातक मार्ग का परित्याग करके अहिंसा एवं शांति का पावन मार्ग ग्रहण करना होगा। कुटिल राजनीति और राजनैतिक अर्थनीति का त्याग करके नैतिकतापूर्ण राजनीति और मानवतावादी नीतिपूर्ण सर्वोदय की अर्थनीति को अपनाना होगा। आज विज्ञान ने मानव को अपार शक्ति प्रदान की है; जिसके फलस्वरूप वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में बहुत सफल हुआ है। चन्द्रमा पर पहुँचने वाले अमरीकी तथा रूसी उपग्रह प्रकृति पर मनुष्य की विजय के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वस्तुतः आधुनिक युग को अंतर्राष्ट्रीय युग न कहकर “अंतर्राष्ट्रीय युग” कहना चाहिए; क्योंकि आज मानव सौर मंडल के अन्य ग्रहों पर पदार्पण करने का प्रयास कर रहा है और यदि तृतीय विश्वयुद्ध न हुआ, तो उसे अपने इस प्रयास में सफलता प्राप्त होने की पर्याप्त संभावना है। परंतु यदि विज्ञान प्रदत्त इस अपार शक्ति का विध्वंसात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए

दुरुपयोग किया गया, तो मनुष्य अपने इस महत्वपूर्ण लक्ष्य में असफल होगा ही। लाखों वर्षों से विकसित मानव सभ्यता तथा संस्कृति और संभवतः मानव जाति के अस्तित्व के समाप्त हो जाने की भी आशंका है। इसके विपरीत यदि इस शक्ति का शांतिपूर्ण कार्यों के लिए सदुपयोग किया जाय तो मनुष्य दरिद्रता, रोग, बेकारी और अज्ञान से मुक्त होकर कहीं अधिक सुखी तथा समृद्ध हो सकता है और इस प्रकार विज्ञान उसके लिए एक महान वरदान सिद्ध हो सकता है। यह तभी संभव है जब विश्व के सभी राष्ट्र सर्वोदय सिद्धान्त के पुनीत मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प कर लें। वास्तव में मानव जाति को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अंततः इसी शांतिमय, नैतिकतापूर्ण और अहिंसात्मक मार्ग का अवलम्बन करना होगा। इसके अतिरिक्त अपना अस्तित्व बनाये रखने का उसके समक्ष अन्य कोई उपाय नहीं है। इस सम्बन्ध में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि “यदि संसार को जीवित रहना है और आपस की लड़ाई से टुकड़े-टुकड़े नहीं होना है, तो उसे गांधीजी की विचारधारा के अनुसार ही चलना होगा, जो भारत के लिए नहीं, सारी दुनिया के लिए है।”

सर्वोदय कोई सम्प्रदाय नहीं और वाद तो हो ही नहीं सकता। यह विश्वधर्म का अरुणोदय है। यह ठीक है कि सर्वोदय भी अंतिम विचार नहीं है; लेकिन यह काफी अद्यतन विचार है; क्योंकि इसने अपने रथ में एक और दर्शन के श्यामकर्ण एवं विज्ञान के उच्चैश्रवा को जोत लिया है। दर्शन और विज्ञान के इस समन्वय के साथ-साथ इसमें जीवन और समाज परिवर्तन की आचारात्मक प्रक्रिया का भी अंतर्भाव है। नैतिकता मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकता है। यदि प्रत्येक आदर्श को हम यह कहकर टुकरा दें कि यह हमारे लिए बहुत कठिन है, तो हम स्वयं को भी समस्त भौतिक और प्रगतिशील तत्त्वों की अवहेलना करते हुए पायेंगे। हमें स्मरण रखना चाहिए कि मानव तभी तक जी सकता है, जबतक उसको अपने में आस्था हो। इसका अर्थ हुआ कि अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए नैतिक साधनों का उपयोग ही मानव-मुक्ति का रहस्य एवं भविष्य की मानवता का आधार है। उदारता, अहिंसा और शांति पर आधारित “वसुधैव कुटुम्बकम्” की इस व्यापक भावना तथा उदात्त आदर्श के अनुसार आचरण करने से ही आज वास्तव में मनुष्य की रक्षा एवं उन्नति हो सकती है। उक्त सारी परिस्थितियां यह सिद्ध करती हैं कि आने वाला समय सर्वोदय का ही है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सर्वोदय समाज की विस्तृत विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रचलित अर्थशास्त्र के मिथ्या दृष्टिकोण का वर्णन कीजिए।
2. अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध को समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति कब प्रारंभ हुई थी?
अ. 1768 ब. 1760 स. 1780 द. 1790
2. निम्न में से पूंजीवाद का गुण है—
अ. स्वार्थ ब. त्याग स. सहयोग द. नैतिकता
3. गांधी के अनुसार आधुनिक सभ्यता का मूल गुण है—
अ. उद्योगवाद ब. भौतिकता स. यंत्रीकरण द. उपरोक्त सभी

4. ए लेटर टू हिन्दु (A letter to Hindu) किसके द्वारा लिखा गया है—
अ. थोरो ब. महात्मा गांधी स. टालस्टॉय द. रस्किन
5. शरीर श्रम की प्रेरणा गांधी को किससे मिली थी?
अ. थोरो ब. रस्किन स. मिल द. उपरोक्त में से कोई नहीं
6. सर्वोदय समाज की स्थापना कब हुई थी?
अ. 1950 ब. 1948 स. 1947 द. 1946
7. की कल्पना के साथ व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, यंत्रवाद और साम्राज्यवाद का स्वभावतः गठबंधन है।
8. सर्वोदय का अर्थ है ।
9. आर्थिक चिन्तन और के बीच सदैव ही पारस्परिक और प्रभावपूर्ण सम्बन्ध पाये जाते हैं।
10. सर्वोदय समाज की विदेश नीति विचारों पर आधारित है।

इकाई-2
गांधी के आर्थिक विचारों के मूल तत्त्व

- अ. गांधी के आर्थिक चिंतन की आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि
- ब. इच्छा विहीनता
- स. स्वदेशी
- द. ट्रस्टीशिप

उद्देश्य

1. गांधी के आर्थिक विचारों की नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओं को समझना।
2. स्वदेशी की अवधारणा को जानना।
3. ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को समझना।

संरचना

1. गांधी के आर्थिक चिंतन की आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि
 - 1.1 जीवन के प्रति समग्रता का दृष्टिकोण
 - 1.1.1 व्यक्तित्व का विभाजन असंभव और अवांछनीय
 - 1.1.2 जीवन के आधारभूत सिद्धान्त समग्र व्यक्ति और समग्र समाज पर लागू
 - 1.2 मानव केन्द्रित अर्थव्यवस्था
 - 1.2.1 पश्चिमी सभ्यता का दृष्टिकोण
 - 1.2.2 अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु : मानव
 - 1.3 स्वार्थ-त्याग और आत्म-बलिदान
 - 1.3.1 भौतिक सुख की दृष्टि
 - 1.3.2 सहयोग और निःस्वार्थ भाव
 - 1.4 सहयोग की व्यापकता
 - 1.4.1 पश्चिम का दृष्टिकोण
 - 1.4.2 सहयोग ही मानव जीवन का मूलभूत सिद्धान्त
2. इच्छाविहीनता का सिद्धान्त
3. स्वदेशी की अवधारणा
 - 3.1 स्वदेशी की सांस्कृतिक व्याख्या
 - 3.2 स्वदेशी की धार्मिक व्याख्या
 - 3.3 स्वदेशी की राजनीतिक व्याख्या
 - 3.4 स्वदेशी की सामाजिक व्याख्या
 - 3.5 स्वदेशी की आर्थिक व्याख्या

4. ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

4.1 ट्रस्टीशिप का अर्थ व स्वरूप

4.2 ट्रस्टीशिप के उद्देश्य

4.3 ट्रस्टीशिप—थातेदारी उत्तरदायित्व

सत्य और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित समाज का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक संगठन निश्चय ही पूंजीवादी की भांति कुछ व्यक्तियों को वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाम पर अत्यधिक अधिकार और धन प्रदान कर देने तथा साम्यवाद की भांति इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों को समाज हित के नाम पर अत्यधिक शक्ति और सत्ता प्रदान कर देने और इस प्रकार हिंसा, संघर्ष, विनाश और अवनति की ओर बढ़ने का मौका नहीं देगा, बल्कि मानव और समाज दोनों का स्वतंत्र और सही समन्वय करके दोनों को एक दूसरे के हित में बढ़ने और समृद्ध होने का मौका देगा। इस प्रकार की व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिये होगी, वह सबके हित में होगी; किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों या अधिकांश व्यक्तियों के ही हित में नहीं होगी बल्कि बिना अपवाद सबके हित, सब के उत्कर्ष, सबके उदय के लिये होगी। इस व्यवस्था को गांधीजी ने सर्वोदय व्यवस्था का नाम दिया है।

इस व्यवस्था की मूलभूत कल्पना मानव के जितनी ही पुरानी है, क्योंकि वह बीज रूप से विश्व के पुराने से पुराने ग्रंथों से होकर, आज तक के संतों, पैगम्बरों और विचारकों की रचनाओं में मौजूद है। उसका तार ऋग्वेद के मंत्रदृष्टा महर्षियों से लेकर लाओत्से और कनफूशियस, सुकरात और अफलातून, टालस्टॉय और क्रोपाटकिन, गांधी और विनोबा के विचारों में अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। इसके प्रयोग भी प्रत्येक युग और देश की परिस्थितियों में हुये, लेकिन गांधीजी ने इसका सबसे बड़ा सामूहिक प्रयोग अपने जीवन में किया और सत्य तथा अहिंसा के सामूहिक, सामाजिक और सार्वजनिक व्यवहार की कुछ साकार—सी कल्पना हमारे सामने रखी और इस संबंध में किस तरफ और किस तरह बढ़ा जा सकता है, इसका अधिक स्पष्ट संकेत उन्होंने अपने विचारों, अपनी संस्थाओं और अपने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक व्यवहार द्वारा दिया।

1. गांधी के आर्थिक चिंतन की आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि

गांधी का सर्वोदय अर्थशास्त्र विभिन्न आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताओं पर आधारित है जिससे यह अर्थशास्त्र मानवीय अर्थशास्त्र के रूप में भी जाना जाता है। गांधी का आर्थिक चिंतन निम्न नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओं पर आधारित है।

1.1 जीवन के प्रति समग्रता का दृष्टिकोण

मानव के व्यक्तित्व के असंख्य पहलू हैं। वह राजनैतिक दृष्टि से राज्य का, प्रांत का, नगर या गांव का सदस्य होता है। इन अलग-अलग संस्थाओं के प्रति कुछ उत्तरदायित्व होते हैं, जिनका वह वहन करता है, और उन पर कुछ अधिकार होते हैं, जिनका वह उपयोग करता है सामाजिक दृष्टि से वह परिवार का तथा अन्य अनेक सामाजिक संगठनों का सदस्य होता है और उनमें कुछ अधिकार तथा कर्तव्य रहते हैं। धार्मिक और नैतिक दृष्टि से वह कुछ अन्य संस्थाओं का अंग होता है, कुछ विशेष विचारों और कार्यों का वह पक्षपाती होता है और उनमें अपनी शक्ति का अंश लगाता है और उनसे वह कुछ प्राप्त भी करता है। इसी प्रकार वह व्यावसायिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न संस्थाओं से संबंध होता है और यों उसके व्यक्तित्व के अनेक पहलू हो जाते हैं, जिनमें उसके व्यक्तित्व का कुछ न कुछ अंश अवश्य शामिल होता है। ज्ञान की दृष्टि से, मानव जीवन की दृष्टि से इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि मानव के प्रत्येक विचार और कर्म में इन सारे पहलुओं का, मानव के सारे व्यक्तित्व का, उसके सारे विचारों और शक्तियों का, उसकी सभी कमजोरियों और विशेषताओं का एक साथ समावेश होता है।

मान लीजिये एक व्यक्ति कपड़े का व्यासाय करता है। इस व्यवसाय में वह केवल व्यवसाय की दृष्टि से काम नहीं कर सकता। उसे राजनैतिक पहलू पर भी विचार करना होगा— राज्य, प्रांत, नगर या गांव के संकट का, राजनैतिक स्थिति का असर उस पर पड़ेगा ही, उसकी पारिवारिक स्थिति या अन्य सामाजिक स्थितियों का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहेगा, उससे धार्मिक विचारों से उसका

व्यवसाय प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता; उससे नैतिक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक धरातल के असर से भी व्यवसाय बिल्कुल खाली नहीं रह सकता। इसी प्रकार उसके सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन पर उसके व्यवसाय का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ेगा। केवल विश्लेषण की दृष्टि से या अध्ययन और ज्ञान की सुविधा के ख्याल से भले ही हम व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं को अलग-अलग करें किन्तु मानव के व्यक्तित्व और जीवन की दृष्टि से ऐसा कर सकना स्वाभाविक नहीं है।

1.1.1 व्यक्तित्व का विभाजन असंभव और अवांछनीय

आधुनिक पश्चिमी अर्थशास्त्र में आर्थिक मनुष्य की कल्पना की गई है, जो अर्थशास्त्र से संबंधित प्रश्नों और मामलों पर केवल अर्थशास्त्र की दृष्टि से ही विचार करता है, अर्थात् केवल आर्थिक लाभ-हानि के विचार से इनका निर्णय करता है, ग्रहण तथा इन्कार करता है। ऐसा काल्पनिक व्यक्ति चाहे आर्थिक हानियों से बचने और आर्थिक लाभों को गुणित करने में सफल भी हो, लेकिन अगर ऐसा व्यक्ति संभव होगा तो वह व्यक्ति अर्थ-संचय के लिये राष्ट्र के साथ धोखा करने वाला, समाज को हानि पहुंचाने वाला, धर्म और नैतिकता का सर्वनाश कर देने वाला, और संस्कृति का विनाश कर देने वाला होगा। वह देशद्रोही होगा, परिवार और समाज-द्रोही होगा, धर्म और नीति-द्रोही होगा और संस्कृति-द्रोही होगा। ऐसा विशुद्ध वैज्ञानिक की, विशुद्ध राजनीतिज्ञ की, विशुद्ध धार्मिक या नीतिज्ञ की या विशुद्ध संस्कृतिनिष्ठ की कल्पना भी ऐसी ही भयानक होगी। यूरोप के व्यापारवादियों द्वारा आरम्भ किया गया पश्चिमी अर्थशास्त्र भी इसी गलत कल्पना का दानव है।

जिस प्रकार मानव के व्यक्तित्व को एकांगी दृष्टि से ही देख रखने या उसके एक पहलू को ही पूरा मनुष्य मान लेने की गलती से वैयक्तिक दानव की सृष्टि होती है, उसी प्रकार समाज के एक पहलू को ही पूरा समाज मान लेने और बाकी सारी दृष्टियों को भुला देने से सामाजिक दानवता का निर्माण होता है। परिवार समाज का एक अंग है, परिवार का भरण-पोषण परिवार के वयस्क व्यक्ति का कर्तव्य है, लेकिन यदि वह व्यक्ति अपने प्रति या समाज के अन्य अंगों के प्रति अपने सारे कर्तव्यों को भूल कर इसी तरफ सारी शक्ति और समय लगा देता है तो उसके पारिवारिकता की वह दूषित वृत्ति पैदा हो जाती है, जो उसे अपने व्यक्तिगत और सामाजिक कर्तव्य से च्युत कर देती है और उसका व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। इसी प्रकार समाज संगठन में भी संस्थाओं के संतुलित विकास के बजाय किसी एक संस्था पर अत्यधिक बल दे दिया जाता है, और एक को ही अत्यधिक कमी है। अब, यदि शासन केवल शिक्षा विभाग पर ही बहुत ज्यादा शक्ति और श्रम का व्यय करे या केवल उच्च कोटि के अनुसंधान पर ही अत्यधिक व्यय करे, या केवल सैन्य विभाग पर ही अत्यधिक जोर दे और अन्य विभागों को अपेक्षाकृत भुला दे तो उसका परिणाम अनुचित होगा। उसे हमारी समाज की समग्र आवश्यकता का अनुमान लगाना होगा और उनका तरतम्य देखकर फिर अपनी आय और साधनों के अनुरूप सब की पूर्ति का प्रयत्न करना होगा अर्थात् समग्र दृष्टि से काम लेना होगा, अन्यथा हमारे साधनों का अपव्यय भी होगा और उनका कोई सुपरिणाम भी न आ सकेगा।

इसी प्रकार जब किसी एक प्रकार की भावना अत्यधिक प्रबल होने दी जाती है तो वह विकृति की सीमा तक पहुंच जाती है और समाज के लिए लाभदायक न रहकर हानिकारक हो जाती है। देशभक्ति की अतिरजित भावना सत्य और न्याय और कुण्ठित करके समाज की संकुचित द्वेष-भावनायुक्त और अप्रगतिशील बना देती है। इसी प्रकार स्वदेशी की भावना, धार्मिकता या धर्म-प्रचार की भावना, सैनिकता की भावना विकृत होकर प्रान्तीयता, कट्टरता और सैन्यवाद की पशुता की परिणित हो जाती है।

1.1.2 जीवन के आधारभूत सिद्धान्त समग्र व्यक्ति और समग्र समाज पर लागू

वास्तविक बात यह है कि यदि सत्य और न्याय, मानवता और लोकतंत्र, अहिंसा और प्रेम मानव जीवन के आधारभूत सिद्धान्त या मापदंड हैं तो उनका एक सा स्थान व्यक्ति और समाज के सभी शास्त्रों में होगा और जीवन के सभी व्यवहारों में उनका एकसा उपयोग होगा। किसी में वह बहुत अधिक और किसी में वह बिल्कुल न हो, बल्कि उसके विपरीत किसी में असत्य और अन्याय, द्वेष और हिंसा ही मापदण्ड बन जाय— ऐसा नहीं हो सकता। आज के विकृत अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में यही हो गया है। आज का अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक मानव जीवन के शाश्वत मापदण्डों को छोड़ बैठा है, उन्हें यह नीतिशास्त्रियों और धर्मशास्त्रियों की चीज मान बैठा है। परिणाम यह हुआ कि आज के

अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में से मानवता और बहिष्कार होकर दानवता का आधिपत्य जम गया है और जो ज्ञान और व्यवहार सत्य, न्याय और मानवता के विकास और सेवा में काम आने चाहिये थे, वे असत्य, अन्याय और दानवता को बलवान बनाने में काम आ रहे हैं। अतः यदि मानवता की, व्यक्ति और समाज की रक्षा करना और उनका उत्कर्ष हमें अभीष्ट है तो हमें इनमें से दानवता को निकाल बाहर करना होगा, मानवता की प्रतिष्ठा करनी होगी, और जीवन के समग्र दृष्टिकोण को अपनाना ही होगा।

मानव जीवन का समग्र दृष्टिकोण ही अध्ययन और व्यवहार दोनों को संतुलित और सही रख सकता है, उसमें भ्रम और गलती की संभावनाओं को कम से कम रख सकता है। अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग नहीं कर सकते, विज्ञान को जीवन से या नीति-शास्त्र से अलग नहीं कर सकते, विज्ञान को जीवन से या नीति-शास्त्र से दूर नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र समाज-शास्त्र से किस प्रकार संबंध-विच्छेद करेगा। ये सभी शास्त्र राजनीति से किस प्रकार अलग हो सकते हैं।

यह विचार ही भ्रामक है कि सत्य और न्याय का विचार नीतिशास्त्र या आचार-शास्त्र के विवेचन में ही करना चाहिये। अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में इनका विचार आवश्यक नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों का सत्य और न्याय से कोई सरोकार नहीं होगा यदि ऐसा हुआ तो उन व्यक्तियों की समाज के प्रति क्या जिम्मेदारी होगी और ऐसे लोग क्या समाज के विनाशक नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान मानव शास्त्र न रहकर दानव शास्त्र क्यों नहीं बन जायेंगे।

1.2 मानव केन्द्रित अर्थव्यवस्था

पश्चिम के अर्थशास्त्रियों की भांति गांधी ने अर्थव्यवस्था के केन्द्र में धन को न रखकर मनुष्य को रखा इसलिए गांधी द्वारा प्रेरित अर्थव्यवस्था को मानव केन्द्रित अर्थव्यवस्था के रूप में भी जाना जाता है।

1.2.1 पश्चिमी सभ्यता का दृष्टिकोण

पश्चिमी सभ्यता ने न केवल व्यक्ति को भौतिक अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया है, बल्कि भौतिक साधनों को भी मानव से अधिक महत्वपूर्ण मान लिया है। आज भी भौतिक विज्ञानों के अध्ययन और शोध पर पश्चिमी सभ्यता ने जितना ध्यान दिया है और जितनी शक्ति लगाई है, उसके मुकाबले में बहुत कम शक्ति सामाजिक और मानवीय विज्ञानों के अध्ययन और शोध में लगाई गई है। परिणाम यह हुआ है कि आज की पश्चिमी दुनियां मानव को भी एक यंत्र की भांति मानने लगी है, जिसकी आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति ठीक उसी तरह की जा सकती है, जिस प्रकार किसी कपड़े की मिल के तक्कों और करघों को उनके लिए उपयुक्त कच्चा माल या यंत्रों के लिये चिकनाहट या शक्ति दी जाती है और उससे उनका संचालन और उत्पादन कार्य चालू रहता है।

यही नहीं, यूरोप और अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय नियोजन की जो विराट योजनाएं बनाई और पूरी की गईं और उसी की देखा-देखी भारत में जो पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार किया गया है उसमें भी बहुत अधिक अंश में केवल भौतिक साधनों की वृद्धि का ही विचार किया गया। अमुक अमुक वस्तुओं का अमुक प्रतिशत उत्पादन बढ़ाया जाय-इसी आधार पर सारी योजनाएं बनाई जाती हैं। यह सारा क्रम सारी अर्थपद्धति के क्रम को ही उलट देता है।

वास्तव में तय करने की बात यह है कि हमारी सारी योजना में, सारे निर्माण कार्यक्रम में, सारी अर्थव्यवस्था में या यों कहें सारी सभ्यता के विचार में अधिक महत्वपूर्ण कौन है—भौतिक साधन या मानव? इस प्रकार के सीधे प्रश्न का सभी पश्चिमी विद्वान और वैज्ञानिक एक ही उत्तर देंगे कि मानव अधिक महत्वपूर्ण है, लेकिन उनकी योजना और व्यवहार बिल्कुल इसके विपरीत होते हैं। वे केवल भौतिक साधनों के बारे में सोचते हैं, उन्हें सुधारने, बढ़ाने आदि की योजना बनाते हैं और मानव को बिल्कुल या तो मूल ही जाते हैं या उस सारी तस्वीर में बहुत नगण्य और तुच्छ स्थान देते हैं।

1.2.2 अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु : मानव

सच्चे अर्थशास्त्र में सारे विवेचन और विचार का केन्द्र बिन्दु मानव होगा—अधूरा, अल्पशक्तियुक्त या जैसा भी वह जिस क्षेत्र में विद्यमान है, अपनी सारी निर्बलताओं और विशेषताओं, अपनी आदतों,

भावनाओं, अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उसे विशेषताओं, अच्छाइयों की ओर प्रेरित करना, उसे अधिक सबल और अधिक विवेकयुक्त बनाना आयोजकों का आदर्श हो सकता है, लेकिन उसकी वास्तविक स्थिति को भुला करके कभी सही निर्णयों पर नहीं पहुंच सकते और कभी सही आयोजन नहीं कर सकते। उन्हें मानव को ही केन्द्र बिन्दु मानना होगा और सारे भौतिक साधनों को केवल उसके उपयोग और कल्याण के हथियार मात्र। उसी से उन्हें अपने सारे अध्ययनों, योजनाओं और निर्णयों को सम्बद्ध करना होगा और जो निर्णय उनके क्षेत्र के मानवों की वास्तविकता के साथ मेल खाने वाले नहीं होंगे, उनका उन्हें संशोधन करना होगा या छोड़ देना होगा। कोई भी सिद्धांत और धारणा, कोई भी नहीं मानी जा सकती, बल्कि वही उनका वास्तविक मापदंड है। सही दृष्टिकोण यह होना चाहिये कि हमारी सारी योजनाएं संबंधित गांव, शहर, जिले, प्रान्त, राष्ट्र या भूखंड के मानवों को अधिक शिक्षित, अधिक सुखी और समृद्ध बनाने की होनी चाहिये। पहले यह तय करना है कि हमारे क्षेत्र के मानवों की क्या स्थिति इस समय है—भौतिक साधनों की दृष्टि से भी और सांस्कृतिक स्थिति की दृष्टि से भी—और हम उनके लिए क्या स्थिति चाहते हैं, उस स्थिति तक पहुंचाने के लिए हमें उन्हें क्या-क्या सांस्कृतिक और भौतिक साधन प्रदान करने चाहियें और वे साधन किस प्रकार हमारे क्षेत्र की सारी जनता को प्राप्त हो सकते हैं। इस दृष्टि से सारी आर्थिक समस्याओं और योजनाओं पर विचार करना चाहिये। साधनों के शिकंजे में ठोक पीट कर आदमी को उसमें जमाने के बदले साधनों को मानवों की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि हमें भौतिक साधनों के उत्पादन और व्यय का आंकड़ा और लेखा-जोखा तैयार करने के पूर्व मानव शक्ति के उपयोग का बजट बनाना होगा और उसके अनुसार साधनों का बंटवारा करना होगा।

यहां इतना ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि जो भौतिक साधन मानव के लिये अत्यन्त आवश्यक और अमूल्य हैं, उनके उपयोग में मानव की वर्तमान पीढ़ी का ही नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ियों के हित का भी विचार करना चाहिये। इस दृष्टि से प्रकाश, हवा और जल मानव जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक और बहुमूल्य साधन हैं, जो असीम मात्रा में प्राप्त हैं; उन्हें अगर कोई भी दूसरा राष्ट्र या मानव समूह किसी भी तरह जैसे अणु समग्र मानव जाति का भयंकर आपराधी माना जाना चाहिये। इसके बाद भोजन, आवरण और आवास के भौतिक साधन हैं, जिनका सर्व-प्रथम उपयोग मानव के लिये होना चाहिये और वह इस प्रकार हो कि सबको एक निश्चित न्यूनतम स्तर पर तो प्राप्त हो ही सकें। इसी प्रकार खनिजों और जंगलों के उपयोग में केवल वर्तमान मानव जाति के उपयोग का ही नहीं, बल्कि भावी मानव जाति का भी ध्यान रखा जाना चाहिये। कुछ भी हो, मुद्दे की बात यह है कि जहां भौतिक साधन सम्पत्ति और मानव में तुलना का प्रश्न हो, वहां बिना किसी हिचक के मानव को भौतिक साधन सम्पत्ति से अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। जहां भौतिक सम्पत्ति का अधिक महत्व है और मानव को एक घृणित कीड़े से अधिक नहीं माना जाता, वहीं एक ओर “समृद्धि का अम्बार और दूसरी ओर अभाव नजर आता है, जहां सोने चांदी के टुकड़ों और नोटों का मूल्य जीवन से अधिक हो, वह एक ओर भयानक अजीर्ण और दूसरी ओर भयंकर भुखमरी एक साथ दिखाई देती है। आज की आर्थिक पद्धति इसी अभावता को प्रश्रय देती है; अतः आवश्यकता इस बात की है कि अर्थ-व्यवस्था में मानवता की पुनः प्रतिष्ठा की जाय।

1.3 स्वार्थ-त्याग और आत्म-बलिदान

‘यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋण कृत्वा घृतम्पीवेत्’—यह कहावत संभवतः उतनी ही पुरानी है जितना मानव स्वयम्; लेकिन पुरानी होने से एक चीज उपादेय नहीं बन जाती। नई होने से कोई अनुपयोगी ही हो—ऐसी बात भी नहीं है। ईसा को इसी चार्वाक दृष्टिकोण से घबराकर कहना पड़ा था कि मानव केवल रोटी से ही नहीं जीता, और उससे भी छः शताब्दी पूर्व चीन के महान् दार्शनिक लाओत्जे ने कहा था—विश्व शाश्वत है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वह अपने लिए नहीं जीता। भारतीय विचारकों ने तो प्रेम-स्थूल आकर्षण—और स्वार्थ के मुकाबले में श्रेय-सूक्ष्म हित और कर्तव्य को ही सदा ग्रहण किया है और इस प्रकार पूर्व ने सहस्राब्दियों से ही भौतिक सुख-साधनों को सब कुछ समझने के बजाय आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म हित की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन किया है। यूरोप में भी सुकरात से लेकर मध्य काल के अंत तक आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्तों पर नीति शास्त्र का अंकुश न्यूनाधिक रूप में बराबर माना जाता रहा।

1.3.1 भौतिक सुख की दृष्टि

यूरोप के सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने मानव के भौतिक शरीर को ही सम्पूर्ण समझा और उन्होंने यह सिद्ध किया कि भौतिक सुख की प्राप्ति ही उसका चरम लक्ष्य है और भौतिक स्वार्थ—साधन ही उसके प्रत्येक कार्य और निर्णय की प्रेरक शक्ति है। मानव को केवल शरीर मानकर विचार करने पर अन्य कोई निर्णय संभव ही नहीं था, लेकिन वे इस प्रयोग के फल—स्वरूप जिस परिणाम पर पहुंचे, वह वस्तुस्थिति से बिल्कुल भिन्न था।

उन्हीं दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रभावित राजनीति और अर्थशास्त्र के विचारकों ने सामाजिक और राजनैतिक करार की कल्पना की, जिसमें मानव को या तो भेड़िये की तरह खूंखार, स्वार्थी और अनाचारी माना गया, या भेड़ की तरह मूर्ख और नासमझ समझा गया, और दोनों हालतों में उसकी स्वार्थवृत्तियां मूर्खता पर अंकुश रखने के लिए सामाजिक और राजनैतिक संगठन करके सारी सत्ता और अधिकार एक सर्वशक्तिमान् और निरंकुश शासक को सदा के लिए सौंप दिए गए। इस प्रकार समाज—संगठन को मानव के लिए स्वाभाविक न मानकर बनावटी ओर ऊपर से लादा हुआ माना गया जो ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सभी दृष्टियों से गलत साबित हो चुका है।

वास्तव में ऐसे किसी समय की कल्पना नहीं की जा सकती, जब मानव समाज संगठन से रहित रहा हो। मानव का जन्म और उसके लालन—पालन तथा संरक्षण की आवश्यकता समाज को पहले से ही मानकर चलती है; वह किसी समय में मानव के बाद ऊपर से लादी हुई या स्वीकार की हुई नहीं हो सकतीं स्वयं मानव में सामाजिकता, मिल—जुल कर रहने की और एक दूसरे के लिए स्वार्थ—त्याग, सहायता और सहानुभूति की भावना जन्मजात है, वह मानव स्वभाव के अंतर्गत और अभिन्न है, वह माता पुत्र के स्नेह के समान स्वाभाविक और अनिवार्य है।

मानव केवल शरीर ही नहीं है, वह भौतिक शरीर के अतिरिक्त और उससे अभिन्न कुछ सूक्ष्म तत्व और भी है, जिसका अनुभव संसार भर के अनुभवी विचारकों ने प्रत्येक युग में और प्रत्येक देश में किया है। कुछ ने इसे आत्मतत्व का नाम दिया है, कुछ ने ईश्वर में इसका अनुभव किया है, कुछ इसे प्रकृति का नाम देते हैं। लेकिन यह सारी परिभाषाएं दार्शनिकों, संतों और वैज्ञानिकों ने दी हैं। आज के समाजशास्त्रियों और राजनैतिक विचारक भी, जो ईश्वर और आत्मा के विचार को दार्शनिकों के लिए छोड़ देते हैं और प्रकृति के विचार को वैज्ञानिकों तक सीमित मानते हैं, मानव से अलग और उसके अंतर्गत एक सूक्ष्म तत्व को स्वीकार किये बिना नहीं रह पाये हैं; इसे समाज का नाम देते हैं। समाज एक ऐसा सूक्ष्म और साथ ही प्रत्येक मानव समूह में और समग्र मानव समूह में व्याप्त ऐसा तत्व है, जो लगभग अनिर्वचनीय है, लेकिन जिसका अस्तित्व अनुभव किया जाता है और मानव के लिये अपने आचरण को समाज—हित की कसौटी पर निरंतर कसते रहना आवश्यक माना जाता है।

1.3.2 सहयोग और निःस्वार्थ भाव

मानव के पूर्व इतिहास का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि मानव समाज में सदा आपसी सहयोग, सहायता और सहानुभूति ही प्रमुख रहे हैं, इन्हीं के कारण दर्शन, विज्ञान और कला में मानव ने उन्नति की है। सहयोग, सहानुभूति और शान्ति सदा नियम रहे हैं, प्रतिद्वन्द्विता, द्वेष और युद्ध सदा ही अपवाद रहे हैं। स्वार्थपरता ने मानव के घोर अन्धकार में भी स्वार्थत्याग, व उज्ज्वल दर्शन सदा हुआ है और मानव ने अपनी स्वार्थपरता पर पश्चाताप नहीं किया है।

यदि हम वर्तमान मानव का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन करें तब भी यही विदित होगा कि मानव के सारे सामाजिक, संबंध—माता—पिता, भाई—बहिन, अध्यापक—विद्यार्थी, शासक—शासित, उत्पादक—उपभोक्ता, वितरक—प्राप्तिकर्ता आदि—स्वार्थत्याग की भावना पर ही निर्भर हैं। आज के युग के वातावरण और शिक्षण के बावजूद, जिसमें स्वार्थपरता को स्वाभाविक और आवश्यक बता कर उसे देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है, मानव पद—पद पर स्वार्थ—त्याग और सहयोग की भावना का दर्शन करता ही रहता है।

यह स्थिति तब है, जब आज का सारा प्रचलित दर्शन—शास्त्र मानव को स्वार्थी मानता है। सारा इतिहास और समाजशास्त्र उसे लड़ाकू, अन्यायी, प्रतिद्वन्द्वी और शोषक के रूप में चित्रित करता है, आज का सारा अर्थशास्त्र प्रतिद्वन्द्विता और स्वार्थ—साधन पर अवलंबित है। आज का सारा शिक्षण, सारा

वातावरण, सारा समाज—संगठन, सारी राजनीति— यही नहीं, धर्म नीति भी स्वार्थसिद्धि का ही समर्थन करती है और स्वार्थ—साधकों का ही सम्मान करती है, उन्हें आदर्श मानती है, उनकी पूजा करती है।

इसके विपरीत जैसा कि मानव वास्तव में है, यदि दर्शनशास्त्र मानव को स्वार्थ—त्यागी और सहयोगी के रूप में चित्रित करे, स्वार्थपरता और संघर्ष को मानव की विकृत स्वीकार करे और उसे दूर करने में मानव की सफलता और मानवता की सिद्धि मानी जाय, यदि इतिहास और समाजशास्त्र इन अपवाद स्वरूप स्वार्थपरताओं, लड़ाइयों, अन्यायों आदि उदाहरणों को उनके सही अनुपात में सामने रखे, यदि अर्थशास्त्र मानव को केवल स्वार्थी न मानकर समग्र मानव समझे और वही मानकर अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्ररूपण करे और सारा शिक्षण मानव की वास्तविकता के अनुकूल हो तथा समाज—संगठन में भी इस पर जोर दिया जाय तो कोई कारण नहीं है कि मानव का सारा दृष्टिकोण ही बदल न जाय और स्वार्थत्याग, तथा आत्म—बलिदान के सिद्धान्त और व्यवहार, जिन्हें मानव अपवादस्वरूप माने बैठा है, जीवन के प्रतिदिन और प्रतीक्षा के लिये आधारभूत और स्वाभाविक स्वीकार कर लिए जायें और वह वैयक्तिक और सामाजिक विकृतियां उत्तरोत्तर कम होती जाये और वह अपनी सच्ची स्थिति को उत्तरोत्तर प्राप्त होता जाय।

अतः यह स्वीकार कर लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये कि मानव और समाज में स्वार्थ—त्याग और बलिदान ही वास्तविक कल्याणकारी और आधारभूत तथ्य है, स्वार्थपरता और प्रतिद्वन्द्विता उसकी विकृतियां हैं, जो शिक्षण और समाज—संगठन के सुधार के परिणामस्वरूप निश्चय ही दूर हो जाने वाली हैं। मानव के सभी वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार और व्यवस्थाएं, जिसमें अर्थव्यवस्था भी शामिल है, स्वार्थत्याग और आत्म—बलिदान को मानव के लिए सहज, स्वाभाविक और आवश्यक स्वीकार करके विचार किया जाना चाहिये।

1.4 सहयोग की व्यापकता

मानव के सामाजिक जीवन का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता, रक्तपात, हत्या आदि का आज जो इतना शोर मचाया जा रहा है, वह वास्तव में समुद्र के ऊपर उत्तेजित लहरों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। उनके नीचे सहयोग, सहायता, सहानुभूति का शांत समुद्र अपने सौम्य रूप में विद्यमान है। बड़े-बड़े युद्ध, संघर्ष, राष्ट्रों की, समाज के प्रमुख व्यक्तियों की, विभिन्न संगठनों की आपस की प्रतिद्वन्द्विताएं विशाल मानव जाति के लम्बे जीवन के एक अंश को कुछ ही समय के लिए क्षुब्ध करती हैं। इसके विपरीत, बालक—माता—पिता, भाई—बहिन आदि के स्नेह, सहानुभूति के बल पर बढ़ता है; पत्नी, मित्र, सहयोगी, हितैषी और सामान्य परिचितों, अर्द्ध—परिचितों की न—जाने कितनी लंबी पंक्ति का प्रेम, सहयोग, सहारा उसे मिलता है; और जहां मदद अत्यन्त अप्रत्याशित होती है, वहां भी उसे न जाने किधर से मिल जाती है। लोगों के बुरे बर्ताव, संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता, प्रतीकार आदि का भी सामना उसे करना पड़ता है, लेकिन इन सब पर भी चाहे वह विजय प्राप्त करे तो उसे अपने सहयोगियों के सहारे से ही प्राप्त होती है, और इनसे उसे हारना भी पड़ने तब भी वह अधिकांश में अपने सहयोगियों की मदद के बावजूद भुगतनी पड़ती है, और हार के बाद भी वह जीता रहता है और विजय के प्रयत्न में लगता है, तो भी वह जीवन और वह प्रयत्न उसके सहायकों और सहयोगियों के प्रोत्साहन और मदद का ही फल है। अतः यदि सभी दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि सहयोग की मानव जीवन का धर्म है, और वही मानव जीवन की वास्तविकता है; संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता अल्पकालिक है और अपवादमात्र है; उन्हें मानव जीवन के शाश्वत और संचालक तथ्य मान लेना गलत हुआ है। इस गलती को मानव समाज जितनी जल्दी ठीक कर ले, उतना ही वह सत्य के निकट पहुंच सकेगा और अहिंसा के महत्त्व को समझ सकेगा, जिस पर मानव और मानव समाज दोनों का जीवन और प्रगति आधारित है।

1.4.1 पश्चिम का दृष्टिकोण

यूरोप में मध्यकाल में यह प्रतिपादित किया गया कि मानव केवल अपने स्वार्थ—साधन में है, वही सच्ची स्थिति है। स्वार्थ—साधन के लिए अन्य मानवों से खूनी संघर्ष में संलग्न मानव ही सच्चा मानव है और स्वार्थ—साधन तथा संघर्ष ही उसके जीवन के सच्चे सिद्धान्त हैं। हाब्स और मैकियावेली जैसे अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों के इस तथाकथित यथार्थवादी सिद्धान्त पर डार्विन जैसे वैज्ञानिक के 'सबसे बलवान का ही अस्तित्व'—जैसी जंगली धारणाएं मानव जीवन के आधारभूत और संचालक

सिद्धान्त के रूप में मान ली गई। इन गलत और एकांगी धारणाओं ने समाज-विज्ञानों को गलत दिशा दी और सामाजिक जीवन को भी दूषित और विषैला बना दिया है। संतोष की बात है कि पश्चिम के ही कुछ विचारकों और वैज्ञानिकों ने इस भूल को देखकर समझ लिया और उन्होंने अपनी आजीवन साधना के द्वारा इन धारणाओं के अन्तर्गत असत्य और भूल को सामने लाने का प्रयत्न किया। इनमें रस्किन और टालस्टाय जैसे विचारक और क्रोपाटकिन जैसे वैज्ञानिक के प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। बीसवीं शताब्दी में गांधी जी का योगदान इस दिशा में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों, विशेषकर इतिहास की भौतिक व्याख्या और 'वर्ग-संघर्ष ही अनिवार्य' के सिद्धान्तों, पर डार्विन की स्पष्ट छाप है। मार्क्स ने आर्थिक साधनों को इतना अधिक महत्व दे दिया है कि मानों समग्र मानव केवल पेट ही है और केवल रोटी ही मानव के समग्र जीवन, विचार और आदर्श का संचालन करती है। अंश कितना ही बड़ा हो वह समग्र के बराबर नहीं हो सकता—इस सरल सत्य को वे भूल से गये हैं। केवल आर्थिक साधनों को छीना-झपटी ने ही मानव के समग्र इतिहास का निर्माण किया, यह चाहे जितना महत्वपूर्ण तथ्य माना जाय, किन्तु सम्पूर्ण तथ्य नहीं हो सकता। मानव जानबूझकर दूसरों के लिए कष्ट सहन करता है, त्याग करता है, माता अपने शिशु के लिए, बहिन अपने भाई के लिए, पुत्र अपने पिता के लिए, मित्र मित्र के लिए और साधारण मानव अन्य गांव वालों के लिए, देश वालों के लिए, अपरिचित लोगों के लिए, आने वाली भावी पीढ़ियों के लिए, सुख, सुविधाओं का सृजन करते हैं; स्वयं कष्ट सहकर उनके लिए आराम देते हैं, स्वयं अभाव में रहकर उनको अभावहीन करने का प्रयत्न करते हैं, छोटे-मोटे त्याग से लेकर अपने जीवन तक का खुशी-खुशी बलिदान कर देते हैं और यह सब आर्थिक स्वार्थ-सिद्धि की भावना के बिना भी होता है। क्या इसके लिए बहुत से उदाहरणों की आवश्यकता है? क्या हम आज कदम-कदम पर अपने पूर्वजों के कष्ट-सहन और स्वार्थ-त्याग से उत्पन्न सुख, सुविधाएं नहीं भोग रहे हैं?

डार्विन का जीवन-संघर्ष और सर्वश्रेष्ठ के जीवन का सिद्धान्त अधिकांश में पशु-पक्षियों के जीवन के उदाहरणों पर आश्रित है; यह आवश्यक नहीं है कि मानव जीवन पर वे उदाहरण ज्यों के त्यों लागू हो ही। दूसरी बात यह भी है कि डार्विन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में पशु-पक्षियों के सहयोग और निर्बलों को सहायता देने के उदाहरणों को बिल्कुल ही छोड़ दिया है; वह चाहे जान-बूझ कर किया गया हो या अनजाने, इससे उनके प्रतिपादन में एकांगिता आ गई है। इस पहलू का विवेचन प्रिंस क्रोपाटकिन ने किया है, जिसमें उन्होंने सहयोग और सहायता सम्बंधी उदाहरण पशु और पक्षी जगत् से दिए हैं। जो लोग पशु-पक्षियों के जीवन के उदाहरणों को ही मानव जीवन पर लागू करना चाहते हों, उन्हें डार्विन के साथ क्रोपाटकिन का भी अध्ययन पर निष्कर्ष निकालना चाहिये। लेकिन हमारा तो मानना है कि मानव जीवन के सिद्धान्त मानव जीवन का अध्ययन करके ही स्थिर किये जा सकते हैं, पशु-पक्षियों के जीवन के अध्ययन से मानव जीवन का सिद्धान्त निश्चय करने की पद्धति मूल में ही दोषपूर्ण है, अतः डार्विन का मूलभूत आरंभ ही गलत है और क्रोपाटकिन ने उनके सिद्धान्त को उन्हीं के दूसरी ओर के तथ्यों से भ्रामक साबित कर दिया है। लेकिन इस सबके बावजूद डार्विन के सिद्धान्त का प्रभाव समाज-विज्ञानों पर बहुत ही हानिकारक हुआ है और उनका सारा दृष्टिकोण ही अवास्तविक और उल्टा हो गया है।

इसी प्रकार वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त भी बहुत कुछ एकांगी और भ्रांतिपूर्ण है। किसी भी देश में मानव समूह दो स्पष्ट, निश्चित और परस्पर विरोधी वर्गों में नहीं बंटा रहा, जो सदा एक दूसरे के विरोधी और संघर्षरत ही हों। समाज में सदा ही दो से अधिक वर्ग रहे हैं, और उनकी सीमाएं कभी बिल्कुल निश्चित और सुदृढ़ नहीं रहीं, बल्कि उनमें इधर-उधर लोगों का आना जाना पीढ़ी दर पीढ़ी और कभी-कभी एक जीवन में भी एक से अधिक बार रहा है। आज भी यह कहना कठिन है कि पूंजीपति का वर्ग अमुक सीमा पर खत्म हो जाता है, मजदूर वर्ग अमुक सीमा पर आरम्भ हो जाता है, और इनके बीच में अमुक दुर्लभ्य खाई है, जिसके इस पार पूंजीपति वर्ग है और उस पार मजदूर वर्ग; और इनमें कोई पारस्परिक आवागमन नहीं है।

काल मार्क्स के द्वारा इतिहास की भौतिक व्याख्या का सिद्धान्त प्रतिपादित होने के पूर्व दुनिया की मानव जाति इस प्रकार के वर्ग-संघर्ष में लगी भी रही हो, तो भी आज जब वह उस सिद्धान्त को जान और समझ गई है, तब भी वह उसमें क्यों संलग्न रहे, आज भी उसे निर्मम भवितव्यता मानकर क्यों

चलने दिया जाय, और खासकर भौतिक ओर समाजों की वर्तमान उन्नति के फल-स्वरूप जब विधेयात्मक भौतिक और मानवीय नियोजन इतना क्रमबद्ध और विस्तृत हो गया है, तब प्रकृति के उस अंधे नियम को चलने देना तो समझदार मानव जाति के लिये अयुक्त और अशोभनीय ही माना जाएगा।

1.4.2 सहयोग ही मानव जीवन का मूलभूत सिद्धांत

सच बात तो यह है कि संघर्ष को चाहे पशु-पक्षियों के जीवन में संचालक माना जाय या न माना जाय-बुद्धि, भाषा और लिपि की महान् विशेषताओं से युक्त मानव जाति के जीवन में इसे संचालक सिद्धांत नहीं माना जा सकता। मानव जीवन में यह स्थान सहयोग को ही प्राप्त है। भूतकाल का इतिहास यही सिद्ध करता है, आज भी यह स्पष्ट है। अगर मृत्यु सत्य नहीं, बल्कि जीवन सत्य है, तो यह भी साफ है कि संघर्ष सत्य नहीं सहयोग ही सत्य है। प्रतिपल मृत्यु से घिरे रहने पर भी मानव जीता है और अपने अभीष्ट की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है। ऐसी स्थिति में जीवन उसके लिये सत्य हो जाता है और मृत्यु केवल उस जीवन के अंत का एक अपवाद। इसी प्रकार मानव को बुराई से, कठिनाई से, असत्य से संघर्ष करना पड़ता है, सारे जीवन भर करना पड़ता है, सारी मानव जाति को करना पड़ है; लेकिन वह सत्य नहीं, वह अपवाद मात्र है; क्योंकि मृत्यु की भांति संघर्ष की छाया में भी वह सहयोग से ही जीवित रहता है और वही उसका परम सत्य है।

संघर्ष एक दृष्टिकोण से मानव जीवन का आधारभूत सिद्धांत है, और वह मानव के अन्दर और मानव समाज के अंतर्गत फैली हुई बुराइयों और कमजोरियों के खिलाफ असहयोग, विरोध और प्रतिकार है, जो मानव में और मानव समाज में सदा ही चलता रहता है। मानव का जीवन सदा ही संघर्ष में संलग्न रहता है, यह संघर्ष सदा ही अहिंसात्मक होता है; अतः यह पश्चिमी अर्थ-संघर्ष का द्योतक न होकर वास्तव में व्यक्ति और समाज के बीच सहयोग, प्रेम और त्याग-बलिदान के द्वारा, स्वयं कष्ट सहकर न कि दूसरों को कष्ट पहुंचा कर, स्वयं आत्मदान कर न कि दूसरों का विनाश कर, स्वयं मर मिटकर न कि दूसरों को मारकर समाज को उन्नत करने का प्रयत्न करता है। इस संघर्ष को वास्तव में सहयोग का ही उत्कृष्ट रूप माना जाना चाहिये। इस सत्य को देख लेने से मानव का दृष्टिकोण शुद्ध हो जाता है, उसका मार्ग स्पष्ट हो जाता है, उसके सिद्धांत और धारणाएं वास्तविकता से युक्त हो जाती हैं। यदि जीवन वास्तविकता है, तो सहयोग भी वास्तविकता है। वही मानव जाति और मानव जीवन का संचालक सिद्धान्त है।

2. इच्छाविहीनता का सिद्धान्त

सामान्यतः पश्चिम की अर्थनीतिक संरचना का लक्ष्य है- आवश्यकताओं की वृद्धि। इसके अनुसार जितनी अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपयोग हम करते हैं हमारे जीवन निर्वाह का स्तर उतना ही ऊंचा होता है और भौतिक दृष्टि से हम उतने ही सभ्य और सुखी होते हैं। पश्चिमी समाजवाद, साम्यवाद और पूंजीवाद का स्वरूप यही है। वे सब के सब परिग्रहणशील हैं। गांधीजी इससे अवगत थे और उन्होंने हिन्द स्वराज में लिखा था “आधुनिक सभ्यता की वास्तविक कसौटी इस तथ्य में निहित है कि इसके अंतर्गत जीवन धारण करने वाले शारीरिक कल्याण को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं।” ऐसे लोग गांधीजी के अनुसार आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं। भारतीय आदर्श के प्रति निष्ठावान गांधीजी इसका प्रतिवाद करते हुए तर्क करते हैं, “मन चंचल पक्षी के समान है, जितना अधिक इसको मिलता है, उतना ही अधिक यह चाहता है और फिर भी असंतुष्ट रहता है। जितना ही हम अपनी वासनाओं में डूबते हैं, उतनी ही वे अनियंत्रित हो जाती हैं।” उन्होंने आगे कहा है, “अतएव हमारे पूर्वजों ने विषयभोग की एक सीमा निर्धारित कर दी। उन्हें ज्ञात था कि सुख बहुलांशतः मानसिक स्थिति है। कोई व्यक्ति धनी होने के कारण अनिवार्यतः सुखी नहीं होता या गरीब होने के कारण ही दुःखी नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि धनी दुःखी है और गरीब सुखी। ... इस सबका निरीक्षण करके ही हमारे पूर्वजों ने हमें भोगविलास से दूर रहने का परामर्श दिया था। ... ऐसा नहीं था कि वे यंत्रों का आविष्कार करना नहीं जानते थे किंतु हमारे पूर्वज जानते थे कि यदि हमने ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति के पीछे अपना मन दौड़ाया तो हम गुलाम हो जायेंगे और अपनी नैतिक प्रकृति खो बैठेंगे। अतएव पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद उन्होंने निश्चित किया कि हमें वही करना चाहिए जो हम अपने हाथों और पैरों से कर सकते हैं।” अन्यत्र उन्होंने कहा है, “मैं इस पर विश्वास नहीं करता कि आवश्यकताओं की वृद्धि और उनकी पूर्ति के लिए यंत्रों के प्रयोग द्वारा विश्व अपने लक्ष्य की ओर एक कदम भी आगे बढ़

सका है। दूरी और समय के व्यवधान को नष्ट कर अपनी पाशविक क्षुधाओं को बढ़ाने और उनकी तृप्ति के लिए पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक भटकने के पागलपन भरे सिद्धान्त से मैं पूरे अंतःकरण से घृणा करता हूँ।”

गांधीजी की दृष्टि में समस्त आर्थिक व्याधियों की जड़ है आधुनिक सभ्यता की सदा बढ़ती जाने वाली “और आगे ... और आगे” की प्रवृत्ति। वे थमने के लिए सचेत करते हैं और जैसा कि लुई फिशर ने कहा है, “रुको और बचो” उनके अर्थ-दर्शन का प्रमुख लक्षण है, इसीलिए उनका आदर्श है “सरल जीवन और उच्च विचार” और इसीलिए वे आवश्यकताओं की अनावश्यक वृद्धि के विरुद्ध हैं। उनका कथन है, “जिस क्षण मनुष्य अपनी दैनिक आवश्यकताओं में वृद्धि करना चाहता है, उसी क्षण वह “सरल जीवन एवं उच्च विचार” के आदर्श के पालन से च्युत हो जाता है। इतिहास में इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। मनुष्य का सुख वस्तुतः संतोष में निहित है। जो असंतुष्ट रहता है वह अपनी कामनाओं का दास बन जाता है। सभी संतों ने उच्च स्वर में घोषित किया है कि मनुष्य अपना निकृष्टतम शत्रु भी बन सकता और उत्कृष्टतम मित्र भी। स्वतंत्र रहना या दास बन जाना उसकी अपनी मुट्ठी में है।”

वे चाहते हैं कि हम उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयास करें जो हमारे समुचित जीवन के लिए बहुत जरूरी हों। वे मानते हैं कि इस शरीर को परमात्मा ने हमें सौंपा है अतः यह हमारा कर्तव्य है कि हम इसे दुरुस्त रखें, तथापि आवश्यकताओं की वृद्धि करना किसी के लिए उचित भी नहीं कहा जा सकता। वे उपनिषद् की उक्ति पर विश्वास करते थे और चाहते थे कि हम त्याग द्वारा भोग करें। उनका कहना था कि मानव-शरीर का एकमात्र उद्देश्य सेवा है, भोग कदापि नहीं। सुखी जीवन का रहस्य त्याग में है। त्याग ही जीवन है। भोग का अर्थ तो मृत्यु है। इससे किसी को यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि महात्मा गांधी जी लोगों को वैरागियों का जीवन यापन करने को कहते हैं। हम पहले ही इसका विवेचन कर चुके हैं कि महात्मा गांधीजी का मत था कि समाज उन समस्त सुख-सुविधाओं का उपयोग करे जिनसे मानव-जीवन सुखद और उसकी जीवन-यात्रा सुगम हो। वे बिजली, जहाज निर्माण, लौह उद्योग, यंत्र निर्माण तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं को जीवन के लिए उपयोगी मानते थे। वे इनके विरुद्ध नहीं थे किंतु चाहते थे कि हम इन दो बातों पर विचार करें, प्रथमतः समस्त समाज का अधिकतम कल्याण— हमें सदा सचेत रहना होगा कि कहीं हम दूसरों की कीमत पर तो अपनी आवश्यकताएं नहीं बढ़ा रहे; और द्वितीयतः हमारे जीवन का उद्देश्य— इसका अर्थ यह है कि अपनी भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि की उन्मादग्रस्त दौड़ में हम अपने जीवन का वास्तविक उद्देश्य ही न भूल जायें। इन दोनों शर्तों का निर्वाह करने पर हम वास्तविक एवं कृत्रिम आवश्यकताओं को अलग कर सकते हैं। जैसा कि लुई फिशर ने कहा है, “गांधीवाद चाहता है कि लोग अच्छी तरह रहें ... उसकी यह मांग नहीं है कि लोग एकान्त में संतों की तरह रहें। उसकी मांग है कि वे कम स्वार्थी हों, कम लोभी हों, कम धनोन्मादी हों, कम स्वकेन्द्रित हों।”

इस बात के स्पष्टीकरण के लिए हम वस्त्र सम्बन्धी अपनी आवश्यकता का परीक्षण कर सकते हैं, सौभाग्य से जिसके बारे में गांधीजी ने कई बार अपने विचार प्रकट किये हैं और औसत भारतीय की उपभोगात्मक क्षमता को ध्यान में रखते हुए कुछ मानक स्थिर किया है। इस मानक पर विचार करने के पूर्व एक गलतफहमी को दूर करना अत्यावश्यक है जो दुर्भाग्य से स्वयं उनकी आधी धोती सभ्यता के कारण उत्पन्न हुई है। देश भक्तों के सामने “गरीबों की तरह” रहने का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए एवं 1921 के अपने निश्चय के अनुसार एक वर्ष के भीतर स्वराज्य प्राप्त न कर सकने का शोक मनाने के लिए गांधीजी ने आधी धोती पहनना शुरू किया था। उन्हीं के शब्दों में, “अपने उत्तरदायित्व के पूरे बोध के साथ मैं यह सलाह देता हूँ। अतएव उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कम से कम 31 अक्टूबर तक मैं अपने टोपी-कुर्ता आदि का त्याग कर रहा हूँ और केवल आधी धोती तथा जब शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक हो तो चादर का उपयोग करने जा रहा हूँ। चूंकि जिसको करने के लिए मैं स्वयं तैयार नहीं हूँ दूसरों को उसकी सलाह देने में मुझे सदा संकोच होता रहा है और चूंकि मैं उनका पथ-प्रदर्शन कर उनका रास्ता सुगम बनाने के लिए उत्सुक हूँ जो विदेशी वस्त्रों के त्याग के बाद विकल्प का निश्चय नहीं कर पा रहे हैं। अतएव मैं इस परिवर्तन को अंगीकार कर रहा हूँ। शोक मनाने के सूचक के रूप में भी अपने लिए मैं इस त्याग को आवश्यक मानता हूँ एवं नंगा सिर तथा नंगा बदन मेरे प्रदेश में शोक सूचक माना जाता है। हम सब शोकग्रस्त हैं, यह तथ्य मेरे निकट स्पष्टतर होता जा रहा है क्योंकि वर्ष का अंत समीप आता जा रहा है और हम अभी तक स्वराज्य नहीं पा सकते हैं। मैं यह

साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि मेरी अपने सहयोगियों से यह अपेक्षा नहीं है कि वे भी टोपी-कुर्ते आदि का त्याग कर दें, हाँ यदि वे अपने काम के लिए इसे आवश्यक समझते हों तो ऐसा कर सकते हैं। स्पष्ट करने योग्य दूसरी बात यह है कि वे सदा भारतीय आदर्श से अनुप्रेरित होते रहे हैं एवं उनके अनुसार आधी धोती सभ्यता भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती है। उनका कहना है, आधी धोती को अंगीकार करना मेरे लिए नितान्त आवश्यक था। लेकिन चूँकि आधी धोती से सादगी भी झलकती है अतः इसे भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व भी होता है।” उन्होंने आगे कहा है, “निस्संदेह यूरोपीय सभ्यता यूरोपवासियों के अनुकूल है किंतु यदि हम उसकी नकल करने की चेष्टा करेंगे तो भारत का सत्यानाश हो जायेगा।”

अपनी आवश्यकताओं को कम करने के सम्बन्ध में यद्यपि हम महात्मा गांधी जी की व्याख्या से अवगत हो चुके हैं तथापि वह पर्याप्त नहीं है। दर्शन की दृष्टि से उसका विश्लेषण कर हमें देखना चाहिए कि वह कहां तक विवेक संगत है। प्रो. मेहता न अपने ग्रंथ ‘एडवान्स्ड एकानॉमिक थीअरि’ में “आवश्यकताओं के दर्शन” पर लिखा है। उन्होंने ऐच्छिक एवं अनैच्छिक आवश्यकताओं में प्रभेद किया है। “अनैच्छिक आवश्यकता” इस पद के अर्थ की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है, “यदि किसी व्यक्ति को किसी पदार्थ की आवश्यकता है तो उसकी प्राप्ति से उसके मन में सुखद अनुभूतियां होनी चाहिए... अतः यदि किसी पदार्थ की प्राप्ति से किसी को सुख होता है तो प्रमाणित होता है कि उसकी आवश्यकता उसे अवश्य रही होगी, चाहे इस आवश्यकता का बोध सचेत रूप से उसे न रहा हो। पीड़ा का अनुभव तभी होता है जब कोई किसी आवश्यकता के प्रति सचेत रहता है।” वे आगे और कहते हैं, “यह तो जरूरी है कि जिसे किसी पदार्थ की आवश्यकता रहती है, उसे उसकी प्राप्ति से सुख हो ही किंतु यह जरूरी नहीं है कि सर्वदा उसकी अप्राप्ति के कारण पीड़ा हो।” इसका विस्तार करते हुए वे कहते हैं “जिस व्यक्ति ने चलचित्र न तो देखा हो, न उसके बारे में सुना हो, उसे देखने की सचेत आवश्यकता उसे नहीं होती, परिणामस्वरूप उसे पीड़ा भी नहीं होती।” किंतु यदि वह चलचित्र देखे तो निश्चय ही उसका उपभोग करेगा। इस क्षेत्र में सुख के पहले पीड़ा नहीं थी, आवश्यकता की पूर्ति केवल पीड़ा की निवृत्ति ही नहीं करती। अतएव सचेत आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले पदार्थों की प्राप्ति मानव सुखानुभूतियों में धनात्मक योगदान करती है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं : अनैच्छिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी प्रयास किये जाने चाहिए। प्रो. मेहता का कथन है, “किंतु एक बार उनकी पूर्ति हो जाने पर भविष्य में सर्वदा ऐच्छिक आवश्यकताओं के रूप में उनकी पुनरावृत्ति होती रहती है।” और इस प्रकार वे पीड़ा की वृद्धि करती रहती हैं। अतएव सुख की विवेक संगत खोज विलास और सुख में प्रभेद करने तथा अनैच्छिक आवश्यकताओं की कठोरतापूर्वक उपेक्षा करने में निहित है।

3. स्वदेशी की अवधारणा

स्वदेशी गांधी के तत्त्व दर्शन की एक प्रमुख अवधारणा है। स्वदेशी का शाब्दिक अर्थ है— वह जो अपने देश का हो या अपने वहां बना हो। गांधीजी ने सृष्टि की व्यवस्था में मौजूद शाश्वत आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित सार्वभौम मानव-धर्म की कल्पना की और इस सार्वभौम मानव-धर्म के एक अंग के रूप में स्वदेशी के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। स्वदेशी की धारणा को उन्होंने सत्य एवं अहिंसा पर आधारित एक मानवीय कर्तव्य के रूप में स्वीकारा है। स्वदेशी का सिद्धान्त यह मानता है कि यह प्रत्येक मानव का स्वाभाविक धर्म एवं कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण मानवता की सेवा करे, किंतु इस सेवा-कार्य की शुरुआत स्थानीय स्तर से होनी चाहिये, क्योंकि इस पर प्रथम एवं सर्वाधिक अधिकार पड़ौसी का ही हो सकता है। स्वदेशी की धारणा में यह विचार निहित है कि स्वदेशी के धर्म की शुरुआत तो स्थानीय स्तर से होनी चाहिये किंतु इसका विस्तार क्रमशः विश्व स्तर तक होना चाहिये क्योंकि स्वदेशी के धर्म का अंतिम उद्देश्य सम्पूर्ण मानवता की सेवा है। अन्य शब्दों में, स्वदेशी का धर्म स्थानीय सेवा-कार्य के माध्यम से सम्पूर्ण मानवता की सेवा का संस्कार एवं प्रशिक्षण देता है। सामान्यतया स्वदेशी को केवल आर्थिक संदर्भों में ही देखा जाता है किंतु गांधी स्वदेशी को एक आध्यात्मिक गुण, संस्कृति, विज्ञान, जीवन दर्शन, आर्थिक कल्याण आदि मानते थे। उनके अनुसार स्वदेशी एक धार्मिक अनुशासन है जिसका पालन सभी को उसके पालन से होने वाले कष्ट को सहन करके भी करना चाहिये। गांधी स्वदेशी को जीवन का ऐसा पवित्र नियम मानते थे जो मनुष्य की प्रकृति में ही सन्निहित हैं।

गांधी के अनुसार स्वदेशी एक आध्यात्मिक अवधारणा है जिसका मूल उद्देश्य राजनैतिक या आर्थिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक है। गांधी के मत में स्वदेशी का उद्देश्य है मनुष्य को सब जीवों के साथ आध्यात्मिक एकता की अनुभूति कराना किंतु शरीर इसमें बाधक होता है क्योंकि यह आत्मा का स्थायी निवास नहीं है। इस प्रकार साधारण शब्दों में, स्वदेशी आत्मा की शारीरिक बंधनों से मुक्ति का सूचक है क्योंकि जब तक आत्मा शरीर से मुक्त नहीं होगी तब तक सभी जीवों के साथ आध्यात्मिक एकता की अनुभूति संभव नहीं है। गांधी के अनुसार तब तक आध्यात्मिक अनुभूति का एक ही मार्ग है सबकी सेवा। इस प्रकार स्वदेशी का नियम सबकी सेवा का निर्देशक है। अर्थात् जब तक आत्मा शरीर से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक स्वदेशी के नियम का पालन सब जीवों की सेवा के द्वारा ही किया जा सकता है। गांधी ने स्वदेशी की प्रेरणा गीता से ग्रहण की, जिसमें कहा गया है कि स्वधर्म पालन करते हुए मरना भी श्रेयस्कर है, पर धर्म भयावह है। गांधी के अनुसार गीता में जो स्वधर्म के लिये कहा है वह स्वदेशी पर भी लागू होता है क्योंकि अपने निकटवर्ती परिवेश के संबंध में स्वदेशी ही स्वधर्म है। मनुष्य के लिये व्यावहारिक अर्थों में स्वदेशी को परिभाषित करते हुए गांधी कहते हैं “स्वदेशी हमारे अंदर की वह भावना है जो हम पर यह प्रतिबंध लगाती है कि हम अपेक्षाकृत अधिक दूर के वातावरण को छोड़कर पास के वातावरण का उपयोग करें और उसकी सेवा करें।” दूसरे शब्दों में स्वदेशी का तात्पर्य है कि दूसरे देशों की तुलना में अपनी जन्मभूमि की सेवा करनी चाहिये और अपने देश में भी दूर के स्थानों की अपेक्षा पड़ोस की अधिक सेवा करनी चाहिये। शर्त यह है कि जिस पड़ोसी की इस प्रकार सेवा की गई है वह भी अपने पड़ोसी की इस प्रकार सेवा करे।

गांधी कहते हैं कि स्वदेशी उच्चकोटि की देशभक्ति जो हमको दूसरे देशों की तुलना में अपने देश की सेवा करने तथा दूसरे दूर स्थानों की अपेक्षा नजदीक के स्थानों अर्थात् पड़ोसी की सेवा करने को प्रेरित करती है। बाईबिल के Love the Neighbour का सिद्धान्त भी यही प्रतिपादित करता है। साथ ही इस आदर्श की यह भी मांग है कि हम अपने आदर्शों, संस्थाओं, मान्यताओं, संस्कृति को हठता से अपनाए रखें व उनमें पूरी आस्था रखें। गांधी ने कहा कि इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी संस्कृति के प्रति विचार रहित अंध भक्ति अपनाए रखें, बल्कि उनके लिये विवेकपूर्ण सम्मान रखें तथा दोष होने पर उनमें वांछित सुधार करें और आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की स्वस्थ व हितकारी विशेषताओं को भी अपनाने में न हिचके। इसी संदर्भ में गांधी अपनी बात को बढ़ाते हुए कहते हैं कि स्वदेशी का सार तत्त्व सेवा की शुद्धता है। अपने वास्तविक अर्थों में स्वदेशी का आदर्श समुदायों के संकीर्ण व स्वार्थपूर्ण हितों को बढ़ाने तथा देश के या मनुष्य जाति के हित की उपेक्षा को कभी प्रोत्साहित नहीं करता है। स्वदेशी की मांग तो केवल यह है कि हम अपने पड़ोसियों के प्रति अपने उचित कर्तव्यों का पालन करें तथा उन्हें इस बात के लिये तैयार करें कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपने आपको देश व विश्व के लिये बलिदान कर दें।

वास्तव में, स्वदेशी कोई संकुचित धर्म नहीं है, अपितु यह तो विश्व सेवा की पराकाष्ठा है क्योंकि स्वदेशी में अपने समाज से परे जाकर पूरी मानवता के लिये स्वयं को बलिदान करने की भावना निहित है। उस बलिदान की भावना का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति स्वयं को स्वदेशी नियम के पालन हेतु समाज के लिये अपने को, समाज अपने को जिले के लिये, जिला अपने को प्रदेश के लिये, प्रदेश राष्ट्र के लिये व राष्ट्र विश्व के लिये अपने को बलिदान करने को तत्पर रहता है। इस प्रकार मनुष्य अपने पड़ोसियों की तथा मानवता की साथ-साथ सेवा करता है।

अपने पड़ोसी की सेवा की वांछनीयता के कारण को स्पष्ट करते हुए गांधी कहते हैं कि मनुष्य का पहला कर्तव्य अपने पड़ोसियों के प्रति है। इसका अर्थ यह नहीं कि विदेशी के प्रति द्वेष या पक्षपात की भावना है। वास्तव में हमारी सेवा की क्षमता, जिस संसार में हम रहते हैं उसके ज्ञान से परिमित है। पड़ोसी की सेवा हम कठिनाई से कर पाते हैं। ऐसे में हमारा कर्तव्य यही है कि हम पड़ोसी की सेवा में, जिसे हम सबसे अच्छी तरह से जानते हैं और जो हमारे सबसे निकट है, की सेवा में अपना समर्पण कर दें। पड़ोसियों की शुद्ध सेवा से उन लोगों को जो हमसे दूर रहते हैं कभी हानि नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो मनुष्य दूर के निवासियों की सेवा किये जाता है वह दोहरा अपराधी है। एक तो अपने पड़ोसियों जिनका उसकी सेवा पर अधिकार है की दोषपूर्ण उपेक्षा का अपराधी है दूसरी ओर दूर के लोगों को व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण सहायता करने की अपेक्षा अधिक विक्षुब्ध कर देगा। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य अपने निकटवर्ती की सेवा करने योग्य नहीं है तो दूर के स्थानों की सेवा करना

दंभ की बात है। इस प्रकार स्वदेशी मानव क्षमता की सीमा के वैज्ञानिक आधार पर आधारित है। गांधी कहते हैं कि “मैं केवल भारत की सेवा करते दीखता हूँ फिर भी किसी दूसरे देश को हानि नहीं पहुंचाता। मेरी देशभक्ति वर्जनशील है और गुणशील भी। यह वर्जनशील इस अर्थ में है कि मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपना ध्यान अपनी जन्मभूमि पर ही देता हूँ और गुणशील इस अर्थ में है कि मेरी सेवा में स्पर्धा या विरोध की भावना नहीं है। अपनी सम्पत्ति का प्रयोग इस तरह करो कि उससे तुम्हारे पड़ोसी को कोई कष्ट न हो यह मेरे कानून का नहीं, अपितु एक महान जीवन सिद्धान्त है। यह अहिंसा या प्रेम के समुचित पालन की पूंजी है।” गांधी के अनुसार यदि हममें से हरेक व्यक्ति अपने पड़ोसी के प्रति अपने स्वदेशी कर्तव्य का पालन करे तो दुनिया में ऐसा कोई आदमी नहीं बचेगा जिसे सहायता की जरूरत पड़ने पर भी संघ व सहायता न मिले वास्तव में स्वदेशी में अपने किराये के भेद की गुंजाइश नहीं है। अपने पड़ोसी की सेवा सारी दुनिया की सेवा करना है।

गांधी ने स्वदेशी को यद्यपि एक आध्यात्मिक अवधारणा बताया फिर भी उसे जीवन के व्यवहारिक धरातल पर प्रस्तुत कर उसकी राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक व्याख्या भी प्रस्तुत की। गांधी का पूरा तत्त्व दर्शन ही स्वदेशी के सिद्धान्त से ओतप्रोत है। संस्कृति संबंधी उनके विचारों पर, आध्यात्मिक व नैतिक विश्वास पर, सामाजिक और राजनैतिक सिद्धांतों पर व आर्थिक और शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण पर इस आदर्श की गहरी छाप है।

3.1 स्वदेशी की सांस्कृतिक व्याख्या

संस्कृति संबंधी विचारों में गांधी के स्वदेशी की अवधारणा भारतीय संस्कृति के प्रति उनके दृढ़ प्रेम में व्यक्त हुई है। वे चाहते थे कि भारतीय संस्कृति चाहे जैसी भी हो भारतीय उसे अपनाए रखे। भारतीय संस्कृति के प्रति गांधी की अगाध श्रद्धा उनकी परख का परिणाम थी। उन्होंने भारतीय व विदेशी दोनों संस्कृतियों को परखा था। लेकिन आध्यात्मिक व अहिंसक मूल्यों से सजी हिन्दुस्तानी संस्कृति ही उन्हें अधिक रास आई। वे कहते थे आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता हिंसक व भौतिकवादी है। यह शक्ति व सुख की धुन में आध्यात्मिकता की उपेक्षा करती है। लोभ, होड़, द्वेष, शोषण, युद्ध व साम्राज्यवाद, जो इस सभ्यता की विशेषता है, मनुष्य के नैतिक विकास को रोकते हैं।” इस प्रकार स्वदेशी का पालन करते हुए गांधी हिन्दुस्तानियों को भारतीय संस्कृति के साथ जीने को कहते हैं। वे कहते थे कि यदि हमारी सभ्यता व संस्कृति में कुछ दोष आ गये हैं तो हमारा कर्तव्य उन दोषों को दूर कर अपनी संस्कृति का परिष्कार करना ही है, न कि अपनी संस्कृति को त्याज्य मानकर दूसरी संस्कृति को ग्रहण करना। गांधी के अनुसार मनुष्य का यह कर्तव्य ही स्वदेशी धर्म है।

3.2 स्वदेशी की धार्मिक व्याख्या

धर्म के क्षेत्र में स्वदेशी पालन के संदर्भ में गांधी के विचार थे “जहां तक धर्म का संबंध है मुझे चाहिये कि मैं अपने आपको अपने पूर्वजों के धर्म तक ही सीमित रखूं अर्थात् मैं अपने निकटवर्ती धार्मिक वातावरण का उपयोग करूं। यदि मुझे वह दोषपूर्ण मालूम हो तो मुझे चाहिये कि मैं उसे दोषमुक्त करके उसकी सेवा करूं।” अर्थात् गांधी चाहते थे कि व्यक्ति जो उसका पैतृक धर्म है, उसी का पालन करे। उसके आस-पास जो धार्मिक वातावरण है इसी के अनुसार धर्म पालन करे। गांधी का मानना था कि स्वदेशी का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति अपने धर्म के प्रति अंधभक्ति रखे और दूसरे के प्रति द्वेष व घृणा की भावना रखे, और अपने धर्म का विवेक रहित होकर पालन करे। इस संबंध में गांधी ने सर्वधर्म समन्वय की बात कही। अर्थात् व्यक्ति अपने धर्म का पालन तो करे ही साथ ही अन्य धर्मों के सद्गुणों को अपने धर्म में समाहित कर उसकी सेवा करे। यही गांधी का धर्म के क्षेत्र में स्वदेशी धर्म है।

3.3 स्वदेशी की राजनीतिक व्याख्या

राजनीति के क्षेत्र में गांधी ने देशी संस्थाओं के प्रयोग तथा उन्हें दोषमुक्त करके उनकी सेवा के माध्यम से स्वदेशी के पालन पर बल दिया। राजनीतिक संस्थाओं के साथ-साथ गांधी ने सत्याग्रह के प्रयोग को हिन्दुस्तान की आधुनिक संस्कृति का रूप माना। उनके अनुसार असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, धरना आदि भारत की प्राचीन राजनैतिक व सामाजिक प्रतिरोध की विधियां हैं। गांधी ने कहा कि हिन्दुस्तान में प्रारंभ से ही छोटी-छोटी प्रशासनिक इकाइयां रही हैं, छोटी-छोटी रियासतें रही हैं। इसी प्रथा को हमें भविष्य में भी अपनाना चाहिये क्योंकि हिन्दुस्तान के लिये यही लाभकर सिद्ध होगी।

इस संबंध में गांधी ने राजनीति शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया तथा ग्राम पंचायत व ग्राम सभाओं को अपनाने का सुझाव दिया। गांधी चाहते थे कि न्याय प्राप्त करने के लिये लोग ब्रिटिश अदालतों का सहारा लेने के बजाय अपने विचार झगड़ों का निपटारा पंचायत द्वारा करवाये। विदेशी हुकूमत के आदेशों व कानूनों का पालन करने के बजाए स्वयं अपने निर्वाचित व अधिकृत विधान मण्डलों व मंत्रिमंडलों के कानूनों, आदेशों व नीतियों का पालन करे। ज्ञातव्य है कि गांधी ने स्वदेशी को एक राजनैतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग में भी लिया। सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने संपूर्ण देश में आंदोलन किया, विदेशी माल का राजनीतिक व आर्थिक बहिष्कार किया। और उनका यह प्रयोग सफल भी रहा। परिणामतः भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना मजबूत हुई जिसकी परिणति अंततः स्वतंत्रता में ही हुई।

3.4 स्वदेशी की सामाजिक व्याख्या

स्वदेशी की सामाजिक व्याख्या के अंतर्गत गांधी ने व्यक्ति को अपने समाज की मान्यताओं, परंपराओं, विश्वासों, सिद्धांतों को अपनाने व उनमें पर्याप्त आस्था रखने का सुझाव दिया। गांधी सामाजिक क्षेत्र में वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक थे। वे इसे समाज में समानता परस्पर सहयोग व समन्वय कायम रखने के लिये आवश्यक मानते थे। इसके साथ ही गांधी जात-पात व अस्पृश्यता के प्रबल विरोधी थे। वे मानते थे कि प्राचीन काल में महिलाओं को समाज में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त था। उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे, लेकिन वर्तमान में स्त्रियों की दशा समाज में बहुत खराब है। इसके लिये गांधी ने स्त्रियों के उद्धार पर प्रबल बल दिया।

शिक्षा के क्षेत्र में भी गांधी हमेशा यह मानते थे कि शिक्षा प्रणाली को राष्ट्रीय परंपरा के अनुरूप होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा बच्चों को अपनी सभ्यता संस्कृति, मूल्यों की पूर्ण जानकारी मिलनी चाहिये, साथ ही शिक्षा का माध्यम भी मातृभाषा होना चाहिए। इन्हीं विचारों के आधार पर गांधी ने नई तालीम से एक मौलिक शिक्षा पद्धति का आविष्कार किया। इनके माध्यम से गांधी ने स्वदेशी धर्म के पालन पर बल दिया।

3.5 स्वदेशी की आर्थिक व्याख्या

आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी का अर्थ है कि व्यक्ति व्यक्ति अपने देश में अपने पड़ोसी के द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपयोग करें तथा उन उद्योग धंधों की कमियों को दूर कर, उन्हें कार्यक्षेत्र को परिपूर्ण बनाकर उनकी सेवा करें। गांधी के अनुसार स्वदेशी व्रत का पालन करने वाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा, वहां-वहां वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु दूसरी वस्तु से महंगी व कम दर्जे की क्यों न हो।

गांधी के अनुसार, स्वदेशी की भावना का अर्थ यह नहीं है कि हम दूसरे देशों के प्रति द्वेष भाव के कारण उनके माल का उपयोग नहीं करते हैं, बल्कि स्वदेशी का अर्थ है कि जिन वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में होता है हम उन वस्तुओं का उपयोग करें, न कि विदेश में बनी हुई वस्तुओं का। इसके साथ ही जो वस्तु अपने देश में नहीं बनती या कष्ट के साथ बनती है वे वस्तुएं हम विदेश में बनी होने के बावजूद भी उपयोग में ले सकती हैं। इससे स्वदेशी धर्म का उल्लंघन नहीं होगा। इस प्रकार स्वदेशी धर्म का पालन करने वाला विदेशी का भी द्वेषी नहीं है, बल्कि यह तो प्रेम और अहिंसा में से पैदा हुआ धर्म है।

भारत के संदर्भ में गांधी ने पूरे हिन्दुस्तान से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार व स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने का आह्वान किया। गांधी के अनुसार, अंग्रेजों के भारत आने से पहले भारत अपने सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करता था। लेकिन अब प्रत्येक भारतीय भारत में हाथ की बनी महंगी वस्तुओं के बजाय विदेशी मिल की सस्ती वस्तुओं का उपयोग करने लगा था। अपने प्रत्येक उपभोग की वस्तुओं से अपनापन खोता जा रहा था और स्वयं को मानसिक और आर्थिक गुलामी में जकड़ रहा था। इससे भारतीय उद्योग-धंधों, कुटीर व लघु उद्योगों की दुर्दशा हो रही थी। गांधी आर्थिक दृष्टि से कुटीर उद्योगों व लघु उद्योगों के माध्यम से प्रत्येक गांव को स्वावलंबी बनाना चाहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने भारतीयों को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार यहां तक कि भारतीय कारखानों में यंत्रों से बनी हुई वस्तुओं के बहिष्कार कर हाथों से बनी खादी तथा कुटीर उद्योगों में बनी वस्तुओं का

उपभोग करने पर बल दिया। गांधी के अनुसार, यदि व्यक्ति आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन में स्वावलंबी बन जाता है तो वह आर्थिक स्वराज्य प्राप्त कर लेता है और उसे आर्थिक स्वराज्य तभी प्राप्त होगा जब हम उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करेंगे। सबसे पहले गांधी ने विदेशी कपड़े के निराकरण को आवश्यक माना तथा खादी को अपनाने पर बल दिया। अंग्रेजों के आने से पहले भारत अपनी आवश्यकता का कपड़ा स्वयं बना लेता था और वह आज भी सक्षम है। इसके अतिरिक्त भारत जैसे कृषिप्रधान देश में खादी सार्वभौम सहायक धंधा है जिसके हारे अधभूखे और आधे बेकार रहने वाले किसान अपनी अपर्याप्त आय बढ़ा सकते हैं। इसके अतिरिक्त खादी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का प्रतीक है। इसलिये गांधी खादी को स्वदेशी के सिद्धांत का आवश्यक और अधिकतम महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष और समाज के प्रति स्वदेशी धर्म के पालन का पहला आवश्यक चरण समझते थे।

खादी के द्वारा स्वदेशी को अपनाने का यह अर्थ नहीं कि गांधी इंग्लैण्ड या मेनचेस्टर की मिलों को या उनके मालिक मजदूरों को नुकसान पहुंचाना चाहते थे। बल्कि ऐसा करके वे भारत से पूंजी के निष्कासन को रोकना चाहते थे। गांधी के अनुसार इन मिल मालिकों ने भारत के मुख्य सहायक धंधों का विनाश करके उसके आर्थिक संगठन को विच्छृंखल करके देश में दरिद्रता व भूखमरी पैदा कर दी है। यदि भारत स्वदेशी धर्म को अपनाएँ और विदेशी मिल मालिक पाप करने से बच जाए तो इसमें उनका ही नैतिक लाभ होगा। स्वदेशी भावना में किसी प्रकार की स्वार्थ की गंध नहीं है। यह केवल नकारात्मक विचारधारा ही नहीं है। नकारात्मक अर्थों में यह बहिष्कार करने के साथ-साथ सकारात्मक अर्थों में अपने देश का भला करने तथा विदेशों के साथ सीमित व्यापार को समर्थन करने की भावना को भी सम्मिलित करती है। मौलिक रूप में गांधी चाहते थे कि भारतीय उद्योगों पर भारतीयों का नियंत्रण रहे, लेकिन जहां उन पर भारतीयों के नियंत्रण की प्रधानता रहे वही विदेशियों अथवा विदेशी संगठनों के सह नियंत्रण या नियंत्रण में भागीदारी के भी वे विरोधी नहीं थे। उन्हें भारतीय उद्योगों धंधों के पोषण के लिये आवश्यक विदेशी विशेषज्ञों के विशेष ज्ञान अथवा अनुभव, खोज से लाभ उठाने में कोई परहेज नहीं था, लेकिन वे चाहते थे कि भारतीय उद्योग धंधों से प्राप्त लाभ-पूंजी का निष्कासन भारत से न हो। इस प्रकार स्वदेशी धर्म के पालन में हम किसी प्रकार दूसरे देशों का अहित नहीं करते, अपितु हम स्वयं समृद्धिशाली होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर दूसरे राष्ट्रों के दुर्दिनों में उनकी निःशुल्क सहायता कर सकते हैं।

संक्षेप में गांधी की आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी की धारणा की विशेषताएं अग्रलिखित हैं—

- स्वदेशी के धर्म की मदद से किसी भी देश की जनता अपने वहां आर्थिक क्षेत्र में समानता, न्याय, स्वतंत्रता एवं स्ववलंबन के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकती है।
- स्वदेशी का सिद्धांत आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन और वितरण की शक्तियों के बीच स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग स्थापित करता है।
- स्वदेशी का सिद्धांत अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरों में सर्वाधिक महत्त्व स्थानीय स्तर की अर्थव्यवस्था को देता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त व्यवहार में विकेन्द्रीकरण अर्थव्यवस्था की स्थापना करता है जो अपनी प्रकृति से एक मानवीय एवं अहिंसक अर्थव्यवस्था होती है।
- स्वदेशी की अवधारणा पूर्णतः मानवतावादी व उदार है। इसमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है। उनके लिये स्वदेशी का अर्थ विदेशी से घृणा करना नहीं है। वे मानते हैं कि जिस वस्तु का स्वदेश में उत्पादन नहीं होता हो, उसे विदेशों से मंगवाने में स्वदेशी की धारणा का उल्लंघन नहीं होता है।
- आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी की धारणा सभी देशों में स्थानीय स्तर पर स्वावलंबी व आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की समर्थक है। इस प्रकार यह सभी देशों के प्रसंग में राष्ट्रीय स्तर पर स्वावलंबी व आत्मनिर्भर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती है। यह अनुपूरक रूप में ही आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रों के बीच सीमित एवं मर्यादित रूप में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व विनिमय को मान्यता देती है। इस प्रकार गांधी की स्वदेशी की धारणा का मूल उद्देश्य स्थानीय स्तर से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक आर्थिक संघर्ष, प्रतियोगिता, शोषण आदि की समाप्ति करके एक अहिंसक अर्थ व्यवस्था की स्थापना करना है।

प्रस्तुत विवेचन के आधार पर यह स्पष्टतः दृष्टिगत होता है कि गांधी ने सृष्टि में व्याप्त सत्य अहिंसा जैसे आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर जिस मानव धर्म की रचना की, स्वदेशी इसी मानव धर्म का एक प्रमुख अंग है जिसे गांधी ने मनुष्य के एक नैतिक कर्तव्य के रूप में मान्यता प्रदान की। स्वदेशी के माध्यम से गांधी अपने स्थानीय पड़ोसी से लेकर विश्व कुटुम्ब तक की सेवा का संस्कार निर्मित करते हैं। गांधी की स्वदेशी की धारणा आज भी अपनी प्रासंगिकता नहीं खोती। वास्तविकता तो यह है कि स्वदेशी की आवश्यकता जितनी आज उतनी शायद कभी नहीं रही। भारत के संदर्भ में आज सरकार ही विदेशी निवेश को प्रोत्साहित कर रही है। अनेक विदेशी कंपनियां भारत में अपने पैर जमा चुकी हैं। उन्होंने भारत के घरेलू उद्योगों को विस्थापित कर दिया है। आज भारत की अर्थव्यवस्था पर लगभग उन्हीं का वर्चस्व स्थापित है। घरेलू उद्योगों पर इनका बहुत कुप्रभाव पड़ा है। भारतीय जनता भी विदेशी वस्तुओं के प्रति अधिक आकर्षित है। आज हाथ से बनी वस्तुओं को बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता है। आज भी भारत के गांवों में अनेक कुटीर व लघु उद्योग चल रहे हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि इन लघु उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाए। हमारा कर्तव्य है कि हम गांधी की स्वदेशी की अवधारणा के अनुसार अपने निकटतम स्थान पर बनी वस्तुओं का उपयोग करें। उनमें जो दोष हैं उन्हें सुधार कर उन्हें आगे बढ़ाये। सरकार को भी घरेलू उद्योगों को आर्थिक सहयोग प्रदान कर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। यद्यपि भारत में सेवा क्षेत्र, तकनीकी क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ है लेकिन फिर भी भारत कृषि प्रधान देश ही है। यदि हम अपने देश की वास्तविक अर्थों में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समृद्धि चाहते हैं तो हमें स्वदेशी की भावना के साथ आगे बढ़ना होगा।

4. ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

महात्मा गांधी की धमनियों में भारतीयता, मानवता एवं आध्यात्मिकता का संचरण था। भारतीय उसका संस्कार ही था। माता-पिता परिवार एवं समाज का प्रभाव उन पर था। सनातन धर्म में उनका शिक्षण हुआ था। करुणा उनके हृदय की शक्ति थी। इसीलिए “वैष्णवजन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे, पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न जाणे रे” यह उनका सर्वप्रिय भजन था। अनासक्ति और सम्यक् प्रयोग उनके गीताबोध से स्पष्ट होता। रामराज्य की कल्पना, रामायण से उनको अपार शक्ति प्राप्त होती है। उनके मानस, उनकी वाणी और उनके कर्म में “सत्यम् शिवम् सुन्दरम्” एक होकर सभी क्षेत्रों में प्रकट होते हैं। भारत की धार्मिक परम्पराओं से प्रेरित होकर जब वे विश्व की ओर देखते हैं तो उन्हें ईसा मसीह, साक्रटीज, अन्य महापुरुष अपने सही स्वरूप में दिखाई देते हैं।

4.1 ट्रस्टीशिप का अर्थ व स्वरूप

ट्रस्टीशिप या धरोहरदारी की भावना उच्च चरित्र की निशानी है। अमीरों को चाहिए कि वह अपने धन को अलग और दूर रखते हैं उससे उनका भविष्य अन्धकारमय दीखता है। अमीरों को धन के गर्व में अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोना चाहिए, क्योंकि धन तो उनका है ही नहीं। हर अमीर और धनाढ्य को यह बात गांठ बांध रखनी चाहिए कि मनुष्य पहले है और सेठ साहूकार बाद में।

प्रत्येक व्यक्ति समाज में एक दूसरे की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता से सम्पत्ति या भौतिक वस्तुओं का अर्जन करता है। मनुष्य की कोई भी शक्ति बिना एक दूसरे की सहायता के अर्जित नहीं होती। सभी के पास पेट और शरीर की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओं की किसी देश और समाज में पूर्ण तृप्ति होती है और किसी में नहीं। ऐसी स्थिति में उत्पादित शक्ति का कुछ भाग किसी न किसी रूप में समाज के कुछ समर्थ व्यक्तियों के पास सम्पत्ति या धन के रूप में एकत्रित हो जाता है। वह व्यक्ति तो केवल थाती के रूप में अपने पास रखता है ताकि उसका प्रयोग समाज के लिए किया जा सके। सन्त बिनोवा भावे के ‘दान’ की आधार शिला यही थातेदारी का विचार है। भूमि, संपत्ति, श्रम, बुद्धि, साधन, यह सब व्यक्ति विशेष के पास संरक्षण के लिए रखा हुआ है। व्यक्ति विशेषज्ञ उसे समाज को लौटा दे। वह उसके उपभोग के लिए नहीं है। यह एक समाज परिवर्तन का आर्थिक विचार है। इनके द्वारा मनुष्यों के संपत्ति के प्रति क्या दृष्टिकोण है इसका स्पष्टीकरण होता है। प्राचीनकाल में स्वामित्व और सम्पत्ति दोनों प्रतिष्ठा और पराक्रम के प्रतीक थे। व्यवस्थित व्यय स्वयं प्रेरणा, अभिक्रम, उद्योगशीलता और पुरुषार्थ से सम्पत्ति और स्वामित्व की प्राप्ति होती है। पुराने अर्थशास्त्र में जीवन, सम्पत्ति और सुख ये तीन मनुष्य के मौलिक अधिकार हैं। लेकिन समाजवादी विचारधारा ने इस विचार

का खण्डन किया। उन्होंने सम्पत्ति को शोषणरूप माना। सम्पत्ति को चोरी माना, सम्पत्ति को हत्या माना। इस प्रकार से पुराने आर्थिक विचार में और समाजवादी विचार में एक घोर मतभेद उत्पन्न होता है।

महात्मा जी ने अपने एकादश व्रत में इस विचार को जोड़ दिया और परिग्रह स्तेय है ऐसा उन्होंने माना। परिग्रह के दो प्रमुख कारण हैं एक लोभ तथा दूसरा रक्षा। क्योंकि समाज में आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं है। सम्पत्ति न तो पूर्णतया लोभ का परिणाम है न तो पूर्णतया मनुष्य के पुरुषार्थ या मितव्ययिता का परिणाम है, इसका प्रमुख कारण यह पूँजीवादी समाज है जो मनुष्यों की आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं देता है। इसलिए लोग संग्रह करते हैं और इस संग्रह को इसलिए चोर कहा जा सकता है कि एक तरफ तो अभाव आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं देता है। इसलिए लोग संग्रह करते हैं और इस संग्रह को इसलिए चोरी कहा जा सकता है कि एक तरफ तो अभाव आवश्यकता है और दूसरी तरफ आधिक्य और विपुलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति और स्वामित्व चोरी और अनैतिकता है। गांधी जी ने इसमें एक कड़ी और जोड़ दी और कहा कि जो उत्पादक बिना शरीर श्रम किये खाता है वह चोर है। उन्होंने यह बराबर माना है कि जिसके पास सम्पत्ति होती है वह सदैव दुष्ट नहीं होता है। इसलिए थातेदारी का सिद्धान्त उन्होंने रखा। अस्तेय और परिग्रह आर्थिक संयोजन का होना चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्वामित्व के कुप्रभावों और विकृत स्वभाव से अधिकांश अर्थशास्त्री ऊब गये हैं, इसलिए जान स्टुअर्ट मिल ने भी कहा है कि यदि व्यक्तिगत स्वामित्व एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के शोषण के उपकरण बनते हैं तो इन्हें हड़प लेना चाहिए। हेनरीजार्ज ने 'प्रोग्रेस आफ पावर्टी' अपनी पुस्तक में भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। गांधीजी ने अपरिग्रह अस्तेय को थातेदारी के सिद्धान्त में मिला दिया है। समाजवादियों ने तो अपने वर्गभाव में स्वामित्व और सम्पत्ति को श्रमिक वर्ग के हाथ में दे दिया और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। लेकिन अमीरों और पूँजीपतियों के वर्ग से सम्पत्ति और स्वामित्व को छीनकर श्रमिकों के हाथ में दे देना यह भी उसी प्रकार से अनर्थकारी है जैसी पहले की व्यवस्था। इस अनर्थ को मिटाने का उत्तर थातेदारी के सिद्धान्त में प्राप्त होता है। विशेषकर लोकशाही में, जिसमें सत्ता तो लोक-मूलक हो गयी, सार्वत्रिक हो गयी, परन्तु सम्पत्ति लोक-मूलक नहीं हुई, यह व्यक्तिगत है। यह विरोध है और यह विरोध भी अब अधिक नहीं टिक सकता। इसलिए अब कोई विकल्प नहीं है, सिवाय इसके कि हम कहें कि हम अपनी सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति मानते हैं।

सामाजिक परिस्थिति या स्वयं के पुरुषार्थ से जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हो उसे वह धरोहर माने। इसी प्रवृत्ति का नाम ट्रस्टीशिप है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति और स्वामित्व है, उसे वह अपने उपभोग के लिए न समझे और न तो उसे ब्याज, किराया मुनाफा, ठेका या दलाली द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न करें। इस थातेदारी के सिद्धान्त को गांधी जी ने सामाजिक परिवर्तन का साधन माना। गांधी जी अस्ते और अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धान्तों को थातेदारी में इस प्रकार जोड़ देते हैं कि स्वामित्व और सम्पत्ति की भूमिका और इस इसका आशय ऐसा परिवर्तित होता है कि स्वामित्व और सम्पत्ति का लगभग विसर्जन हो जाता है।

आज के समाज में अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि मजदूर को 'पूँजी' काम देती है। इसलिए पूँजी मालिक है और मजदूर नौकर है। इस आशय को गांधी जी बदल देते हैं। वे परिश्रम को प्रधानता देते हैं। परिश्रम प्रधान है और परिश्रम पूँजी का उपभोग करेगा। श्रम के लिए पूँजी का प्रयोग होना चाहिए न की पूँजी के लिए श्रम का। यहां पर ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। जिस प्रकार से यह हमारा शरीर ट्रस्टी है उसी प्रकार के समस्त वस्तुएं ट्रस्टी के रूप में हैं। इससे एक नई भावना पैदा होती है कि हर मनुष्य अपनी शक्ति भर काम करेगा और केवल आवश्यकता भर उपभोग करेगा। जब यह भाव मनुष्य में पैदा होगा तो वह अपने को स्वामित्व और सम्पत्ति से स्वतः अलग कर लेगा। प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतंत्र प्रेरणा से अपनी शक्ति व रुचि के अनुसार उन्नतिशील ढंग से काम करेगा और अधिक से अधिक समाज को देगा और कम से कम उससे लेगा। यह प्रत्यार्पण की भावना मनुष्य जब अपने मन में लाता है तो अपनी कला, प्रतिभा और श्रम समर्पित कर देता है, जैसे व्यक्ति अपने कुटुम्ब, अपने पड़ोसियों के लिए समर्पण की भावना रखता है। उसे गांधी जी ने अर्थ शास्त्र की भाषा में स्वदेशी कहा है। सन्त विनोबा भावे ने तीन मातायें माना है— जननी, जन्मभूमि और गाय इसलिए इन तीनों की मालकीयत नहीं हो सकती।

आज का अर्थशास्त्र अन्न से ज्यादा महंगा कच्चा माल, कच्चे माल से महंगा पक्का माल से महंगा व्यापारिक माल को मानता है इस आज के अर्थशास्त्र को गांधी जी ने उलट दिया है, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत इस अन्न को प्रदान किये गये महत्व को पूर्णतया स्वीकार करते हैं। इसीलिए गांधीजी का अर्थशास्त्र से भिन्न पड़ता है। आज का अर्थशास्त्र गांधीजी का अर्थशास्त्र आज के अर्थशास्त्र से भिन्न पड़ता है। आज का अर्थशास्त्र अभाव और अकाल के समय जो कन्ट्रोल और राशनिंग करता है, उसके पीछे भी थातेदारी का सिद्धांत और उसके द्वारा आवश्यक वस्तुओं को सबको उपलब्ध कराया जाता है। समाजवादी और साम्यवाद में सम्पत्ति के निर्माण करने के साधनों का स्वामित्व न तो व्यक्तिगत होगा और न कौटुम्बिक स्वामित्व होगा। लेकिन भोग्य और उपयोगी वस्तुओं का यह स्वामित्व कभी-कभी हमें अतिसंग्रह की ओर ले जाता है यह अतिसंग्रह कुसंस्कार और दोष है, क्योंकि मनुष्य की उपभोग क्षमता सीमित होती है। ये उपभोग की वस्तुएं सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक बनती हैं, लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य का सांस्कृतिक विकास होता है वैसे-वैसे इन उपभोग्य वस्तुओं के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा कम होती चलती है। लेकिन मनुष्य का यह स्वभाव नहीं है, क्योंकि भोग क्षमता सीमित होने के कारण मनुष्य भोग्य पदार्थों के संग्रह को मर्यादित कर देता है। ट्रस्टीशिप का सिद्धांत इन भोग्य पदार्थों को भी ट्रस्टी के रूप में देखता है और वस्तु के प्रति आदर की भावना, वस्तु को सपर्मण करने की भावना प्रत्येक व्यक्ति में पैदा कर देता है। ज्योंही इनके प्रति आदर की भावना होती है त्योंही इनका दुरुपयोग समाप्त हो जाता है और हम सभी वस्तु को बरबाद और नष्ट नहीं होने देते।

वस्तुओं का उपभोग मर्यादित होना चाहिए, ताकि भोग शक्ति क्षीण न हो। सभी वस्तुएं परिमित तथा मर्यादित हैं। मन तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है। ऐसा न होने पर कभी-कभी मनुष्य की सम्पत्ति और उसके स्वामित्व की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति सहानुभूति की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति सहानुभूति की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति सहानुभूति की भावना को छोड़ देता है। सम्पत्ति के लिए भाई-भाई का गला घोटता है। निर्जीव वस्तु के प्रति आदर मनुष्य तथा भाई से बढ़कर हो जाता है। थातेदारी के सिद्धांत में मनुष्य अपने साथ के प्राणियों को कष्ट नहीं देता। उनके सुख का ध्यान रखता है। साथ ही अपने साथ काम करने वाले लोगों को उतनी ही प्रतिष्ठा तथा मालिकियत प्रदान करता है जितनी स्वयं को। वह सभी को हिस्सेदार मानता है। पुनः अपने बाद वह सारी सम्पत्ति भूमि आदि का स्वामित्व यदि उसके बाद उसके वंश में कोई नहीं होता तो वह दूसरों को देना स्वीकार करता है। यह है मनुष्य की सहज बुद्धि तथा सहज प्रेम की भावना कोई भूमि या सम्पत्ति बाजार में खरीदी-बेची नहीं जाती। उससे उत्पादित वस्तु विनिमय के लिए नहीं अपितु आवश्यकता की तृप्ति के लिए होती है।

अन्त में यही सर्वोत्तम मंत्र है 'त्येन त्यक्तेन भुंजीथा' त्यागकर उसका भोग करो। इसका अर्थ यह है मनुष्य भले ही करोड़ों की सम्पत्ति अर्जित करे, परन्तु यह बराबर ध्यान रखे कि यह अर्जित सम्पत्ति उसकी नहीं है, अपितु सारे समाज की है। उसमें अपनी उचित आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए कुछ रखकर शेष सारी सम्पत्ति सारे समाज को अर्पित कर दे। इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में होनी चाहिए। उसके पास जो कुछ भी है वह उसका ट्रस्टी है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके पास कोई न कोई शक्ति न हो। ये जितनी शक्तियां हैं, उन सबका मनुष्य समाज में स्वामी बनकर इसका केवल ट्रस्टी बने। ये शक्तियां उसे इसलिए प्राप्त हुई हैं कि इनके द्वारा वह उत्पादन करे और अपनी आवश्यकता के अनुकूल इनका उपयो करे। वह उन शक्तियों की वृद्धि और संरक्षण करे ताकि अधिक से अधिक समाज आर्थिक कल्याण की वृद्धि की कल्पना साकार कर सके, जिससे आज के जघन्य स्वार्थ, विरोध, आर्थिक संघर्ष समाप्त हो जाये और एक नये आर्थिक सभा का विकास हो। इस विषय में दो मत नहीं हैं कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को ऐसा समझेगा तब समाज से सर्वोदय की अर्थव्यवस्था होगी और उसके तीन आधार होंगे—

- अहिंसा,
- शोषणविहीन,
- समता।

ये उपरोक्त आधार अभी प्राप्त होंगे जब मनुष्य अपनी इच्छाओं का नियमन करेगा। सेवामूलक स्वामित्व रहेगा, सेवाशून्य स्वामित्व नष्ट होगा।

4.2 ट्रस्टीशिप के उद्देश्य

गांधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

- ट्रस्टीशिप एक साधन है जिसके द्वारा वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित समाज को समता की सामाजिक व्यवस्था में बदला जा सकता है। ट्रस्टीशिप वर्तमान स्वामीवर्ग को, अपने को शुद्ध करने और सुधारने का अवसर प्रदान करता है। यह सिद्धान्त इस बात में अटल विश्वास रखता है कि मनुष्य की प्रकृति में सामाजिक आर्थिक भावना अर्थात् परमार्थ की भावना स्वाभाविक एवं शाश्वत है। आज कितना भी स्वार्थी व्यक्ति हो, इस सिद्धान्त के द्वारा उसमें आन्तरिक हृदय एवं भावनाओं का परिवर्तन होता है।
- यह सिद्धान्त किसी भी व्यक्तित्व सम्पत्ति के स्वामित्व को मान्यता नहीं देता है केवल उसी सीमा तक स्वामित्व का अधिकार स्वीकार किया जायेगा जिस सीमा तक समाज सबके कल्याण को देखते हुए स्वामित्व की स्वीकृति देगा। जिस स्वामित्व में पूरा समाज लाभान्वित होता है उसी प्रकार का स्वामित्व सीमित और मर्यादित रूप में स्वीकार किया जा सकता है।
- यह सिद्धान्त उन राजकीय कानूनों को भी नहीं स्वीकार करता जिसमें राज्य द्वारा स्वामित्व के नियम और सम्पत्ति के भोग का निर्देश होता है। दूसरे शब्दों में राजकीय कानून द्वारा निर्धारित स्वामित्व को भी यह नहीं मानता है। अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के उपभोगार्थ प्रयोग में स्वतंत्र नहीं होगा। यदि वह अपनी सम्पत्ति का उपभोग अपने घोर स्वार्थ की तृप्ति के लिए करता है और सामाजिक स्वार्थ को अपने समक्ष नहीं रखता तो समाज उसे ऐसा नहीं करने देगा।
- यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना आवश्यक मानता है और उसके एक निर्वाह योग्य, कुशल क्षेम के लिए साधन भी निर्धारित करता है, ताकि कोई भी व्यक्ति समाज में अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए दुःखी न हो सके। साथ ही साथ एक अधिकतम आय की सीमा भी समाज में निर्धारित करता है। प्रत्येक व्यक्ति साधन सम्पन्न होते हुए भी देश की परिस्थिति के अनुकूल उसमें से केवल एक सीमित आय का उपभोग एवं प्रयोग अपने लिए करेगा। यहां न्यूनतम और अधिकतम में जो अन्तर है वह उचित हो और परिवर्तनशील हो। न्यूनतम एवं अधिकतम का अन्तर वर्तमान परिस्थिति में एक संक्रमणकालीन सिद्धान्त होगा। इसका अन्तिम लक्ष्य यही है कि धीरे-धीरे वह न्यूनतम एवं अधिकतम का अन्तर ही समाप्त हो जाय।
- इस सिद्धान्त के अनुसार जो उत्पादन होगा वह केवल व्यक्तिगत लाभवासना से बिल्कुल नहीं होगा, बल्कि उसके पीछे उत्पादन की आधारशिला सामाजिक आवश्यकता होगी, ताकि प्रत्येक अपनी शक्ति को सामाजिक हित में लगाये।
- प्रत्येक नागरिक का मर्यादित जीवन होगा ताकि वह अपनी आर्थिक शक्ति का सही प्रयोग कर सके। यदि कोई व्यक्ति इन शक्तियों का दुरुपयोग करता है तो वह अपने व समाज के प्रति अन्याय करता है और उसे अनैतिक कार्य माना जायगा। अपने कर्तव्य का वह उचित पालन नहीं करता, इसलिए समाज को यह अधिकार है कि उसे बर्बादी करने से रोके।
- प्रत्येक व्यक्ति उस सम्पत्ति का जो उसके पास है स्वामी नहीं होगा, बल्कि उस सम्पत्ति का प्रयोग समाज के लिए उत्तरदायी होगा। उस सम्पत्ति में से एक मर्यादा के भीतर ही कुछ भाग वह स्वयं के उपयोग में लायेगा और अन्य भाग को समाज के प्रयोग में लगायेगा।
- प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायी होगा। शरीर की रक्षा करना एक तप है, जिससे कि व्यक्ति समाज का अधिक से अधिक हित कर सके। यह उसका पुनीत कर्तव्य है उसका दूसरा कर्तव्य समाज के प्रति है। जो भी वह उत्पादन करेगा वह समाज को समर्पित करेगा। वह स्वामी नहीं होगा, अपितु सारे उत्पादन को सही दिशा में ले

जायगा और उस उत्पादन को समर्पित करके तब समाज की स्वीकृत से उसका उपयोग करेगा। तीसरा कर्तव्य व्यक्ति का प्रकृति के प्रति है। प्रकृति की दी हुई शक्तियों को बर्बाद न करना बल्कि उन्हें संरक्षण प्रदान करना। उसका ही प्रयोग करना, जितना आवश्यक हो। प्रकृति के साधन सबके लिए उपलब्ध हों। किसी प्रकार से प्राकृतिक साधनों की बर्बादी न हो सके उसके लिए व्यक्ति उत्तरदायी होगा। इस प्रकार से स्वयं व्यक्ति तथा समाज के लिए जो वस्तुएं या शक्तियां अपेक्षित हैं उन सबका ट्रस्टी व्यक्ति होगा इस अर्थ में कि उसका उपभोग सारे समाज के लिए उपलब्ध हो सके और समाज की कर्तृत्वशील निरन्तर बढ़ती रहे।

- यदि कोई व्यक्ति ट्रस्टीशिप के इस सिद्धान्त की अवहेलना करता है तो ऐसी स्थिति में समाज को यह अधिकार है कि उसकी इस शक्ति का प्रयोग स्वयं अपनी देखरेख में करें। इस प्रकार से मनुष्य की आर्थिक शक्ति का प्रयोग सामाजिक हिम में कराने का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।
- गांधी जी के अनुसार, 'मनुष्य उन दिव्य शक्तियों को खो बैठेगा, जिनके द्वारा उसे सम्पत्ति संग्रह का हुनर मालूम रहता है। अहिंसात्मक असहयोग ही एक ऐसा अचूक साधन है, जो ट्रस्ट पद्धति को ला सकता है, क्योंकि समाज में धनवादन बिना गरीब के सहयोग के धन संग्रह नहीं कर सकता है।'।

4.3 ट्रस्टीशिप—थातेदारी उत्तरदायित्व

ट्रस्टीशिप का अर्थ नहीं है कि परम्परा से एवं परिस्थिति से जो धन किसी व्यक्ति को प्राप्त हो गया है। उसे दूसरे का धन समझकर उससे मुक्त हो जाय। मनुष्य उसे अपनी सम्पत्ति न समझे। धनिकों के लिए, मालिकों के लिए ट्रस्टीशिप का यही अर्थ है कि संग्रह का विसर्जन करना है। केवल धनिक ही नहीं, वरन् श्रमिक भी अपने को अपने श्रम का ट्रस्टी माने। इसीलिए हरेक मनुष्य को यह समझना चाहिए कि जो कोई अर्जित करता है और अपने श्रम से अर्जित करता है उस पर अधिकार नहीं है। उसका उस वस्तु की आवश्यकता पर अधिकार है। उसका उसकी भूख पर अधिकार है, जिसके लिए वह श्रम करता है। गरीब आदमी भी यदि अपनी रोटी कमाता है, जो उस रोटी पर उसका अधिकार नहीं है वरन् भूख पर उसका अधिकार है। यदि कोई पड़ोसी भूखा है तो उसे रोटी बांटकर खाना, उसे रोटी देकर खाना चाहिए, यही ट्रस्टीशिप की भावना है, पूर्णादर्श है। पूंजीवाद में उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत संग्रह होता है, लेकिन साम्यवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों का संग्रह कोई नहीं कर सकता, उपभोग की वस्तुओं का संग्रह हो सकता है। इसलिए कि उपभोग की वस्तुओं का संग्रह एक विशेष मात्रा से अधिक नहीं हो सकता। गांधी जी ने उससे आगे की बात कही और उन्होंने उपवास का व्रत सिखाया।

इसी आधार पर जो सामाजिक निर्माण होगा वह इसी व्रत पर आधारित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को ट्रस्टी समझे ताकि समाज में सबका निर्वाह हो सके। भूखे को रोटी मिले, नंगे को तनभर वस्त्र मिले, लेकिन समाज में यह भीख के रूप में न मिले। पहला चरण यही होना चाहिए, इनके उपरान्त समाज में यह भीख के रूप में न मिले। पहला चरण यही होना चाहिए, इनके उपरान्त समाज में सभी के सहयोग से सभी अपनी-अपनी शक्तियों पर अपना कर्तव्य समझकर उत्पादन में वृद्धि करें। जब अधिक उत्पादन हो तो हम उसके अधिकारी न बनें, बल्कि दूसरों की आवश्यकताओं को हम ध्यान में रखें और दूसरा हमारी आवश्यकताओं पर ध्यान दें।

ट्रस्टीशिप के सम्बन्ध में गांधी ने कहा था कि— ट्रस्टीशिप का मेरा सिद्धान्त कोई फिसलने वाली चीज नहीं है, और न वह कोई गोरखधंधा ही है। मुझे विश्वास है कि वह अन्य और सिद्धान्तों के बाद तक जीवित रहेगा, क्योंकि वह तत्त्वदर्शन और धर्म के आधार पर स्थित है। यदि सम्पत्तिवानों ने अभी तक उसका अनुपालन नहीं किया, तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि सिद्धान्त की असत्य है, उससे तो धनवानों की कमजोरी ही सिद्ध होती है। अहिंसा से मेल रखनेवाला अन्य दूसरा सिद्धान्त है ही नहीं। यदि ट्रस्टी, ट्रस्टी के कारोबार में गफलत करे तो राज्य को अधिकार होगा कि ट्रस्ट सम्पत्ति उसके अधिकार में ले लें। इस दृष्टि से यदि जमींदार या पूंजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करता पाया जाय और जनता की ओर से स्वतंत्र प्रयत्न अपर्याप्त हो, तो स्टेट भिन्न-भिन्न प्रकार की जमींदारी

प्रथाओं का खात्मा कर दे और मजदूरों के प्रतिनिधियों के साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन का स्वामित्व और प्रबन्ध ग्रहण करे।

गांधी जी के शब्दों में भूमि में थातेदारी का अर्थ है—भूमि में ट्रस्टीशिप का मतलब है मैं जमीन को नष्ट नहीं करूंगा। आज मेरे पास जिस रूप में है उससे ज्यादा सुधार कर समाज को दूंगा। भूमि का अच्छा से अच्छा प्रयोग समाज के हित में करूंगा।

गांधी जी ने ट्रस्टीशिप के सिलसिले में उठने वाले प्रश्नों का उत्तर दिया है। उन्होंने कहा कि—

- ट्रस्टी के सिवाय जनता के और कोई अधिकारी नहीं और चूंकि राज्य जन-प्रतिनिधि कहलाता है, इसलिए राज्य ही जब तक उसकी स्थिति न मिट जाय, ट्रस्ट सम्पत्ति को संभालने वाला होगा।
- ट्रस्टी को ट्रस्ट का कार्यभार सम्हालने की एवज में स्टेट से कमीशन मिलेगा।
- ट्रस्टी, ट्रस्ट-सम्पत्ति की रक्षा अहिंसात्मक तरीके से करेगा।
- यदि ट्रस्टी, ट्रस्ट के कारोबार में गफलत करे, तो स्टेट को अधिकार होगा कि ट्रस्ट-सम्पत्ति अपने अधिकार में ले ले।
- यदि जमींदार पूंजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करता पाया जाय और जनता की ओर से स्वतंत्र प्रयत्न अपर्याप्त हों तो स्टेट भिन्न-भिन्न प्रकार की जमींदारी-प्रथाओं को खात्मा कर दे और मजदूरों के प्रतिनिधियों के साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन का स्वामित्व और प्रबन्ध ग्रहण करें।

अन्त में उन्होंने कहा— जिस प्रकार यूक्लिड की बिन्दु की परिभाषा है और अप्राप्य होती है, उसी प्रकार पूर्ण ट्रस्टीशिप (निक्षेपाधिकारत्व) एक अमूर्त भाव है लेकिन यदि हम प्रयत्न करें तो हम अन्य साधनों की अपेक्षा उसके द्वारा पृथ्वी पर साम्यानुभव की ओर आगे बढ़ने के योग्य होते जायेंगे।

अभ्यास प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. गांधी के आर्थिक चिंतन के नैतिक और आध्यात्मिक आधारों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आर्थिक संदर्भों में स्वदेशी की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. ट्रस्टीशिप के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गांधी ने पूर्ण ट्रस्टीशिप की तुलना किससे की थी—
अ. यूक्लिड के बिन्दु ब. पिरामिड स. वृत्त की परिधि द. त्रिभुज का कोण
2. Love the Neighbour गांधी के किस सिद्धान्त की व्याख्या करता है—
अ. वर्णाश्रम ब. स्वदेशी स. ट्रस्टीशिप द. ग्रामोद्योग
3. 'इच्छाविहीनता का सिद्धान्त किसने दिया—
अ. जे.के. मेहता ब. महात्मा गांधी स. कार्ल मार्क्स द. लुई फिशर
4. निम्न में से किस पुस्तक में गांधी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना की है—
अ. सत्य के प्रयोग ब. हिन्द स्वराज

- स. मेरे सपनों का भारत द. इनमें से कोई नहीं
5. वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के प्रणेता थे—
अ. महात्मा गांधी ब. कार्ल मार्क्स स. डार्विन द. हक्सले
6. समाज परिवर्तन का आर्थिक आधार है—
अ. शरीर श्रम ब. स्वदेशी
स. ट्रस्टीशिप द. उपरोक्त में से कोई नहीं
7. की भावना उच्च चरित्र की निशानी है।
8. पश्चिम की आर्थिक संरचना का लक्ष्य है।
9. यदि जीवन वास्तविकता है तो भी वास्तविकता है।
10. का सिद्धान्त एकांगी और भ्रांतिपूर्ण है।

इकाई 3
गांधी के प्रमुख आर्थिक विचार

- अ. औद्योगीकरण और उसकी आलोचना
- ब. श्रम पूंजी सम्बन्ध
- स. ग्रामोद्योग एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था
- द. गांधी के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता

उद्देश्य

- 1. गांधी के प्रमुख आर्थिक विचारों को जानना।
- 2. गांधी की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की संकल्पना का अध्ययन करना।
- 3. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गांधी के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता को स्पष्ट करना।

संरचना

- 1. औद्योगीकरण और उसकी आलोचना
 - 1.1 औद्योगीकरण एवं यंत्रीकरण के दोष
 - 1.2 उद्योगों में यंत्रों का वांछित स्वरूप
 - 1.3 सर्वोदय अर्थशास्त्र में यंत्रों का स्थान
- 2. श्रम और पूंजी के संबंध में गांधी विचार
 - 2.1 मजदूरों का हित
 - 2.2 मजदूरों को समुचित वेतन
 - 2.3 मजदूरों में जागृति
 - 2.4 मजदूरों को अहिंसा की सीख
 - 2.5 श्रम मीमांसा
 - 2.5.1 श्रम की मानवीय विशिष्टताओं का संरक्षण
 - 2.5.2 शारीरिक और बौद्धिक श्रम का पुरस्कार
 - 2.5.3 गांधी की कर्ममीमांसा में श्रम का महत्व
- 3. ग्रामोद्योग एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था
 - 3.1 ग्रामोद्योग
 - 3.2 खादी : विकेन्द्रित उद्योगों की धुरी
 - 3.3 रचनात्मक कार्यक्रम का स्वरूप
 - 3.3.1 साम्प्रदायिक एकता
 - 3.3.2 अस्पृश्यता निवारण
 - 3.3.3 मद्य निषेध

- 3.3.4 खादी
- 3.3.5 अन्य ग्रामोद्योग
- 3.3.6 गांवों की सफाई
- 3.3.7 बुनियादी शिक्षा
- 3.3.8 प्रौढ़ शिक्षा
- 3.3.9 आदिवासियों की सेवा
- 3.3.10 स्त्रियों की उन्नति
- 3.3.11 सफाई की शिक्षा और स्वास्थ्य
- 3.3.12 प्रांतीय भाषा
- 3.3.13 राष्ट्रभाषा
- 3.3.14 आर्थिक समानता के लिए प्रयत्न
- 3.3.15 किसानों का संगठन
- 3.3.16 मजदूरों संगठन
- 3.3.17 विद्यार्थियों का संगठन
- 3.3.18 प्राकृतिक चिकित्सा

3.4 गांधीवाद और ग्रामीण विकास

4. गांधी के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता

1. औद्योगीकरण और उसकी आलोचना

भारत के लिए औद्योगीकरण लाभदायक है या हानिप्रद है इसका निर्णय स्वविवेक से किया जा सकता है। गांधी का इस सम्बन्ध में अपना अलग दृष्टिकोण था। उन्होंने मशीन के प्रयोग एवं औद्योगीकरण की एक सीमा मानी। उनके विचार से तो इस प्रकार का औद्योगीकरण भारत के लिए हानिप्रद है। उन्होंने सीमित औद्योगीकरण का विचार रखा।

गांधी ने कहा था कि सामान्य बुद्धि रखने वाले व्यक्ति की हैसियत से मैं जानता हूं कि मनुष्य उद्योग के बिना जिंदा नहीं रह सकता। इसलिए मैं उद्योगीकरण के खिलाफ नहीं हो सकता। लेकिन यंत्रिकरण उद्योग के बारे में एक बड़ी चिंता है। यंत्र से उत्पादन बहुत तेजी से होता है। और उसके साथ इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था आ जाती है जिसको मैं समझ नहीं सकता। ऐसी चीज को स्वीकार नहीं किया जा सकता जिसके बुरे परिणामों को मैं उससे होने वाले लाभ की अपेक्षा ज्यादा पाता हूं। मैं चाहता हूं, हमारे देश के करोड़ों नौजवान लोग स्वस्थ और सुखी हों और आध्यात्मिक दृष्टि से उनका विकास हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी तक हमें यंत्रों की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहां अभी भी बहुत हाथ, ज्यादा हाथ, बेकार हैं। लेकिन जब हमारा बौद्धिक विकास हो जायेगा और हमें महसूस होगा कि हमें यंत्रों की आवश्यकता है, तब हम अवश्य उनको ग्रहण करेंगे। हमें उद्योग चाहिए तो इसके लिए हमें उद्यमी बनना होगा। पहल हम स्वावलम्बी बनें तो हमें दूसरों के नेतृत्व की उतनी आवश्यकता नहीं रहेगी। जब और जैसे हमें आवश्यकता होगी हम यंत्रों को दाखिल करेंगे। एक बार हम अहिंसा के आधार पर अपना जीवन गढ़ लें तब फिर यंत्रों का नियंत्रण करना हम जान जायेंगे।

पण्डित नेहरू उद्योगीकरण चाहते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उसका राष्ट्रीयकरण कर देने से वह पूंजीवाद से दोषों के मुक्त हो जायेगा। मेरी अपनी राय है कि उद्योगवाद में ये दोष निहित हैं और कितना भी राष्ट्रीयकरण क्यों न किया जाय उन दोषों को दूर नहीं किया जा सकता। कारखानों की सभ्यता पर हम अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते, स्वावलम्बी गांवों की बुनियाद पर वह किया जा सकता है—ग्रामीण आर्थिक रचना की जैसी मेरी कल्पना है उसमें शोषण बिल्कुल समाप्त हो जाता है

और शोषण तो हिंसा का सार है। इसलिए अगर हमें अहिंसक बनना हो तो पहले ग्रामीण वृत्तिवाला बनना होगा। अहिंसा पर आधारित समाज गांवों में बसे हुए समुदायों का ही हो सकता है, जहां स्वैच्छिक सहयोग एक प्रतिष्ठित और शांतिमय जीवन की अनिवार्य शर्त है। किसी को भी भोजन और वस्त्र का अभाव नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हर एक को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त काम मिलना चाहिए और यह आदर्श सबके लिए तभी प्राप्त हो सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जरूरी उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में हों। ये सबको मुक्त रूप से उपलब्ध होने चाहिए जैसे हवा और पानी है, दूसरों के शोषण के लिए इन्हें व्यापार का साधन नहीं बनाया जाना चाहिए।

1.1 औद्योगीकरण एवं यंत्रीकरण के दोष

गांधी का मानना था कि बड़े पैमाने पर माल उत्पन्न करने का पागलपन ही दुनिया की मौजूदा संकटमय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। एक क्षण के लिए मान भी लिया जाय कि यंत्र मानव-समाज की सारी आवश्यकताएं पूरी कर सकते हैं, तो भी उसका यह परिणाम तो होगा ही कि उत्पादन कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रित हो जायगा और इसलिए वितरण की योजना के लिए हमें द्राविडी प्राणायाम करना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि जिन क्षेत्रों में वस्तुओं की आवश्यकता है वहीं उनका उत्पादन हो और वहीं वितरण हो, तो वितरण का नियंत्रण अपने आप हो जाता है। उसमें धोखा-धड़ी के लिये कम गुंजाइश होती है और सट्टे के लिए तो बिल्कुल नहीं। गांधी जी ने भारत की समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् इस बड़े पैमाने के औद्योगीकरण का विरोध किया। भारत जैसे अधिक जनसंख्या और गरीब देश के लिए बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग लाभप्रद नहीं होगा।

औद्योगीकरण में धन का संजय कुछ लोगों में हो जाता है। सारी अर्थव्यवस्था देश के कुछ लोगों द्वारा संचालित होती है। इससे स्वाभाविक है समाज में आर्थिक असमानता हो। जब धन का सारा काम कुछ व्यक्ति करेंगे तो उनको प्रलोभन होगा और समाज में असमानता फैलेगी। अतः भारत जैसे गरीब देश के लिए औद्योगीकरण का वह रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता जो कि योरोप के लिए आज स्वीकार किया गया है। गांधीजी के विचार से औद्योगीकरण का यह तरीका किसी भी देश के लिए लाभप्रद नहीं है। गांधीजी आर्थिक संगठन को इस ढंग का बनाना चाहते थे जिससे जनसाधारण को लाभ हो और समाज में अधिकतम आर्थिक समानता आये।

बड़े पैमाने के उत्पादन में उपभोक्ता की सच्ची जरूरतों का ध्यान नहीं रखा जाता। अगर बड़े पैमाने का उत्पाद अपने-आप में एक हितकारी वस्तु हो, तो उसे अनन्त गुना बढ़ सकना चाहिए। लेकिन यह निश्चित रूप से बताया जा सकता है कि बड़े पैमाने का उत्पादन अपने साथ अपनी मर्यादाएं लेकर चलता है। अगर दुनिया के समस्त देश बड़े पैमाने की उत्पादन पद्धति को अपना लें, तो उनके माल के लिए बड़े बाजार नहीं मिलेंगे। उस स्थिति में बड़े पैमाने के उत्पादन को रुकना ही होगा। विकसित राष्ट्र दुनिया की तथाकथित कमजोर या असंगठित जातियों का शोषण करते हैं। यदि एक बार इन जातियों को इस चीज का प्राथमिक ज्ञान हो जाय और इस बात का निश्चय कर लें कि वे अब अपना शोषण नहीं होने देंगी, तो फिर वे जो कुछ पैदा कर सकती हैं, उतने से ही संतोष कर लेंगी। ऐसा हो तो जहां तक मुख्य आवश्यकताओं का सम्बन्ध है, बड़े पैमाने का उत्पादन मिट जायगा।

औद्योगीकरण में यंत्रों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन से समाज को विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समाज में आर्थिक असमानता उत्पन्न हो जाती है। औद्योगीकरण में उत्पादन केन्द्रित होता है। सारा कच्चा माल गांव से शहर की ओर जाता है। फलस्वरूप शहरों की वृद्धि और गांवों का ह्रास होता है। इससे ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था असंतुलित हो जाती है। गांधीजी ने कहा—मैं ऐसी मशीन का स्वागत करूंगा जो झोपड़ी में रहने वाले करोड़ों मनुष्यों के बोझ को हल्का करती है। इस बड़े पैमाने के उत्पादन से बेकारी फैलती है। आज तक जो काम ग्रामोद्योग के माध्यम से करते आ रहे थे, वह आज एक निर्जीव कारखाने में तैयार होने लगा है, फलस्वरूप सजीव उत्पादक बेकार हो गया। आज अधिक से अधिक काम निर्जीव मशीनों के माध्यम से किया जा रहा है। यही कारण है कि दिन पर दिन बेकारी की समस्या बढ़ रही है। बेकार मनुष्य क्या करे? उसे खाना कहां से मिले यह सबसे बड़ी समस्या हमारे सामने है। जब मनुष्य बेकार रहता है तब उसके मन में खुराफात सूझती है और समाज में अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार फैलता है।

यंत्रोद्योग से विकास के समाज में अनेक अनावश्यक एवं विलासिता की चीजों का उत्पादन होने लगा। फलस्वरूप मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ गयी हैं। मनुष्य मशीनों से बनी चीजों के आकर्षण में आ गया और उसी की तृप्ति करने में अधिक व्यय करने लगा। फलस्वरूप वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की तृप्ति अच्छी प्रकार से न करके पूरक आवश्यकताओं की तृप्ति में अधिक धन व्यय कर देता है। अगर इस प्रकार केन्द्रित उत्पादन यंत्रोद्योग का विकास नहीं हुआ होता तो यह बुराई नहीं उत्पन्न होती। उस समय विकेन्द्रित ढंग से उत्पादन होता और सामान में समानता कायम रहती। यंत्रोद्योग की एक बड़ी बुराई आर्थिक विषमता और वर्ग द्वेष का विस्तार है। कारखानों में उत्पादन होने से मालिक और मजदूर की भावना का विकास हुआ। मजदूरों का अलग संगठन बना और समाज में एक नये वर्ग का जन्म हुआ। मालिक एवं मजदूर का संघर्ष बढ़ा। इस औद्योगीकरण से ही हड़ताल, तालाबंदी आदि की समस्या सामने आयी।

औद्योगीकरण से ग्रामोद्योग का ह्रास हुआ। फलस्वरूप लोगों में रचनात्मक प्रवृत्ति एवं स्वाभिमान का लोप हो रहा है। आज उत्पादन का काम नीरस हो गया है। मशीन के द्वारा लगातार कोई व्यक्ति एक ही चीज का एक ही ढांचे की वस्तु का उत्पादन करता रहता है। उदाहरण स्वरूप जूते को ले सकते हैं। बड़े-बड़े पैमाने के कारखाने में एक व्यक्ति जूते का एक हिस्सा ही अच्छी तरह बनाना जानता है। वह लगातार उसी हिस्से का उत्पादन करता है अतः उसमें नीरसता आ जाती है। आज उत्पादन करने वाले और उपभोग करने वाले में कोई सम्पर्क नहीं रह गया है। कारखानों में उत्पादन होगा पर उसका उपभोग कौन कहां और किस प्रकार करेगा पता नहीं। कोई वस्तु अमेरिका में बनती है पर उसका उपभोग भारत में आसानी से किया जाता है, अतः आज उत्पादक एवं उपभोक्ता में सम्बन्ध नहीं है।

औद्योगीकरण के मूल में व्यापार रूपी बड़ा संकट छिपा रहता है। इस औद्योगीकरण से अधिक उत्पादन होगा। फलस्वरूप उसके लिए व्यापार की खोज होगी और व्यापार की होड़ में युद्ध एवं साम्राज्यवाद का उदय होगा। आज सभी देश स्वतंत्र हो रहे हैं, सभी देश कम से कम आयात एवं अधिक से अधिक निर्यात करना चाहते हैं, ऐसी दशा में समस्या के समाधान का एक ही रास्ता है कि हम उतना ही उत्पादन करें जितनी हमारी आवश्यकता हो। गांधीजी यंत्रोद्योग की मर्यादा निश्चित करते थे। कुछ बड़ी-बड़ी एवं विशेष वस्तुओं का उत्पादन ही केन्द्रित एवं औद्योगीकरण के माध्यम से होना चाहिए। जैसे बिजली, पानी की व्यवस्था, रेल, डाक, यातायात, जहाज एवं अन्य बड़ी-बड़ी चीजों का उत्पादन केन्द्रित ढंग से किया जा सकता है। नये-नये आविष्कारों के सम्बन्ध में गांधी का विचार था—'मैं हर एक आविष्कार का स्वागत करूंगा जिससे सबका लाभ सिद्ध होता है। लेकिन आविष्कार आविष्कार का फर्क है। मैं हजारों आदमियों को एक साथ ही मारने का सामर्थ्य रखने वाले जहरीली गैस का स्वागत तो नहीं कर सकता।

यह निर्विवाद है कि मनुष्य कर्मनिष्ठ तथा श्रमनिष्ठ है। आलस्य मनुष्य का स्वभाव नहीं है। परंतु वह जो स्वभाव के विपरीत व्यवहार करता है वह संस्कारजन्य है तथा समय के मूल्यों के दोष के कारण है। समाज में सभी प्रकार का उत्पादन कार्य, श्रम का कार्य अप्रतिष्ठादायक माना जाता है। कुछ कार्य अरुचिकर हैं, कुछ कार्य गंदे तथा भारी हैं। कसाई का काम, भंगी का काम अरुचिकर तथा गंदा है। कारीगर का काम, मजदूर का काम अप्रतिष्ठित है, परंतु इसके साथ वह रुचिकर भी हो। कार्य में कष्ट का होना आवश्यक है, परंतु इसके साथ वह रुचिकर भी हो। काम में आनंद तथा प्रतिष्ठा सभी चाहते हैं। काम, दाम, प्रतिष्ठा तथा आनन्द को एक जगह ला देना बहुत आवश्यक है। गांधीजी ने सारे व्यवसाय में इन्हीं को एक स्थल पर लाने का प्रयास किया है। आज के अर्थशास्त्री इन्हीं तत्त्वों को कतिपय ढंग से लाना चाहते हैं, परंतु सफल नहीं हो पाए। प्रेरणा की समस्या समता की समस्या अब भी बनी रह गयी है। गांधीजी ने सभी व्यवसायों में इसे एक स्थल पर ऐसी खूबी से ला दिया है कि प्रत्येक कार्य को पूजा मानने लगता है। इसीलिए गांधीजी की क्रांति स्वच्छता से प्रारंभ होती है। चूल्हा, चक्की, चर्खा उस क्रांति के वाहक बनते हैं। इसीलिए व्यवसाय में तकनीक ऐसी हो, जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़कर उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाये। आज भारत ऐसे देश में व्यवसाय को जाति से जोड़ा गया है परंतु हमें व्यवसाय को संस्कार के साथ जोड़ना चाहिए। यह संस्कार तभी बनेगा, जब मनुष्य स्वयं अपने हाथ से अपना सभी कार्य करेगा। जब हम अपना पाखाना साफ करते हैं तो स्वच्छता का संस्कार बनता है। जब हम अपना वस्त्र स्वयं बनाते हैं, अपना अन्न स्वयं उत्पन्न करते हैं तो हमारा कार्य करने का संस्कार

बनता है। अनुत्पादक व्यवसाय सर्वोदय समाज में नहीं होंगे जैसे ब्याज पर चलने वाले, किराये पर चलने वाले, ठेकेदारी, दलाली पर चलने वाले, मनुष्य के गुनाहों पर चलने वाले, मनुष्य की बीमारियों पर चलने वाले तथा मनुष्य के व्यसनों पर चलने वाले।

1.2 उद्योगों में यंत्रों का वांछित स्वरूप

प्रत्येक व्यवसाय में परिश्रम आवश्यक है। कुछ श्रम ऐसा है जो अरुचिकर है फिर भी आवश्यक है। कुछ ऐसा है जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो आवश्यक नहीं है परंतु जीवन निर्वाह के लिए अर्थात् स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। व्यायाम तथा श्रम को उत्पादकता के साथ जोड़ना ही प्रमुख समस्या है। यदि श्रम को रुचिकर मानकर निकाल दें तो अलग से व्यायाम की व्यवस्था करनी पड़ेगी। इसलिए जहां तक संभव हो इस श्रम को आवश्यकताओं के साथ जोड़ना चाहिए। जब हम आवश्यक श्रम को यंत्र को सौंप देंगे तो परिश्रम और उत्पादन अलग-अलग हो जायेंगे। यही से मनुष्य का ह्रास आरंभ होता है। मनुष्य की सामाजिकता इस पर निर्भर करती है कि वह कितना परिश्रम स्वयं करता है और कितना यंत्रों को सौंपता जाता है। उत्पादन कार्य केवल आर्थिक कार्य नहीं है। इसमें मानवता तथा संस्कृति का भी आशय है। केवल अपनी आवश्यकता, अपनी उदरपूर्ति मानवता तथा संस्कृति नहीं है। इसलिए श्रम को उत्पादन से अलग करना कुसंस्कार है। सारे व्यवसाय, उद्योग मनुष्य की शारीरिक शक्ति को बढ़ायें। शारीरिक शक्ति की बुद्धि से मनुष्य का शरीर बलवान होगा तथा उसमें सहन-शक्ति भी आयेगी। यही नहीं बल्कि मनुष्य का जीवन कलामय होगा। जब कला का सम्बन्ध मनुष्य के उत्पादक श्रम से होता है तभी वह सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण करती है। इसलिए आवश्यक तथा फलदायक परिश्रम को उत्पादन के साथ गांधी जी जोड़ देते हैं। छोटे-छोटे उद्योगों, ग्रामोद्योग की इस प्रक्रिया में ही ये सारी बातें पूर्ण होती हैं। इसीलिए इस पर विशेष बल दिया गया। वर्तमान अराजकता और अंधाधुंधी का कारण आज का यह पोषण है। और यंत्रों का मेरा बुनियादी विरोध इस सत्य के आधार पर खड़ा है कि यंत्र ही वह चीज है जिसने इन राष्ट्रों यूरोप और अमेरिका को दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने की क्षमता दी है।

1.3 सर्वोदय अर्थशास्त्र में यंत्रों का स्थान

वैज्ञानिक युग में यंत्रों के विषय में सर्वोदय के संदर्भ में बहुत भ्रम है। चूंकि इस अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य सभी मनुष्यों को आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करना है इसलिए यंत्रों की भी मर्यादा है। पहले संहारक यंत्र हैं जैसे लड़ाई के हथियार बन्दूक, बम आदि। इनकी इस अर्थशास्त्र में मान्यता नहीं है। दूसरे द्रुतगामी यंत्र हैं जैसे रेल, मोटर, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीविजन आदि इनकी मान्यता है। तीसरे जीविकोपार्जन के यंत्र हैं जिनके विषय में इस अर्थशास्त्र में मतभेद है। ये यंत्र मनुष्य को स्वतंत्र तथा सुखी एवं स्वावलम्बी बना दें। जब व्यक्ति अपनी जीविका के लिए दूसरे पर निर्भर रहता है तो वह अधूरी स्वतंत्रता होती है। इतिहास साक्षी है कि जीविका के साधनों पर नियंत्रण करके ही कोई गुलाम बनाया जा सका है। प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, गांव, स्वावलम्बी बनें। इससे पूरा राष्ट्र स्वावलम्बी होता है और हर व्यक्ति के जीवन की जो असमर्थता व मजबूरी है वह समाप्त होती है। इसलिए इस अर्थव्यवस्था में उत्पादन के छोटे-छोटे उपकरण व साधनों को विशेष महत्ता दी गई है। इसका अर्थ यह नहीं कि इन उपकरणों में कार्यक्षमता न हो। बहुत ही क्षमताशील छोटे-छोटे यंत्र लोगों को प्राप्त हो, लेकिन उन यंत्रों का प्रयोग जीविकोपार्जन के लिए ही किया जाय, शोषण के लिए नहीं। अतः इन यंत्रों की एक मर्यादा होगी। इन यंत्रों की निम्नलिखित विशेषता होनी चाहिए—

- ये यंत्र क्षमताशील हों।
- इन यंत्रों को प्रत्येक व्यक्ति अपनी छोटी क्रयशक्ति से क्रय कर सके। इनका प्रयोग मालिक व मजदूर दोनों कर सकें।
- इन यंत्रों में एक यह विशेषता होगी कि अपने घर एवं परिवार के अंदर ही इन्हें रखकर एक स्वास्थ्यवर्धक वातावरण में कोई व्यक्ति प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार कम से कम खर्चीला, पारिवारिक वातावरण में यह यंत्र प्रत्येक व्यक्ति को जीविका का साधन देता है।
- ये यंत्र ऐसे हों जिनमें काम तथा आनन्द दोनों साथ-साथ हों। अन्य उद्योगों के साथ-साथ व्यक्ति की अन्य आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए प्रयोग में लाये जायेंगे। ऐसी स्थिति में

दोनों साथ-साथ चलेंगे। एक कार्य के थकने के बाद व्यक्ति दूसरे कार्य को अवकाश, परिवर्तन या आनन्द के रूप में कर सकेगा। इस प्रकार से हर व्यक्ति का श्रम पूर्णतया प्रयोग में आ सकेगा तथा उत्पादन वृद्धि भी होगी।

- ये यंत्र ऐसे हों जिनसे मनुष्य का शरीर टेढ़ा-मेढ़ा न हो सके। मनुष्य के एक ही अवयव को अधिक श्रम के कारण आघात न पहुँचेगा। आज जो शारीरिक तथा मानसिक असंगतियाँ आ जाती हैं, वे इन यंत्रों द्वारा नहीं हो सकेंगी।
- मनुष्य काम के साथ-साथ मनोरंजन व सांस्कृतिक विकास भी चाहता है। यह सांस्कृतिक विकास और उसके व्यक्तित्व का विकास काम पर निर्भर करता है। इसीलिए इन यंत्रों द्वारा काम के साथ-साथ मनुष्य का सांस्कृतिक विकास भी होगा।
- मनुष्य जब परावलम्बी होता है तब उसमें न तो स्वाभिमान होता और न तो उसकी आर्थिक जरूरतों की तृप्ति होती है। अतः यह यंत्र मनुष्य में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति पैदा करेगा। समाज में जो वर्ग व शोषण की भावना श्रम के प्रति अप्रतिष्ठा है वह दूर होगी।
- इन यंत्रों से प्रत्येक व्यक्ति को काम व प्रतिष्ठा मिलती है। साथ ही साथ दाम भी मिलता है। अर्थव्यवस्था स्वावलम्बन की नींव पर खड़ी होगी। इससे समाज में परस्परवलम्बी अर्थव्यवस्था आती है जिसके मूल में पारिवारिक वातावरण और स्वामित्व व पारिवारीकरण होता है। यही सर्वोदय द्वारा छोटे यंत्रों का योगदान है।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में बड़े एवं छोटे दोनों उद्योगों के लिए स्थान होगा। ऐसे उद्योगों का, जिन्हें विस्तृत पैमाने पर चलाना आवश्यक है, क्योंकि उनकी प्राविधिक स्थिति ऐसी है कि वे बड़े पैमाने पर ही चलाये जा सकते हैं, ताकि लागत प्रति इकाई कम हो और समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसका लाभ उठा सके, उनका बड़े स्तर पर चलाना ही आवश्यक एवं उचित होगा। सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग इसी प्रकार से चलेंगे। इनका स्वामित्व पंचायती या सामाजिक होगा। इन उद्योगों का जो प्रभाव है वह व्यक्ति को गुलाम बनाने से नहीं आ सकता, इसलिए इनका रूप बड़ा होगा, स्वामित्व पंचायती होगा या छोटे उद्योगों का पूरक होगा। जहाँ तक छोटे उद्योगों का सवाल है उनका स्वामित्व व्यक्तिगत होगा। ऐसे उद्योग, जो सामान्य वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और जिनका उपभोग व्यक्ति के लिए आवश्यक है निजी स्वामित्व के अंदर चलेंगे। ये छोटे उद्योग जैसे कृषि, पशु-पालन, वस्त्र उद्योग आदि ये ही मूलभूत उद्योग होंगे। यंत्रों का दुरुपयोग नहीं किया जायेगा।

इसलिए हमें यंत्रों का प्रयोग अधिक बुद्धिमानी तथा विवेक के साथ मर्यादित ढंग से करना चाहिए। महात्मा जी ने यंत्रों की मर्यादा पर विशेष बल दिया है। वे यंत्रों के विरोधी नहीं, बल्कि उसे मर्यादित करते हैं। चंद लोगों के हाथ में धन एवं सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने के लिए यंत्रों के संगठन को मैं बिल्कुल गलत समझता हूँ। आजकल यंत्रों की अधिकांश योजनाओं का यही उद्देश्य होता है। चरखे का आंदोलन यंत्रों द्वारा होने वाला शोषण और धन तथा सत्ता का यह केन्द्रीयकरण रोकने के लिए किया जा रहा संगठित प्रयत्न है। उत्पादन क्रिया, श्रम और यंत्र तीनों की एक मर्यादा आवश्यक है। शरीर के अस्तित्व के लिए कुछ कष्टदायक, अरुचिकर परिश्रम भी नितांत आवश्यक है।

इसलिए श्रम को पूर्णरूप से यंत्र को सौंप देना और पुनः कृत्रिम व्यायाम की खोज करना असामाजिक कार्य है। इससे स्वयं की प्रेरणा क्षीण होती है। ऐसे भी कार्य जिन्हें हम अकुशल कार्य कहते हैं, जिन्हें पशु, गुलाम और सामाजिक रूप से दीन लोगों से कराया जाता है, उन्हें भी मनुष्य के जीवन के साथ जोड़ देना चाहिए। ऐसे कार्य तो वैज्ञानिक रूप से यंत्रों द्वारा संभव हो, उन्हें यंत्रों को सौंपा जाय। यंत्र मनुष्यों को एक दूसरों से जोड़ने में सहायक हों न कि एक दूसरे के शोषण करने में अप्रतिष्ठा देने में सहायक हों।

2. श्रम और पूंजी के संबंध में गाँधी विचार

श्रमिक ट्रस्टी की भावना से प्रेरित होकर उत्पादन करे, ये बात तो सही मान ले सकते हैं, पर सबसे पहला और बड़ा प्रश्न तो यह है कि बेकार या भुखमरा तथा अधपेटा मजदूर कहाँ से इतनी शक्ति ला सकता है कि वह अपने गुजर-बसर के लिये पैदा कर ले और अधिक बचे उसे हर्षपूर्वक समाज में वितरण होने दे, इसलिये वह कौन सा उपाय है जिससे गाँधी सब को भरपेट भोजन और काम देने का

वायदा करते हैं। गाँधी की यह योजना है सर्वोदय की, जिसकी एक प्रधान मुल्क है। इस साधना पर जानने के पूर्व हमें यह जानना जरूरी है कि गाँधी के मन में श्रम शक्ति को कायम बनाये रखने के लिये उसे कौन-सी और कितनी सामग्री चाहिए और उनका लड़ाई वैतनिक श्रम से किस प्रकार है, अर्थात् उन श्रमिकों के लिये जो वेतन लेकर मजदूरी करते थे।

2.1 मजदूरों का हित

गाँधी ने मजदूरों के अधिकार और कर्तव्य की बात कही है। उन्होंने कहा है कि मजदूरों को उतनी ऊंची मजदूरी पाने का अधिकार है जितनी कि उद्योग अपनी शक्ति के अनुसार दे सकता है। और उनका कर्तव्य यह है कि वे अपनी मजदूरी के एवज में अपनी योग्यता के अनुसार काम करें। मजदूर जो चीज चाहते हैं और जो उन्हें मिलनी चाहिए। वह मात्र रोटिया नहीं है। असल में वे समाज दर्जे के नागरिकों की हैसियत से सम्योचित जीवन चाहते हैं, मनुष्य की हैसियत से न्याय चाहते हैं, असुरक्षा के भय से त्राण चाहते हैं। इसके सिवा उन्हें स्वच्छ और आरोग्य की दृष्टि से उपयोगी आदतें सीखने की, मितव्ययिता और उद्योग परायणता आदि-गुणों का विकास करने की तथा शिक्षा प्राप्ति की आवश्यकता है। उन्हें संस्कारवान बनना चाहिए और अपने आचरण में आदर्श पवित्रता और ईमानदारी प्रगट करना चाहिए। और इनके लिए उनमें उद्योग, आत्मीयता और धैर्य के साथ तथा बुद्धिपूर्वक श्रम करने की शक्ति होनी चाहिए।

गाँधी ने मजदूरों के हित पर प्रभाव डालने वाले दूसरे कई सवालों-जैसे मजदूरों के चुनाव में भ्रष्टाचार की बुराई, काम के घंटे, उनकी सुरक्षा, स्वास्थ्य, आवास व्यवस्था आदि पर भी विचार किया है, उन्होंने सरदारों के जरिये मजदूरों के चुनाव की प्रथा की निन्दा की। उन्होंने कहा है कि मजदूरों का चुनाव सरदारों के यानी ऐसे दलोंपालों के जरिये जिनका उद्देश्य मजदूरों को किसी भी तरह भर देना होता है, तो मजदूरों को इकरार की स्वतंत्रता नहीं रहती। दलाल काम की इच्छा रखने वाले आदमी के सामने कारखाने की नौकरी की बहुत बढ़िया तस्वीर पेश करते हैं और इस तरह करने के बाद उस आदमी को वस्तु स्थिति का पता चलता है तो वह बहुत निराशा का अनुभव करता है। जब तक आसपास ऐसे गरीब लोग हों जो बेकार हैं और काम चाहते हैं तब बाहर से मजदूर लाना गलत है।

उन्होंने काम के घंटे जो कम करने के लिये भी कहा। दुनिया का अनुभव बताता है कि काम के घंटे ज्यादा होने से काम ज्यादा नहीं होता बल्कि कम ही होता है। जिन्हें ज्यादा घंटे काम करना पड़ता है इन्हें बौद्धिक और नैतिक विकास के लिए समय नहीं मिलता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनकी दशा पशु की जैसी हो जाती है। इस अत्यन्त जरूरी सुधार के स्वेच्छापूर्वक कर डालने के लिए केवल थोड़े से साहस और आरंभ शक्ति की जरूरत है। मालिक उसे उदारतापूर्वक खुद नहीं करेंगे तो वह आगे-पीछे होने वाला है ही। लेकिन अगर यह दबाव के परिणाम स्वरूप होगा तो उसमें शोभा नहीं होगा। मजदूरों के काम के घंटे कम होने चाहिए। यह एक जगव्यापी आन्दोलन है जिसे कोई रोक नहीं सकता। सन 1920 के अपने एक भाषण में गाँधीजी ने अहमदाबाद के मिल मालिकों के काम के घंटे 12 से 10 करने के लिए और मजदूरों से 10 घंटे में ही 12 घंटे जितना काम कर देने का आग्रह किया था। एक दूसरी बुराई जिसके कारण अमुक वर्ग के मजदूरों को बहुत कष्ट भोगना पड़ता है, हद से ज्यादा मेहनत वाला काम करने की है। रिक्शा रवीचने का काम करने वालों के बारे में यह बात खास तौर पर सही है। उन्हें मर्यादा के बाहर इतनी सख्त मेहनत करनी पड़ती है कि छः साल में ही हृदय अथवा फेफड़े के रोग के शिकार हो जाते हैं और मर जाते हैं। यह बात उन्होंने एक पार्वतीय नगर में रिक्शा खींचने वाले मजदूरों की दशा का अध्ययन करने के बाद कही थी। उन्होंने कहा था, मुझे आश्चर्य होता है कि उन्हें यही दिखायी नहीं देता कि रिक्शा चालकों को हद से ज्यादा कठोर परिश्रम करना पड़ता है। उन्होंने इस बात की हिमायती की कि कारखानों में मजदूरों के तौर पर लिए मजदूरी के तौर पर काम में लगा दिया जाय यह कार्य राष्ट्रीय पतन की निशानी है। कोई भी राष्ट्र अपने बालकों का ऐसा दुरुप्रयोग नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करे तो अपने राष्ट्र पद के अयोग्य ठहरेगा। कम से कम सोलह वर्ष की उम्र तक तो बालकों को स्कूलों में रहने का अवसर मिलना ही चाहिए।

अपने एक लेख में उन्होंने इंग्लैण्ड की सरकारी कारखानों में काम करने वाली मजदूरों की सुरक्षितता उसकी प्रशंसा की थी। न केवल गंदे अथवा हानिकार धंधों में लगे हुए मजदूरों की सुरक्षा की बल्कि जनता की सुरक्षा की योग्य व्यवस्था के लिए भी जो उपाय किए जाने चाहिए उन्हें ढूँढ़ निकालने

में खूब सावधानी रखी गई है। भारत में हरिजनों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के साथ इस बात की तुलना करते हुए उन्होंने इस लेख में कहा था कि भारत की आबोहवा में मैले ओर खराब कामों में लगे हुए तथाकथित अछूतों की सुरक्षा के लिए और ऐसा काम करने वालों की छूत से जनता की सुरक्षा के लिए इंग्लैण्ड में जितना ध्यान दिया जाता है उससे भी ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है। ऐसे ध्यान के अभाव में मजदूर धूल और गंदगी के जीवित वाहन बन जायेंगे। मेहतरों की सुविधा और सुरक्षा के लिये उन्होंने ऐसे नियम बनाने को कहा कि उन्हें अमुक प्रकार के ऐसे बर्तन और झाड़ू आदि दिये जायें जिससे उन्हें गंदगी का हाथ से स्पर्श करने का जरूरत न रहे उसके सिवा उन्हें एसी सादी पोशाक भी दी जानी चाहिए। जिसे वे काम के समय पहने। चालू पद्धति का नतीजा यह होता है कि काम कम से कम होता है अस्वच्छता ज्यादा से ज्यादा होती है। और साथ ही रिश्वत चली है। भ्रष्टाचार फैलता है और सम्बद्ध लोग अशिष्टता सीखते हैं। इसलिए निरीक्षकों या अधिदर्शकों को (इंस्पेक्टरों या ओवरसियरों को) स्वच्छता के इस मानवपयोगी काम को दूसरों से किसी भी तरह करा लेने के बजाय खुद करने की तालीन मिलनी चाहिए। निर्धारित अल्पतम श्रेणी के घरों की व्यवस्था के बारे में गाँधीजी का कहना है कि “औद्योगिक प्रतिष्ठान 30 से 40 प्रतिशत तब मुनाफा घोषित करते हैं, लेकिन अपने सबसे कम वेतन पाने वाले कर्मचारियों के लिए घर की कोई सुविधा नहीं देते। कई जगह तो ये लोग, जो मालिकों को उनका मुनाफा कमाकर देत हैं, बिल्कुल अंधेरे और गंदी कोठरियों में रहते हैं। कई म्यूनिसिपैलिटियों भी अपने कम वेतन पाने वाले कर्मचारियों की आवाज सम्बन्धी जरूरतों के बारे में एकदम उपेक्षा का व्यवहार करती है। उस संबंध में उन्होंने इस बात का आग्रह किया कि अविवाहित, विवाहित और बाल-बच्चे वाले लोगों के लिए अमुक अल्पतम श्रेणी के घरों की व्यवस्था होनी ही चाहिए। मालिकों कर्मचारियों की यह प्राथमिक जरूरत अवश्य ही पूरी करनी चाहिए।

2.2 मजदूरों को समुचित वेतन

वेतन के सवाल पर लिखे गये गाँधीजी के लेखों में बहुत थोड़े ही ऐसे हैं जिनमें अहमदाबाद के कपड़ा उद्योग जैसे किसी बड़े उद्योग में प्रचलित वेतन दरों के बारे में विचार किया गया हो। इस विषय से सम्बद्ध बाकि के लेखों में हाथ कटाई तथा अन्य गृह उद्योगों के अल्पतम वेतन या वेतनों के माननीकरण की चर्चा है। अहमदाबाद के कपड़ा उद्योग में वेतनों के झगड़े पर अपना निर्णय देत हुए निर्णायक ने यह सिद्धांत पेश किया था कि जहाँ मजदूर को इतना वेतन नहीं मिलता जिससे वह समुचित जीवन मान का निर्वाह कर सके, वहाँ उसे अपने मालिक से वेतन को बढ़ाने के लिए कहने का अधिकार है। गाँधीजी ने निर्णायक के इस साहसपूर्ण निर्णय का स्वागत किया था। मजदूरी करके अपना पेट पालने वाले इन लोखों-करोड़ों के साथ न्याय करने के लिये हमें उन्हें ऐसा वेतना देना चाहिए जिससे उनका निर्वाह हो जाये। हमें उनकी असहयता का लाभ नहीं उठाने चाहिए। सच तो यह है कि यदि कोई उद्योग यह अल्पतम जीवन-वेतन न दे सकता हो, तो अपनी दुकान उठा लेनी चाहिए।

यह अल्पतम वेतन इतना अवश्य होना चाहिए कि (1) मजदूरों को ऐसा संतुलित, पर्याप्त और पोषक आहार मिल जाय, जिससे आदमी रोज आठ घंटा अच्छी तरह काम कर सकने में समर्थ हो या सशक्त बना रहे, (2) उसे पर्याप्त कपड़ा मिलता रहे, और (3) अच्छा घर और दूसरी सामान्य सुविधायें मिलती रहें।

हाथ-कटाई वालों के लिए अल्पतम मजदूरी तय करने का विरोध कुछ लोगों ने इस आधार पर किया था कि कतवैये खुद मजदूरी के पक्ष में अपना मत दें तो और किसी भी हालत में कतवैये की मजदूरी किसान की मजदूरी से अधिक होना नहीं चाहिए। इनमें पहली दलील तो वही है जो सब शोषक और अत्याचारी दिया करते हैं। दूसरी दलील के जवाब में गाँधीजी का यह कहना था कि किसान की मजदूरी जैसी कोई चीज नहीं मानी जाती है और किसान की हालत को दूसरों की हालत कैसी होनी चाहिए इसका मानदण्ड (स्टैण्डर्ड) नहीं मानी जा सकता। किसान को अपनी जमीन से इतना भी नहीं मिलता कि वह भर पेट खा सके या अपनी जमीन का पूरा लगान भी चुका सके। अखिल भारत चरखा संघ और अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ जैसी जन-हितकारी संस्थायें सस्ता खरीदने और मंहगा बेचने की व्यापारिक नीति का अनुसरण नहीं कर सकती। कारण, उनका उद्देश्य ग्रामोद्योग की वस्तुओं का सस्ता उत्पादन नहीं बल्कि बेरोजगारी से पीड़ित गाँव वालों को जीवन वेतन दे सकते वाला काम देते

हैं। इसलिए मापदण्ड तो उसी वेतन को माना जा सकता है जिससे किसान को अपनी रोजी-रोटी मिल जाये। इससे कुछ भी कम देने की कोशिश गुनाह जैसा ही है।

गांधीजी के सामने सबसे कठिन सवाल हाथ-कताई और दूसरे ग्रामोद्योगों के लिये अल्पतम राष्ट्रीय वेतन निर्धारित करने का था। और उन्होंने अन्त में यह निर्णय किया कि आठ घंटे डंटकर काम करते का मेहनताना आठ आना होना चाहिए। आठ घंटे के काम का अर्थ अच्छी योग्यता वाले कारीगर के द्वारा उतने समय में तैयार किया माल माना गया। इसके सिवा उन्होंने यह भी तय किया कि बिहार के कतैवये की गुजरात के कतैवये से कम मजदूरी देने का कोई कारण नहीं है। इसमें सदेह नहीं कि जीवन मान में अन्तर होन के कारण अलग अलग प्रान्तों में चीजों में अन्तर है। लेकिन आखिल भारत चरखा-संघ परिस्थितियों को उनके मौजूदा रूप में स्वीकार करने कि लिये बाध्य नहीं है। यदि वे अन्यायमूलक हैं तो संघ को चाहिये कि वह उन्हें बदले।

गांधीजी ने श्रमिकों के विषय में जो विचार व्यक्त किया है, वह इस प्रकार आसान मालूम हो, किन्तु यह रास्ता अन्त में कांटोवाला सिद्ध होता है। जो लोग तलवार के द्वारा जीवित रहते हैं, वे तलवार से ही मरते हैं। यूरोप में कोई भी सुखी नहीं दिखाई देता, क्योंकि किसी को भी संतोष नहीं है। मजदूर पूंजीपति का विश्वास नहीं करता और पूंजीपति को मजदूर में विश्वास नहीं है। दोनों में एक प्रकार की स्फूर्ति और ताकत है, लेकिन वह जो बैलों में भी होती है। बैल भी मरने की हद तक लड़ते हैं। कैसी भी गति प्रगति कर रहे हैं। हमारे पास यह मानने का कोई कारण नहीं है कि योरोप के लोग प्रगति कर रहे हैं। उनके पास जो पैसा है, उससे यह सूचित नहीं होता कि लेकिन विदुर या सुदामा की तुलना में वह गरीब ही था। आज दुनिया विदुर और सुदामा की तुलना में वह गरीब ही था। आज दुनिया विदुर और सुदामा की पूजा करती है, लेकिन दुर्योधन का नाम तो उन सब बुराइयों के प्रतीक के रूप में ही याद किया जाता है, जिनसे आदमी को बचना चाहिए। पूंजी और श्रम में चल रहे संघर्ष में आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि गलती अकसर पूंजीपतियों से ही होती है। लेकिन जब मजदूरों को अपनी ताकत का पूरा भान हो जायेगा, तब मैं जानता हूँ कि वे लोग पूंजीपतियों से भी ज्यादा अत्याचार कर सकते हैं। यदि मजदूर मिल-मालिकों की बुद्धि हासिल कर लें तो मिल-मालिकों को मजदूरों की दी हुई शर्तों पर काम करना पड़ेगा, अगर वे वैसी बुद्धि प्राप्त कर लें तो मजदूर-मजदूर ही न रहें और मालिक बन जाय। पूंजीपति केवल पूंजी की ताकत पर नहीं लड़ते उनके पास बुद्धि और कौशल भी है।

मजदूरों में, उनके मजदूर रहते हुए, अपनी शक्ति और अधिकारों की चेतना आ जाय, उस समय उन्हें किसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए? अगर उस समय मजदूर अपनी संख्या के बल का यानी पशु शक्ति का आश्रय लें, तो यह उनके लिए आत्म-घातक सिद्ध होगा। ऐसा करके वे देश के उद्योगों को हानि पहुंचायेगे। दूसरी ओर यदि वे शुद्ध न्याय का आधार लेकर लड़ें और उसे पाने के लिए खुद कष्ट-सहन करें, तो वे अपनी हर कोशिश में न सिर्फ सफल होंगे, बल्कि अपने मालिकों के हृदय का परिवर्तन कर डालेंगे, उद्योगों का ज्यादा विकास करेंगे और अन्त में मालिक और मजदूर, दोनों एक ही परिवार के सदस्यों की भांति रहने लगेंगे।

मजदूरों की हालत में सन्तोषजनक सुधार में निम्नलिखित वस्तुओं का समावेश होना चाहिए :-

- श्रम का समय इतना ही होना चाहिए कि मजदूरों को आराम करने के लिए भी काफी समय बचा रहे।
- उन्हें अपने शिक्षण की सुविधायें मिलनी चाहिए।
- उनके बच्चों की आवश्यक शिक्षा के लिये तथा वस्त्र और पर्याप्त दूध के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए।
- मजदूरों के लिए साफ-सुथरे घर होने चाहिए।
- उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वे बुढ़ापे में अपने निर्वाह के लिए काफी रकम बचा सकें।

अभी तो इनमें से एक भी शर्त नहीं पूरी होती। इस हालत के लिए दोनों ही पक्ष जिम्मेदार हैं। मालिक लोग केवल काम की परवाह करते हैं। मजदूरों का क्या होता है, उससे वे कोई संबंध नहीं

रखते। उनकी सारी कोशिशों का मकसद यही होता है कि पैसा कम देना पड़े और काम ज्यादा मिले। दूसरी ओर मजदूर की कोशिश ऐसी सब युक्तियाँ करने की होती हैं जिससे पैसा उसे ज्यादा से ज्यादा मिले और कम से कम श्रम करना पड़े। परिणाम यह होता है कि यद्यपि मजदूरों के वेतन में वृद्धि होती है, परन्तु काम की मात्रा में कोई सुधार नहीं होता। दोनों पक्षों के संबंध शुद्ध नहीं बनते और मजदूर लोग अपनी वेतन वृद्धि का समुचित उपयोग नहीं करते। इन दोनों पक्षों के बीच में एक तीसरा पक्ष खड़ा हो गया है। वह मजदूरों का मित्र बन गया है। ऐसे पक्ष की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह पक्ष मजदूरों के प्रति अपनी मित्रता का निर्वाह उसी हद तक कर लेगा, जिस हद तक उनके प्रति उसकी मित्रता स्वार्थ से अच्छी होगी।

चूँकि सम्पत्ति का प्रतिमूल्य होता है, इसलिए श्रम सम्पत्ति को भी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिमूल्य माना और इस बात का प्रयास किया कि श्रम सम्पत्ति का मुकाबला कर सके। इस साम्य के विश्लेषण में श्रम भी प्रतिमूल्य की दिशा में बढ़ा। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि श्रम सम्पत्ति की तरह जड़वत् व्यवहार में फँसकर तेजहीन हो गया। उसकी प्रतिष्ठा समाप्तप्राय हो गयी। ऐसा इसलिए हुआ कि श्रम के अन्दर जो नैतिकता मानवता प्रसारित होती, वह सम्पत्ति की तरह श्रम को भी समझ लेने में लुप्तप्राय हो जाती है। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि श्रम के भीतर से चेतना के सभी गुण समाप्तप्राय हो गये और श्रम केवल सम्पत्ति के साम्य में महत्व तो ग्रहण कर सका, परन्तु श्रमिक की महत्ता, श्रेष्ठता समाज ने ग्रहण ही नहीं की। यह सब इसलिए हुआ कि भौतिकवादी पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने श्रम के विचार को जड़वत् स्वरूप में ग्रहण किया। आज साम्यवादी ऐसे देशों में भी जहाँ कि श्रमिकों का अधिनायकवाद हो, जहाँ श्रम का विश्लेषण हो वहाँ आज श्रमिक को वह महत्व न मिल सका, जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी।

‘मजदूर अपनी स्थिति सुधार लें, अधिक जानकार जो जायें, अपने अधिकारों का आग्रह रखें और जिस माल में तैयार करने में उनका जितना महत्वपूर्ण हाथ होता है उसके उचित उपयोग को भी मालिकों से मांग करें। मजदूर के लिए सही विकास यही होगा कि वे अपना दरजा बढ़ाये और अधिक मालिकों का दरजा प्राप्त करें।’ अब तक जो हमने श्रम को प्रतिमूल्य के रूप में स्वीकार किया वह सबसे बड़ा दोष है। सम्पत्ति का प्रतिमूल्य तो होता है पर श्रम का कोई प्रतिमूल्य हो ही नहीं सकता। प्रश्न उठता है कि श्रम को कोई प्रतिमूल्य नहीं है तो क्या श्रम आर्थिक या सांस्कृतिक मूल्य है। वास्तव में श्रम एक सांस्कृतिक आवश्यकता है। पश्चिमी विद्वानों ने श्रम को आर्थिक आवश्यकता में रखकर विश्लेषण किया। अतः आज न तो श्रमिक के साथ न्याय हो सका न तो उन्हें महत्व मिल सका। इसलिए हमें श्रम को सांस्कृतिक आवश्यकता मानकर उसी धरातल पर विचार करना होगा, तभी हमारी सभ्यता का संस्कृति वैज्ञानिक प्रगति के अनुकूल होगी। जहाँ से समस्त विश्व के श्रम अर्थशास्त्र का समापन होता है वहीं से सर्वोदय श्रम अर्थशास्त्र का प्रारम्भ होता है।

हरेक मजदूर को निश्चित अल्पतम मजदूरी देने के बाद मजदूरों की कुशलता के अनुसार उनकी मजदूरी में फर्क होना चाहिये या नहीं, इस संबंध में गाँधी जी कुशल कारीगर को ज्यादा मजदूरी देने के खिलाफ नहीं थे। लेकिन वे ऐसे विचारहीन फर्कों को जरूर मिटा देना चाहते थे जिनका मूल मात्र ऐतिहासिक कारणों में हैं और जिनका मौजूदा परिस्थितियों में कोई औचित्य नहीं रह गया है। कताई के एक घंटे के परिश्रम के मूल्य में बुनाई के एक घंटे के परिश्रम के मूल्य से कम क्यों होना चाहिए? सादी बुनाई के उतने ही समय की कताई की मजदूरी कम होने का कोई कारण नहीं है सादी बुनाई एक यांत्रिक प्रक्रिया है जबकि सादी से सादी कताई में हाथ की चतुराई की जरूरत होती है। फिर भी कतवैये को प्रति घंटा एक पाई मिलती है जब की बुनकर को छहपाई मिलती है। धुनकर को भी क्तवैय से ज्यादा मिलता है लगभग उतना ही जितना बुनकर को। इस परिस्थिति के ऐतिहासिक कारण हैं। लेकिन कारण ऐतिहासिक हो इसलिये वे न्याय नहीं हो जाते। इसलिये चरखा संघ पर यह कर्तव्य आ पड़ा कि वह अपने सभी मजदूरों, कारीगरों आदि की मजदूरी समान कर दे। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि बुनकर स्वेच्छापूर्वक समान वेतन लेना स्वीकार ना करें, तो उनसे अपने वेतनामान को कम करने का अनुरोध किया जाय। यदि हरेक प्रकार की उत्पादक परिश्रम की मजदूरी समान होना चाहिये, यह सिद्धांत सही है तो इस आदर्श के जितना संभव हो उतने पास पहुँचने की कोशिश होनी चाहिये। मजदूरों की स्थिति सुधारने के विविध उपायों में कानून भी एक है, लेकिन कानून की अपनी मर्यादायें हैं। जनमत से आगे बढ़कर जो कानून बनया जाता है वह अक्सर निकम्मा साबित होता है। जब तक

मालिक मजदूरों को अपने परिवार का सदस्य मानना नहीं सीख लेते या जब तक मजदूरों को अपने अधिकार समझने और उन्हें हासिल करने के उपाय जानने की तालिम नहीं दी जाती, तब तक मजदूरों के लिये अपनी स्थिति सुधारना संभव नहीं होगा।

2.3 मजदूरों में जागृति

गाँधीजी ने कहा है मजदूरों में जागृति की आवश्यकता है। आज पूँजी श्रम को नियंत्रण करती है, क्योंकि पूँजीवालों को एकता की कला आती है मजदूरों को अपनी स्थिति सुधारने के लिये कोशिश करना सीखना चाहिए। उन्हें इस सत्य को समझ लेना है कि मूल्यवान धातुओं की तरह श्रम भी पूँजी ही है। यह ख्याल गलत है कि धातु के टुकड़े या उत्पन्न माल अमुक मात्रा ही पूँजी ही है। धातु के सिक्के की तरह श्रम भी धन है। यदि पूँजी शक्ति है तो श्रम में भी शक्ति है। दोनों में से प्रत्येक का उपयोग निर्माण के लिये भी किया जा सकता है और नाश के लिये भी। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। ज्योंही मजदूर को अपनी शक्ति का भान हो जायेगा, त्योंही वह पूँजीपति का गुलाम होने के बजाय उसका सहकारी और सहभागी बन जाएगा मजदूरों के बड़े समुदाय को ऐसी तालीम देना बेशक धीमी प्रक्रिया है। लेकिन चूँकि उसकी सफलता निश्चित है इसलिये वहीं जल्दी वाली भी है।

मजदूरों का यह ख्याल की मालिकों के सामने वे बिल्कुल असहाय हैं एक ऐसा भ्रम है जिसका कोई आधार नहीं है। अगर मजदूरों को यह मालूम हो जाय कि विचारपूर्ण संगठन और तालिम के जरिये वे अपने लिये क्या कर सकते हैं, तो उन्हें समझ में आ जायेगा कि जिस तरह मैनेजर और शेयर होल्डर आदि कारखाने के मालिक हैं उसी तरह वे भी उसके मालिक हैं। मजदूरों ने अपनी बुद्धि का विकास नहीं किया, सोचना समझना नहीं सीख इसलिये वे मालिकों से डरकर गुलामी का जीवन जीते हैं या फिर चिढ़कर पूँजीपतियों की सम्पत्ति को मशीनरी को और माल को नुकसान पहुँचाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें मार डालने में विश्वास करने लगते हैं। लेकिन हिंसा का रास्ता उन्हें नहीं बचा सकता मजदूरों में जब आपस में सहयोग करने की बुद्धि आ जायगी, तब वे पूँजी को सम्मान पूर्ण सहायता के आधार पर अपना सहयोग प्रदान करेंगे। ज्यों ही मजदूर शिक्षित और संगठित होंगे और अपनी शक्ति को समझ लेंगे, त्योंही पूँजी उसका प्रमाण कुछ भी क्यों न हो उन्हें दबाने में असमर्थ हो जायगी। संघटित और शिक्षित मजदूर मालिकों को उसकी माँगे मनवाने के लिये बाध्य कर सकते हैं। मजदूर अपना उचित दर्जा कैसे पा सकते हैं। निस्सन्देह इस दिशा में पहली आवश्यकता अपना संघ बनाकर आपस की एकता साधने की है। लेकिन अनुभव बतलाता है कि इसके साथ-साथ कुछ दूसरी शर्तें पूरी न की जायें, तो संघ बन्धन का कारण बन सकता है ये शर्तें इस प्रकार हैं—

- (अ) हरेक आदमी को ऐसा समझना चाहिये कि वह अपनी साथे मजदूरों के कल्याण का ट्रस्टी है। उसे अपना स्वार्थ नहीं देखना चाहिये। परिस्थितियाँ कितनी भी गंभीर और उकसाने वाली क्यों न हों उसे हमेशा अहिंसक रहना चाहिये।
- (ब) अगर उसे सच्चे अर्थों में मनुष्य बनना है और अपना मनुष्योचित गौरव प्राप्त करना है, तो उसे शराब, जुआ इसी तरह के दूसरे दुर्व्यसन छोड़ देना चाहिये। शराब का व्यसन हमारे आत्मा को कलुषित कर देता है। उसे संयम का जीवन जीना चाहिये और विवाह की पवित्रता की रक्षा करनी चाहिये। ऐसी कम मजदूरी पर, जिससे नीति के प्राथमिक नियमों का पालन करना भी असंभव हो जाय, काम करना स्वीकार करने के बाद के बजाय यह बेहतर होगा कि वह भूखों मरना पसंद करे।

मजदूरों को अपने संघों का उपयोग जितना बाहर होने वाले आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिये करना चाहिये, उतना ही अपने आंतरिक सुधार के लिये भी करना चाहिये। अपने घर, अपना शरीर, मन और आत्मा को स्वच्छ और पवित्र रखने के लिये जिस हद तक ज्यादा वेतन और काम के कम घंटे सहायक हो सकते हैं उस हद तक उन्हें ज्यादा वेतन पाने और काम के घंटे कम करवाने में यह उद्देश्य न हो, इस तरह की कोशिश पापपूर्ण होगी। अपने अधिकारों और प्राप्य सुविधाओं के लिये आग्रह करना विलकुल उचित है, लेकिन उसके साथ ही यह उतना ही जरूरी है कि हम हरेक अधिकार के साथ जुड़े हुए कर्तव्य को समझें। दुनिया में ऐसा कोई अधिकार नहीं है जिसके साथ कोई कर्तव्य संलग्न न हो। पर्याप्त मजदूरी, मजदूरों के साथ-साथ मालिकों के सद्व्यवहार के साथ करें।

2.4 मजदूरों को अहिंसा की सीख

गाँधीजी ने कहा है कि दुर्भाग्यवश हमारे किसानों और मजदूरों में से अधिकांश को अहिंसक लड़ाई की तालीम नहीं मिलती है। उन्हें लगातार उतेजना की स्थिति में रखा जाता है और दूसरों के बहकावे में आकर उन्होंने ऐसी आशायें पालना शुरू कर दी हैं जो अहिंसक लड़ाई होन पर ही पूरी हो सकती हैं। समुचित तालीम के द्वारा किसानों और मजदूरों, दोनों को ही प्रभावपूर्ण अहिंसक लड़ाई के लिये तैयार किया जा सकता है। उन्हें इतना ही समझने की जरूरत है कि यदि वे सही ढंग से संघटित हो जायें, तो अपनी श्रम-शक्ति के रूप में उनके पास पूँजीपतियों की अपेक्षा कहीं ज्यादा धन और साधन-सम्पत्ति है। बात यह ले कि पैसे के बाजार पर पूँजीपतियों का नियंत्रण है। किन्तु श्रम के बाजार पर मजदूरों का कोई नियंत्रण नहीं है। अगर मजदूर वर्ग चुने हुए नेताओं ने मजदूरों की समुचित सेवा की होती, तो उन्हें अभी तक अहिंसा की तालाम से प्राप्त होने वाली अनिवार्य शक्ति का भान हो गया होता। इसके बजाय होता है कि अक्सर मजदूरों को मालिकों से अपनी माँगे बरबस स्वीकार कराने के लिये अहिंसक उपायों का आश्रय लेना सिखाया जाता है। सामान्यतः मजदूरों को आजकल जो तालीम मिलती है वह उनका अज्ञान दूर नहीं करती। इसका परिणाम यह होता है कि वे अपने अधिकारों को प्राप्ति के लिये हिंसा को ही अन्तिम साधन मानना सीखते हैं।

गाँधीजी ने अहमदाबाद के मजदूरों का संगठन किया था। उनकी राय में अहमदाबाद के कपड़ा मिल मजदूरों का संघ अपने प्रकार की ऐसी संस्था है, जिसका अनुकरण किया जा सकता है। वह शुद्ध अहिंसा की बुनियाद पर खड़ा किया गया है अपने अब तक के कार्य काल में उसे कभी पीछे हटने का मौका नहीं आया बिना किसी तरह का शोरमुल, धाँधली या दिखावा किये ही उसकी ताकत बराबर बढ़ती गयी है। उसका अपना अस्पताल है। मिल-मजदूरों के बच्चों के लिये उसके अपने मदरसे हैं, बड़ी उमर के मजदूरों को पढ़ाने की क्लास हैं, उसका अपना छापाखाना और खादी भंडार है, और मजदूरों के पढ़ाने के रहने के लिये उसने घर भी बनवाये हैं अहमदाबाद के करीब-करीब सभी मजदूरों के नाम मतदाताओं की सूची में दर्ज हैं और चुनाव में वे पुरअसर तरीके से हाथ बटाते हैं। कांग्रेस की स्थानीय प्रदेश कमेटी के कहने से अहमदाबाद के मजदूरों ने मतदाता के नाते अपने नाम दर्ज करवाये थे यह मजदूर संघ कांग्रेस की दलबन्दी वाली राजनीति में कभी शरीक नहीं हुआ। शहर की मयुनिसिपैलिटी की नीति पर संघवालों का असर पड़ता है। संघ अब तक अनेक हड़ताओं को अच्छी सफलता के साथ चुका है। और ये सब हड़ताले पूरी तरह अहिंसक रही हैं। यहाँ के मजदूरों और मालिकों ने अपनी आपसी झगड़े मिटाने के लिये ज्यादातर अपनी राजी खुशी से पंच की नीति को स्वीकार किया है।

गाँधीजी कहते थे कि यदि मेरी चले तो भारत में जितनी मजदूर संस्थाएँ हैं, उनका नियमन अहमदाबाद के मजदूर संघ को आदर्श मानकर उसके अनुसार ही करूँ। इस मजदूर संघ के द्वारा वे पूँजी और श्रम के बीच उठने वाले सवालों को अहिंसा के द्वारा हल करने का प्रयत्न कर रहे थे। यदि हम गाँधीजी की किसानों का संघटन करने की पद्धति जानना चाहें तो उनके चम्पारण के किसान आन्दोलन को देख सकते हैं। भारत में सत्याग्रह का पहला प्रयोग इसी आन्दोलन में किया गया था। चम्पारण का आन्दोलन आम जनता का आन्दोलन बन गया था और वे शुरू से लेकर काखीर तब पूरी तरह रहा था उनमें कुल मिलाकर कोई बीस लाख से भी ज्यादा किसानों का संबंध था। सौ साल पुरानी एक खास तकलीफ को मिटाने के लिये यह लड़ाई छेड़ी गयी थी। किसी शिकायत को दूर करने के लिये पहले कई खूनी बगावतें हो चुकी थी। किसान बिलकुल दबा दिये गये थे। मगर अहिंसक उपाय वहाँ छह महिनों के अन्दर पूरी तरह सफल हुआ। किसान-संगठन की सफलता का रहस्य इस बाम में है कि किसानों की अपनी जो तकलीफें हैं, जिन्हें वे समझते हैं और पूरी तरह महसूस करते हैं उन्हें दूर करने के सिवा दूसरे किसी भी राजनीतिक हेतु से उनके संघटन का दुरुप्रयोग न किया जाय। किसी एक निश्चित अन्याय को या शिकायत के कारण को दूर करने के लिए संगठित होन की बात से वे झट समझ लेते हैं। उनको अहिंसा का उपदेश देना नहीं पड़ता। अपनी तकलीफों के एक कारगर इलाज के रूपमें वे अहिंसा को समझकर उसे आजमा लें और फिर उनसे कहा जाये कि उन्होंने जिसे आजमाया है वही अहिंसक पद्धति है, तो वे फौरन ही अहिंसा को पहचान लेते हैं और उसके रहस्य को समझ जाते हैं।

अहिंसा में विश्वास रखने वाले प्रत्येक मजदूर संस्था को अपनी नीति के निश्चय में अपनी सत्य और न्याय की भावना का अनुसरण करना चाहिए, सस्ती प्रसिद्धि पाने के आकर्षण का नहीं। यदि उसे

इस बात का पूरा विश्वास है कि वह सही रास्ते पर चल रही है तो वह उसे छोड़ेगी नहीं, दूसरे लोग चाहें जो करें या न करें। उदाहरण के लिये वह हड़तालों की योजना राजनीतिक हेतु या प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं करेगी, अपने सदस्यों की समाजिक या आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये ही करेगी। गाँधीजी कहा करते थे कि मजदूरों की सबसे अच्छी सेवा यह होती है कि उन्हें स्वालम्बन सिखाया जाय उन्हें उनके कर्तव्यों और अधिकारों की कल्पना करा दी जाय, उन्हें ऐसा तैयार कर दिया, जाय कि वे अपनी न्यायपूर्ण शिकायतों को खुद दूर करा सकें। उसके बाद वे धीरे-धीरे राजनीतिक, राष्ट्रीय या मानवीय सेवा करने की क्षमता खुद प्राप्त कर लेंगे।

इसके साथ ही और देशों की तरह भारत में भी मजदूर जगत उन लोगों की दया पर निर्भर हैं, जो सलाहकार और पथ प्रदर्शक बन जाते हैं। ये लोग नहीं होते। मजदूरों को अपने हालत पर असंतोष है। असंतोष के लिये उनके पास पूरे कारण हैं। उन्हें यह सिखाया जा रहा है। राजनितिक स्थिति की भारत के मजदूरों को प्रभावित करने लगी है और ऐसे मजदूर नेताओं का अभाव नहीं है जो समझते हैं कि राजनितिक हेतुओं के लिये हड़तालें कराई जा सकती हैं। गाँधीजी का मत था कि ऐसे उद्देश्यों के लिये मजदूर हड़तालों का उपयोग करना गंभीर भूल होगी। वे इस बात से इंकार नहीं करते थे कि ऐसी हड़तालें से राजनितिक हेतु सिद्ध किये जा सकते हैं पर अहिंसक असहयोग की योजना में उनका समावेश नहीं हो सकता। यह समझने के लिये बुद्धि पर बहुत जोर डालने की जरूरत नहीं है कि जब तक मजदूर देश की राजनीतिक स्थिति को समझ न लें और सबकी भलाई के लिये काम करने को तैयार न हो, तब तक मजदूरों को राजनिति का उपयोग करना बहुत ही खतरनाक बात होगी। इनकी उनसे अचानक आशा रखना कठिन है। यह आशा उस वक्त तक नहीं रखी जा सकती, तब तक वे अपनी खुद की हालत इतनी अच्छी न बना लें कि सभ्य तरीके पर जीवन व्यतीत कर सकें। इसलिये सबसे बड़ी सहायता मजदूर यह कर सकते हैं कि वे अपनी स्थिति सुधार लें, अधिक जानकारी हो जायें, अपने अधिकारों का आग्रह रखें और जिस माल के तैयार करने में उनका इतना महत्वपूर्ण हाथ होता है उसके उचित उपयोग की भी मालिकों से मांग करें। मजदूर लोग ज्यों-ज्यों ज्यादा संघटित हो जाएँगे और देश के हित का तथा अपने हित का विचार करना सीखेंगे, त्यों-त्यों जिस माल के निर्माण में वे अपने परिश्रम के द्वारा इतना ज्यादा हिस्सा लेते हैं उसकी किमतों में उचित फेरबदल करने के लिये आग्रह करेंगे और जरूरत हुई तो उसके लिये लड़ेंगे। ऐसा समय आना चाहिए और वह जितनी जल्दी आये उतना अच्छा—जबकि मालिकों के मुनाफे, मजदूरों के वेतनों और माल की किमतों में उचित अनुपात रहेगा। इसलिये विकास की ठीक दिशा यह होगी कि मजदूर लोग अपना दर्जा बढ़ाये और आर्थिक मालिकों का दर्जा प्राप्त करें। अतः हड़तालें मजदूरों की हालत के सुधार के लिये ही होनी चाहिए और जब उनमें देश भक्ति की वृत्ति पैदा हो जाये, तब अपने तैयार किये हुए माल की कीमतों के नियंत्रण के लिये भी हड़तालें हो सकती हैं।

आधुनिक दुनिया "प्राप्त" करने पर बहुत अधिक ध्यान केन्द्रित करती है तथा "बनाने" पर बहुत कम, पन्तु महात्मा गाँधी का मन्तव्य है "रूको" और बने "बनने" में ना तो क्रोध विरोध संघर्ष का भाव है और न परावलम्बन का। उसमें स्वावलम्बन का ही भाव ओत-प्रोत है। गाँधी ने चाहा कि श्रमिक स्वालम्बी बने न वह किसी से काम पाने की टोह में रहे और न उसे किसी से वेतन लेने देने में बखेड़ा उठाना पड़े, इसलिये उन्होंने "भर पेट भोजन" की योजना निकाली। इसमें हर सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार काम करता है। वय कितना ही अधिक क्यों न कमाए, उसका उद्देश्य यह कदापि नहीं रहता कि घर का मुखिया अथवा अन्य और कोई व्यक्ति उसे उसकी कमाई का पूरा भाग दे या कि कमाई के अनुपात से अधिक भाग दे। उसका एक मात्र ध्येय यह रहता है कि उसे भर पेट भोजन मिलता जाय और उसकी सारी कमाई का उपभोगता कुटुम्ब के सभी नन्हें बड़े सदस्य अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार करते हैं।

2.5 श्रम मीमांसा

गांधी जी ने श्रम अर्थशास्त्र को नयी भूमिका दी है। इन नयी भूमिका में जितने पिछले अर्थशास्त्रियों के विचार हैं उन्हें जब हम कसते हैं तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गांधीजी ने श्रम के प्रतिमूल्य का विचार दिया और कहा कि किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगा श्रम है। इसलिए श्रम का प्रतिमूल्य उत्पादित वस्तु बन गयी। जिस प्रकार सम्पत्ति का प्रतिमूल्य होता है उसी प्रकार श्रम का

प्रतिमूल्य माना जाने लगा। पुनः रिकार्डों जब मूल्य के सिद्धान्त में श्रम का विवेचन करते हैं तो वहां भी इसी प्रतिमूल्य के कारण श्रम का सिद्धान्त क्षीण हो गया। इसके बाद मार्क्स ऐसे विद्वान ने जो कि श्रम मूल्य सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रणेता हैं, उन्होंने श्रम को प्रतिमूल्य में बांध दिया तो इससे श्रम के अधिकारों और आर्थिक महत्व पर तो वृहद् विवेचन हुआ, परन्तु इसे प्रतिमूल्य में बंधने के कारण इसका नैतिक आधार ही समाप्त हो गया। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि श्रम का सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप न ग्रहण कर सका। श्रम मनुष्य से सम्बन्धित मनुष्य की जीविका का साधन है, पर इससे भी बढ़कर मानवता एवं संस्कृति का प्रेरक स्थल है। ऐसी स्थिति में श्रम का यह सिद्धान्त, मानव समाज के लिए बेकार की वस्तु बन जाता है।

श्रम का प्रतिमूल्य तो हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए मां अपने बच्चे एवं परिवार के लिए श्रम करती हैं तो उसका कोई प्रतिमूल्य नहीं होता। जिस दिन मां अपनी इस सेवा का प्रतिमूल्य लेने लेगी उसी दिन मानव सभ्यता एवं संस्कृति का नाश होना प्रारम्भ हो जायेगा। इसीलिए अर्थशास्त्र में श्रम के प्रतिमूल्य को होनी चाहिए। जिस प्रकार कि जीवनदायिनी हवा, रोशनी सबको मुफ्त मिलती है, उसी प्रकार अन्न या यों कहें रम से उत्पादित जीवनदायिनी वस्तुएं सबको मुफ्त मिलनी चाहिए। यही मानव जीवन का जीवित सिद्धान्त है। भूखे को अन्न नंगे को वस्त्र, आश्रयविहीन को आश्रय बिना किसी प्रतिमूल्य के प्राप्त हो। जितनी ही तीव्रगति से प्रतिमूल्य का सिद्धान्त समाज में प्रवेश करेगा उतनी ही गति से सभ्यता का ह्रास होगा।

गांधी जी के शब्दों में, “मेरा सर्वत्र यही अनुभव रहा है कि समान्यतः मालिक की तुलना में मजदूर लोग अपने कर्तव्य ज्यादा ईमानदारी के साथ और ज्यादा परिणामकारी ढंग से पूरे करते हैं, यद्यपि जिस तरह से मालिक के प्रति मजदूरों के कर्तव्य होते हैं, उसी तरह मजदूरों के प्रति मालिक के भी कर्तव्य होते हैं और यही कारण है कि मजदूरों को इस बात की खोज करना आवश्यक हो जाता है कि वे मालिकों से अपनी मांग किस हद तक मनवा सकते हैं। अगर हम यह देखें कि हमें काफी वेतन नहीं मिलता था कि हमें निवास की जैसी सुविधा चाहिये, वैसी नहीं मिल रही है, तो हमें काफी वेतन और समुचित निवास की सुविधा कैसे मिले, इस बात का रास्ता ढूंढना पड़ता है। मजदूरों को कितनी सुख-सुविधा चाहिए इस बात का निश्चय कौन करें? सबसे अच्छी बात तो यही होगी कि तुम मजदूर लोग खुद यह समझो कि तुम्हारे अधिकार क्या हैं, उन अधिकारों का मालिकों से मनवाने का उपाय क्या है और फिर उन्हें उन लोगों से तुम खुद ही हासिल करो। लेकिन इसके लिए तुम्हारे पास पहले से ली हुई थोड़ी-सी तालिम होनी चाहिए – शिक्षा होनी चाहिए।”

आज इस युग में जब हम सम्पत्ति के सम-वितरण पर विशेष आग्रह कर रहे हैं, घोषणा का अन्त करना चाहते हैं, एक ऐसे समाज जिसकी नींव आर्थिक एवं सामाजिक समता, सामाजिक कल्याण हो उसके निर्माण में हम तत्पर हों। उसके निर्माण की स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार से अधिकतम उत्पादन हो और उचित वितरण हो। इसीलिए आज हमारे सामने दो प्रश्न हैं—

- प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुसार पुरस्कार मिले। दूसरे शब्दों में वह जितना श्रम करता है उसी प्रकार उसे उपभोग का अवसर मिले।
- प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार ही श्रम करें, अर्थात् उतना ही श्रम करे जितनी उसकी उपभोग आवश्यकता है।

इन दोनों प्रश्नों पर जब हम सोचते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले में तो आवश्यकता गौण हो जाती है, जो कि उचित नहीं है और दूसरे में सामाजिकता गौण हो जाती है, यह भी उचित नहीं है। तो यह प्रश्न उठता है कि हम इसका समाधान क्या है? इसके लिए तीसरा विकल्प हमारे सामने आता है कि हम योग्यतानुसार श्रम करें और आवश्यकतानुसार उपभोग करें। परन्तु सामाजिकता एवं आवश्यकता दोनों को जब हम अपने समक्ष रखते हैं तो ऐसा लगता है कि दोनों से श्रेष्ठ वस्तु मनुष्य की नैतिकता एवं मानवता है। इस नैतिकता एवं मानवता का विकास तभी हो सकता है जब हम संयम का पालन करें। दूसरे जो प्रेरक शक्ति है वह आर्थिक न होकर मानवीय हो।

क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिमूल्य को ही मनुष्य के कार्य करने की प्रेरणा माना। उन्होंने कहा कि अधिक से अधिक प्रतिमूल्य ही मनुष्य को अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। मार्क्स ऐसे

समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने इस प्रेरणा के लिए सामाजिक भावना को उत्तम मानां श्रम के प्रतिमूल्य की प्रेरक शक्ति से एक कदम आगे बढ़कर सामाजिक भावना की प्रेरक-शक्ति तक आये परन्तु मार्क्स ने सारी आर्थिक क्रियाओं की नींव में ही सामाजिक शक्ति को निहित कर दिया। इसीलिए उनकी यह सामाजिक प्रेरणा उसी प्रकार से स्वार्थलिप्त होती जिस प्रकार से व्यक्तिगत प्रेरणा। दोनों के स्रोत और दोनों के स्वार्थों में कोई भेद नहीं होता। किसी व्यक्ति का दुःख में तड़पते देखकर जलते देखकर, भूख से पीड़ित देखकर जब हम स्वयं तड़प उठते हैं और बिना अपना स्वार्थ देखे सब कुछ उसको देने के लिए तत्पर हो जाते हैं तो यहां कौन-सी प्रेरक शक्ति हैं? जब मां अपने बच्चे के लिए चौबीस घण्टे सेवा करती है, इसके पीछे कौन सी शक्ति हैं? जब मां अपने बच्चे के लिए चौबीस घण्टे सेवा करती है, इसके पीछे कौन सी प्रेरणा शक्ति हैं? निःसन्देह यह न तो क्लासिकि अर्थशास्त्रियों द्वारा बताई गई प्रेरक शक्ति है और न समाजवादियों द्वारा बतायी गयी। यह तो मानवीय प्रेरणा से कार्य करते हैं तभी अधिकतम उत्पादन होता है, अधिकतम वितरण होता है, सारा मानव सुखी एवं सम्पन्न होता है। यहां से संस्कृति एवं सभ्यता का विकास होता है।

इसी से सम्बन्धित एक दूसरा प्रश्न है जिसे हम आवश्यकता एवं उपभोग का प्रश्न कहते हैं। जिस प्रकार से श्रम का निरूपण पहले विचार में प्रतिपादित हुआ और वह मानव संस्कृति व सभ्यता के अनुकूल हुआ। उसी प्रकार से आवश्यकता का प्रश्न भी मानवीय पहलू रखता है। एक तरफ मनुष्य की अपरिमित इच्छा है। दूसरी तरफ मनुष्य की सीमित उपभोग शक्ति है। यहीं पर प्रश्न उठता है कि असीमित वासना व इच्छा एवं सीमित उपभोग शक्ति के बीच सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाय। दोनों के बीच संयम का होना जरूरी है। यही संयम सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतीक है।

उपभोग का मानव संस्कार से संबंध है। हम असीमित इच्छाओं एवं वासनाओं को एक तरफ और सीमित उपभोग शक्ति को दूसरी तरफ पाते हैं कि और दोनों के मध्य एक संयम की आवश्यकता है। आज जब हम उपभोग को प्रधानता देते हैं तो उसका अर्थ है कि वासना को प्रधानता देते हैं और जब वासना को प्रधानता देते हैं, यानी अपरिमित इच्छाओं को प्रधानता देते हैं, इसमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, शोषण संग्रह आदि भावना सहज ही में उत्पन्न हो जाती है। ये सब दुर्गुण मानव के नहीं बल्कि उसके विकारों के हैं। इसीलिए उपभोग को मानवता का संकेत नहीं माना जा सकता है। अधिकतम वस्तुओं का उपभोग यदि रहन-सहन के स्तर का मापदण्ड बन जाती है तो सभ्यता का ह्रास होता है। भोग प्रधान समाज असांस्कृतिक और असभ्य माना जाता है, क्योंकि उससे संस्कारों का सृजन नहीं होता। यही कारण है कि जब जब संसार में भोग का आधिक्य हुआ है, यानी भोगशील समाज बना है तब तब सभ्यता का ह्रास होता है। भोग प्रधान समाज असांस्कृतिक और असभ्य माना जाता है, क्योंकि उससे संस्कारों का सृजन नहीं होता। यही कारण है कि जब जब संसार में भोग का आधिक्य हुआ है, यानी योगशील समाज बना है तब तब सभ्यता का ह्रास हुआ है। इसीलिए भोग प्रधान जीवन न होकर उत्पादन प्रधान होना चाहिए।

अब तक की आर्थिक पद्धतियों एवं व्यवसायों में हम भोग को ही प्रधानता देते रहे हैं, अब उस प्रधानता को हमें उत्पादन पर लाना होगा और उपभोग में संयम का आवश्यकता की प्रधानता देकर समाज के सृजन का प्रयास किया गया उसी से आज की सारी सभ्यता का विकास हुआ, परन्तु सर्वोदय अर्थशास्त्र इन्हें प्रधानता न देकर मनुष्य को प्रधानता देता है। मनुष्य को प्रधानता देने का अर्थ है कि मनुष्य उत्पादन में अपने पुरुषार्थ को आगे बढ़ाये, अर्थात् श्रम करे। ऐसा उत्पादन करे कि समाज में प्रत्येक को आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक आवश्यकताओं की तृप्ति हो और वस्तुओं की विपुलता हो। जहां तक उपभोग का संबंध है उसमें भी उन्हीं वस्तुओं का उपभोग हो, जो समाज को स्वास्थ्यवर्धक आवश्यकताओं की तृप्ति हो और वस्तुओं की विपुलता हो। जहां तक उपभोग का संबंध है उसमें भी उन्हीं वस्तुओं का उपभोग हो, जो समाज को स्वस्थ बनाये, जिसमें संयम हो और जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध हो सकें। विनिमय एवं वितरण में भी मानवता, सदाचारिता एवं नैतिकता हो। इस प्रकार से जो अर्थशास्त्र बनेगा उससे सुसंस्कृतिपूर्ण समाज का निर्माण होगा इसलिए यह स्पष्ट हो गया है कि श्रमिक की सामाजिकता एवं आवश्यकता किस प्रकार से श्रमिकों के पुरस्कार एवं उसके निर्धारण में मानवीय पहलू का रक्षण कर सकती है। अब तक के प्रचलित विचारों में इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया गया है कि रम के पुरस्कार निर्धारण का सिद्धान्त कैसे मानवीय सभ्यता का संरक्षण कर सकेगा। सर्वोदय अर्थशास्त्र इसका सही उत्तर देता है। किसी भी सिद्धान्त में इस बात का उल्लेख अवश्य होना

चाहिए कि श्रम के प्रतिमूल्य का क्या आधार होगा। क्योंकि भविष्य का जो समाज हमारे सामने है जिसमें टेक्नालॉजी का इतना विकास हो जायेगा कि श्रमिक की बिल्कुल आवश्यकता ही नहीं रहेगी, उस समय जबकि सारा काम मशीन से होगा, और मनुष्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी, उस समय श्रम के प्रतिमूल्य की क्या स्थिति होगी? इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित है कि श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं होगा, और भविष्य का सभ्य समाज बिना प्रतिमूल्य के ही रहेगा।

जब टेक्नालॉजी का बहुत अधिक विकास हो जायेगा और विज्ञान ऐसी स्थिति में हमें पहुंचा देगा कि प्रचुर मात्रा में उत्पादन होगा और मनुष्य और शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ेगा तो श्रम का पुरस्कार कैसे निर्धारित होगा। इसका अर्थ है कि भावी समाज में श्रम का आर्थिक पुरस्कार आवश्यक ही नहीं होगा। उस समय यह मान्यता ही समाप्त हो जाती है कि श्रम के लिए कोई प्रतिमूल्य होना चाहिए। इसलिए श्रम आज की तरह चाहे वह पूंजीवादी, चाहे साम्यवादी हो, आर्थिक आवश्यकता से नहीं बंधेगा। यही एक मानवीय दृष्टिकोण बनकर इस मूलभूत आवश्यक वस्तुओं में दिखाई देगा।

अगर हर आदमी हकों पर जोर देने के बजाय अपना फर्ज अदा करे, तो मनुष्य-जाति में जल्दी ही सुव्यवस्था और अमन का राज्य कायम हो जाय। राजाओं के राज्य करने के दैवी अधिकार जैसी या रैयत के तरफ से अपने मालिकों का हुक्म मानने के मन्त्र कर्तव्य जैसी कोई चीज नहीं है। यह सच है कि राजा और रैयत के पैदाइशी भेद मिटने ही चाहिए, क्योंकि ये समाज के हित को नुकसान पहुंचाने हैं। लेकिन यह भी सच है कि अभी तक कुचले और दबाकर रखे गये लाखों करोड़ों लोगों को हकों का ढिठाई भरा दावा भी समाज के हित को ज्यादा नहीं तो उतना ही नुकसान जरूर पहुंचाता है। इसलिए यह जरूरी है कि हम हकों और फर्जों का ही नुकसान जरूर पहुंचाता है। इसलिए यह जरूरी है कि हम हकों और फर्जों का आपसी संबंध समझ लें। मैं यह कहने की हिम्मत करूंगा कि जो हक पूरी तरह अदा किये गये फर्ज से नहीं मिलते या प्राप्त करने और रखने लायक नहीं है। वे दूसरों से छीने गये हक होंगे। उन्हें जल्दी छोड़ देने से ही भला है।

पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा में कम से कम काम, अधिक से अधिक दाम, पुनः काम के अनुसार दाम का रूप आया। साम्यवादी घोषणा-पत्र में कहा गया, 'हम सारी सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं— केवल उस सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं जो मनुष्य ने अपने श्रम से नहीं अर्जित की है— जो सम्पत्ति श्रम से अर्जित है। वह नहीं समाप्त होगी।' आगे साम्यवाद का यह सिद्धान्त है 'अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम, आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक परन्तु इसी में अन्तर्विरोध है कि श्रम से अर्जित सम्पत्ति पर श्रमिक का अधिकार भी होगा। ये अन्तर्विरोध की समस्यायें साम्यवाद में उत्पन्न हो जाती हैं।

इन समस्याओं के निराकरण के लिए गांधी ने शरीर-श्रम को व्रत माना, पवित्रतम कार्य माना। सेन्ट सायमन ने परिश्रम को मनुष्य का गुण और चरित्र माना है। गीता ने परिश्रम को स्वधर्म विशिष्ट धर्म माना। इसलिए परिश्रम मनुष्य का कर्तव्य तथा व्रत हुआ। अब परिश्रम करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है और उसका फल समाज का भगवान् का है ऐसी स्थिति में पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा तथा शोषण का दुर्गुण भी समाप्त हो गया और साम्यवाद की प्रेरणा का प्रश्न भी हल हो गया और साम्यवाद की प्रेरणा का प्रश्न भी हल हो गया और उसका अन्तर्विरोध भी समाप्त हो गया। विनोबा के शब्दों में 'सब सम्पत्ति रघुपति के आही' से सारा विरोध समाप्त हो जाता है। यह 'उत्पादक शरीर श्रम' का व्रत दादा धर्माधिकारी के शब्दों में हो गया। इसी से वह साम्यवाद का विरोध भी समाप्त हो गया जो 'जितनी क्षमता उतना काम, जितनी आवश्यकता उतना दाम' तथा श्रम मूल्य सिद्धान्त में उत्पन्न होता है।

इस नवीन सर्वोदय श्रम के सिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया कि 'दूसरों को खिलाकर, खिलाऊंगा। दूसरे के लिए जीवित रहूंगा' यही अहिंसा का उपभोग। तो इससे दूसरी भावना सह-उपभोग की आयी और इसमें से सहजीवन का प्रादुर्भाव हुआ और पुनः सहउत्पादन की पद्धति पुष्ट हुई। पूंजीवादी तथा साम्यवाद के विचार से सर्वोदय का विचार अधिक पूर्ण तथा क्रान्तिकारी विचार हुआ।

2.5.1 श्रम की मानवीय विशिष्टताओं का संरक्षण

कार्यशील आयु 18 से 65 वर्ष तक मानी जाती है। इसकी व्याख्या यह है कि श्रमिक को आठ घण्टे काम मिलना चाहिए। इस आठ घण्टे के काम में से उसे इतना पारिश्रमिक मिलना चाहिए कि उसका पूरा निर्वाह हो सके। स्थिति यह है कि पूर्ण रोजगार कार्यशील आयु, काम के घण्टे तथा

पारिश्रमिक बड़े-बड़े उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है। रात-दिन यंत्रोद्योग में श्रमिक लगे रहते हैं। यह आठ घण्टे का काम कभी-कभी श्रमिक की संस्कृति के भी विपरीत होता है। सांस्कृतिक विचार के अतिरिक्त शारीरिक आधार के दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञाता होता है कि यंत्रों पर एक जैसी शारीरिक स्थिति बनाये रखकर आठ घण्टे काम करना होता है। झुक कर खड़े-खड़े या बैठे-बैठे अविरल इतने समय तक प्रतिदिन काम करते रहने से उसकी शारीरिक आवयविक रचना विकृत हो जाती है। कभी-कभी यंत्रों के साथ काम करते समय दुर्घटनावश अंगभंग भी हो जाता है। यंत्रों की तीव्र ध्वनि और कोलाहल से मानसिक सन्तुलन अधिक समय तक बना नहीं रहता। दिन में दुर्गन्धयुक्त, वायु, प्रकाश रहित कोलाहल पूर्ण वातावरण के संकीर्ण कमरों में उसे विश्राम नहीं मिलता। वह प्रतिक्षण अपनी शारीरिक क्षमता को क्षीण रहता है।

एक दूसरा पहलू यंत्रोद्योग के प्रभाव का यह है कि यह मनुष्य की मनुष्यता का अपहरण करता है। वहां काम मुख्य है। जो जितना अधिक काम करता है उतनी ही अधिक उन्नति उसकी वहां होती है। इसलिए मनुष्यता नाम की वस्तु वहां रह नहीं सकती। यंत्रोद्योगों का प्रभाव सर्वांगीण रूप से पड़ता है, क्योंकि उद्योगों का काम मनुष्य में हीनता की भावना उत्पन्न करता है। छोटे-बड़े अनेक प्रकार के अनेक काम छोटे-बड़े की भावना तथा हीनता की भावना उत्पन्न करते हैं। यंत्रोद्योग के काम में आनन्द नहीं मिलता। तब मन बहलाने के लिए श्रमिक को अन्यत्र जाना पड़ता है। आनन्द और सुख आवश्यक है। इसलिए काम ऐसा होना चाहिए जिसमें सुख-आनन्द मिले, दाम और सम्मान मिले। तब उत्पादन बढ़ेगा, मनुष्यत्व विकसित होगा। ऐसे कामों के साधन, प्रकार और उपकरण कैसे हो? यही नियोजन आवश्यक है।

विज्ञान और टेक्नालॉजी हमें भौतिकवाद की ओर बहुत दूर ले जाता है, हमारी भारतीय संस्कृति और हमारी परम्परा के संस्कार इससे बहुत भिन्न है। अमेरिका का विज्ञान और टेक्नालॉजी उसके लिए चिन्ता का विषय बन रहा है। उससे शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण हो रही है, विवेक-शक्ति नष्ट हो रही है, वासनागत अपराध बढ़ रहे हैं। हमें अपने देश में मानव-शक्ति का संयोजन करते समय इन सब बातों पर विवेकपूर्ण विचार करना चाहिए और देखना चाहिए—

- जो सांस्कृतिक कार्य के विपरीत न हो। वर्तमान समय में कारखाने में कार्य करने वाले व्यक्ति के कार्य एवं सांस्कृतिक कार्य में कोई संबंध नहीं होता।
- जिससे मनुष्यता की समाप्ति न हो।
- कार्य उसको नष्ट करने वाला नहीं, बल्कि उसके निर्णय के लिए हो।
- जिससे श्रमिक में अपने प्रति दीन-भावना न आये।
- जिससे शारीरिक क्षीणता या टेढ़ापन न आने पावे तथा मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन न बिगड़ने पाये।
- जिसमें मनोरंजन, आनन्द एवं संस्कृति का पुनः समावेश हो।
- जिसमें कई घण्टे तक कार्य करने वाला परेशान न हो।
- जिसमें दाम के साथ प्रतिष्ठा और सम्मान मिले।

जब उपर्युक्त बातों पर ध्यान दिया जायेगा तभी उत्पादन बढ़ेगा। मनुष्यत्व को विकसित करने के लिए प्रतिष्ठा आवश्यक है। अतः काम में मानव-प्रतिष्ठा का ध्यान रखना यही मानव-संयोजन का मूल है। किसी कार्य में मनुष्य केवल शरीर ही नहीं दिल-दिमाग का भी प्रयोग करे। वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर एक फैक्टरी आती है। हम स्वास्थ्य के लिए नहीं स्वाद के लिए उपभोग करते हैं। इस चित्त-वृत्ति का हमें बदलना है तभी हमारा संयोजन सफल होगा। हमें स्वयं चिन्तन करना होगा।

2.5.2 शारीरिक और बौद्धिक श्रम का पुरस्कार

समाज में सम्पत्ति के वितरण के लिए जो आधारभूत सिद्धान्त प्रचलित हैं उनमें बहुत अधिक विचित्रता और विभिन्नता है। फासिस्ट जर्मनी में यहूदियों और जर्मन में जो पुरस्कार निर्धारण किया गया था उसका आधार जाति रखा। यदि एक ही कार्य यहूदी एवं जर्मन दोनों करते हैं तो जर्मन को उसकी जाति की श्रेष्ठता के कारण अधिक पुरस्कार मिलता था। इसी प्रकार का व्यवहार अंग्रेजों ने अपने

उपनिवेशों— जैसे भारत में किया था। एक ही कार्य के लिए किसी अंग्रेज को ज्यादा पुरस्कार दिया जाता था और हिन्दुस्तानी को कम। इसका आधार उन्होंने राष्ट्रीयता माना था। इटली में यह प्रचलित था कि किसी वंश विशेष के लोगों को सामान्य वंश के लोगों से अधिक पुरस्कार दिया जाता रहा है। राजतंत्र में राजवंश के लोगों को सामान्य लोगों से अधिक पुरस्कार इसलिए दिया जाता था कि वे एक श्रेष्ठ शासन करने वाले वंश के थे। आगे चलकर पूंजीवाद में उत्पादन का बहुत बड़ा भाग उनको दिया जाता है जो पूंजी के स्वामी होते हैं। खेतिहर देश में भूमि के स्वामी को अधिक पुरस्कार दिया जाता है। पूंजी एवं सम्पत्ति के स्वामित्व को ही श्रेष्ठता देकर पूंजीवादी समाज में पुरस्कार किया जाता है। आगे चलकर साम्यवादी समाज में पद को प्रतिष्ठा दी गयी। जो बड़े पदों पर हैं उन्हें अधिक पुरस्कार दिया जाता है। साथ ही साथ लोकतान्त्रिक समाजवाद या लोकतंत्र में लोगों को उनके उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर अधिक पुरस्कार दिया जाता है। कहीं—कहीं योग्यता को इसका मापदण्ड बनाया जाता है। इस प्रकार के प्रचलित परिस्थिति में वंश, जाति, राष्ट्र, पद, उत्तरदायित्व, योग्यता और दुर्लभता को ध्यान में रखकर सम्पत्ति का वितरण होता है या हो रहा है।

लोकतंत्र और साम्यवाद के विकसित हो जाने के कारण पिछली प्रतिष्ठायें जो पुरस्कार के लिए निश्चित थीं, समाप्त प्राय हो गयी हैं, परन्तु जो पद्धतियाँ आज प्रचलित हैं वे भी पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि उनका कोई वैज्ञानिक स्वरूप नहीं है और यही नहीं मनुष्य में सम्पत्ति का उचित वितरण हो तो साथ—साथ यह बहुत आवश्यक है कि उसकी तह में मानवीय दृष्टिकोण हो। वैज्ञानिक दृष्टि रखकर आज जो पुरस्कार वितरण के नियम निश्चित किये गये उनमें भी पूर्णता नहीं है, क्योंकि उत्तरदायित्व, दुर्लभता, योग्यता, निपुणता के जो आधार हैं, उनमें जो मूल वस्तु है वह बौद्धिक निपुणता तथा योग्यता की बात है बुद्धि की निपुणता तथा योग्यता भिन्न—भिन्न हुआ करती है और सभी में यह सभी कुछ न कुछ है। आज समाज में जो समता और शान्ति नहीं रही है उसके पीछे सबसे बड़ा कारण शरीर और बुद्धि में द्वन्द्व है। बुद्धि को श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा शरीर से कई गुना अधिक दी जाती है। यह सत्य है कि किसी भी कार्य में बुद्धि आवश्यक होती है। लेकिन इसके कारण बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है और शरीर हीन है ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए। वास्तव में दो वस्तुओं के उत्पादन में, यंत्रों के उत्पादन में शरीर—श्रम नितान्त आवश्यक है। बिना इसके उत्पादन संभव नहीं। सर्वोदय अर्थव्यवस्था, शरीर—श्रम के उत्पादन और शरीर—श्रम करने वाले उत्पादक को ही श्रेष्ठता प्रदान करती है। इसीलिए शरीर—श्रम का पुरस्कार भी अधिक होना चाहिए।

साम्यवाद जिस तरफ हमें ले जा रहा है उसके मूल में शरीर—श्रम का महत्त्व है। सभी सिद्धान्तों को, व्यवस्थाओं को, श्रम को केन्द्र में रखकर साम्यवादियों ने निर्मित किया है। सर्वोदय—अर्थशास्त्र, साम्यवादियों की तरह श्रमिक को केवल स्वामी और उसे एकमात्र तानाशाह अधिकतम पुरस्कार प्राप्त करने के लिए ही नहीं मानता बल्कि शरीर—श्रम को उससे ऊँची प्रतिष्ठा प्रदान करता है। उसके महत्त्व, उसकी उपयोगिता, उपदेयता के साथ—साथ उसे मनुष्य के संस्कार का और मानवता का बहुत बड़ा रूप मानता है। इसीलिए जो कुछ भी उत्पादन है व शरीर—श्रम करने वालों को ही मिलना चाहिए, प्रधानता व श्रेष्ठता उसी की होगी। अन्य प्रकार के लोगों को या अन्य प्रकार के कार्यों के लिए उतना पुरस्कार नहीं दिया जा सकता।

अब सवाल उठता है कि बौद्धिक एवं शारीरिक श्रम का संबंध क्या है। प्रतिक्रियावादी लोग मानते हैं कि बुद्धि शरीर से श्रेष्ठ है और बौद्धिक—श्रम शारीरिक श्रम से अधिक प्रतिष्ठा वाला है। इसीलिए इसे ही अधिक प्रतिष्ठा दी जानी चाहिए। लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि बुद्धि स्वस्थ शरीर में ही रहती है। प्रत्येक शारीरिक—श्रम करने वाले के पास बुद्धि का रहना स्वाभाविक है। लेकिन शरीर में ही बुद्धि रह सकती है, बुद्धि शरीर नहीं। इसीलिए प्राणी विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार शरीर प्रधान होगा। आर्थिक रूप से भी प्रधान और बुद्धि गौण है। बहुत अधिक बुद्धिमान, शरीर से निर्बल होकर उत्पादन नहीं कर सकता है। बुद्धि निर्णय में तभी तक उपयोगी है जब तक शरीर प्राप्त करती है। शरीर की धर्मशास्त्र में भी महत्ता है। धार्मिक कार्य करने की शक्ति, उचित कार्य के लिए शरीर महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक साधन है।

उत्पादन के लिए शरीर—श्रम आवश्यक है। यंत्रों के मानव जीवन में दाखिल हो जाने से शनैःशनै हम मानने लगे हैं कि शरीर—श्रम की कोई विशेष उपादेयता नहीं है। पहले की स्थिति में जब

मनुष्य आदिम अवस्था में था तो वह सारा काम अपने शरीर के अंगों से ही करता था, लेकिन ज्यों-ज्यों मनुष्य ने आविष्कार किया त्यों-त्यों शरीर-श्रम अधिक उत्पादन होने से अधिक उत्पादन संभव हो सके। ये यंत्र मानव-शक्ति से ही संचालित होते थे। फिर दूसरा युग आया, जब मनुष्य ने उन यंत्रों का प्रयोग पशुबल से करना शुरू किया। उससे उसकी थकावट कम होती थी और अधिक घण्टे काम कर सकता था तथा अधिक उत्पादन कर सकता था। फिर तीसरी स्थिति आयी जिसमें मनुष्य ने ऐसा यंत्र बनाये जो भाप की शक्ति से चल सकते थे। उसमें मनुष्य का शरीर-श्रम तो लगता है लेकिन उतना अवसाद और थकावट उसमें नहीं है। उत्पादन मात्रा में वृद्धि हो गयी। चौथी स्थिति तब प्रारंभ होती है जब मनुष्य ने कोयले एवं तेल की शक्तियों से संचालित ऐसे यंत्रों का आविष्कार किया, जिसमें मनुष्य की आवश्यकता कम होने लगी। इनका नाम अभिनवीकरण दिया गया। इस स्थिति में मनुष्य का श्रम तो लगता था, लेकिन कम, साथ ही साथ कम थकावट से उत्पादन जो बिजली की शक्ति ये यंत्रों का संचालन करता है। इसमें मानव-श्रम बहुत कम लगता है। बहुत कम मनुष्य और प्रायः बहुत कम श्रम से काम होने लगता है। कार्य बिजली की मशीन से होने लगता है। ये पांच परिस्थितियाँ हैं।

दूसरा तर्क यह भी समझना चाहिए कि इन पांचों परिस्थितियों में जो शारीरिक—श्रम का पुरस्कार था इसमें परिवर्तन इस रूप में हो रहा है कि पहले की स्थितियों में कार्य का पूरा पुरस्कार शारीरिक—श्रम करने वाले को ही प्राप्त होता था, क्योंकि अपने शरीर एवं बुद्धि से वह उत्पादन के सभी यंत्रों का आविष्कार एवं स्वामी और प्रयोगकर्ता भी था। शरीर—श्रम एवं बौद्धिक—श्रम में कोई विशेषीकरण का भेद न था। आगे चलकर वैज्ञानिक प्रगति के कारण वैज्ञानिक आविष्कर्ता, इंजीनियर आदि विशेषज्ञों की एक दिशा हुई और शरीर—श्रम करने वाले की दूसरी दिशा हुई। जब ये भेद बढ़ा तब बुद्धि व शरीर के पुरस्कार में द्वन्द्व खड़ा हुआ। बौद्धिक श्रम करने वाले तकनीकज्ञ और शरीर—श्रम एवं बौद्धिक—श्रम की कसौटी, शरीर—श्रम, बनायी हुई मशीन के ढांचे और उसमें लाई गई गति, कार्यक्षमता के तरीके का भी भेद रहा है। दोनों इंजीनियर और श्रमिक मशीन के स्थूलकाय एवं मशीन की गति की भांति एक दूसरे से गूँथे हैं। मजदूर शरीरमूलक बुद्धिनिष्ठ—श्रम करता है। इंजीनियर बुद्धि—मूलक शरीर—निष्ठ श्रम करता है। इसलिए इन दोनों के पारिश्रमिक में विशेष अन्तर पाया जाना उतना अन्तर्विरोध का परिचायक नहीं है जितना व्यवस्था के नाम पर सामान्य कार्य करने वाले बाबू, सुपरवाइजन, मैनेजर—देखरेख करने वाले का है। आज इस अर्थव्यवस्था में और अन्य व्यवस्थाओं में जो गतिरोध है उसका प्रमुख उपकरण बौद्धिक—श्रम है। इन दोनों पुरस्कारों में जो इतनी विषमता है वह अनुचित है। इससे एक सामाजिक मूल्य क्षीण पुरस्कारों में जो इतनी विषमता है वह अनुचित है। इससे एक सामाजिक मूल्य क्षीण हो रहा है, जिसमें शरीर—श्रम करने वाले उत्पादक वर्ग किसान एवं मजदूर को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। आज इन दोनों वर्गों की समाज में प्रतिष्ठा नहीं है। इस प्रतिष्ठा का प्रमुख कारण यही है कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपयोग का उन्हें पूरा अधिकार नहीं है। इसीलिए आज की प्रतिष्ठा का पैमाना उपभोक्ता बन गया है। जो जितना ही अधिक उपभोग करता है उसे उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होता है। जब समाज उपभोक्ता प्रधान होता है तो उसमें आप सके वितरण प्राप्त होती है। जब समाज उपभोक्ता प्रधान होता है तो उसमें आप के वितरण की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग प्रधान होता है तो उसमें आप के वितरण की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं विलासमय बनाती हैं। इस उपभोग—प्रधान समाज के लिये जरूरी है कि उसके विलासमय बनाती हैं। इस उपभोग—प्रधान समाज के लिये जरूरी है कि उसके पास क्रय शक्ति अधिक से अधिक हो। दूसरे शब्दों में वह उत्पादन के अधिक से अधिक भाग का स्वामी बने, साथ ही

साथ उसे कम से कम शारीरिक श्रम करना पड़े। ये दोनों प्रवृत्तियाँ बौद्धिक श्रम के लिए अधिक पुरस्कार की योजना प्रदान करती हैं। इस स्थिति में शरीर-श्रम की अवहेलना होती है जबकि न्यायपूर्ण समाज में ऐसा नहीं होना चाहिए।

शारीरिक एवं बौद्धिक-श्रम के नाम से जो विषमता आज समाज में है उसका बड़ा कारण बौद्धिक-श्रम है। दूसरे शब्दों में उत्पादन में व्यवस्था के नाम पर जो तथाकथित बौद्धिक-श्रम प्रयोग में आता है, जैसा पहले बताया गया है इसके अन्तर्गत कार्यालयी व्यवस्था, निरीक्षण की व्यवस्था, विज्ञापन की व्यवस्था, बाजार की व्यवस्था आदि है। इसका यह परिणाम हुआ कि शारीरिक श्रम-अप्रतिष्ठित और बौद्धिक-श्रम प्रतिष्ठित होने लगा। समाज में आलस्य, काम न करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। ऐसे कार्य जो अनुत्पादक हैं उनमें कार्यक्षमता जोड़कर समाज ने मान्यता प्रदान की है। इसी को सफेदपोश कार्य कहते हैं। यह मनुष्य को उत्पादन-मूलक स्थिति से उपभोक्ता-मूलक स्थिति में ले जाता है। इससे स्पष्ट रूप दो वर्ग 1-श्रमजीवी, 2-बुद्धिजीवियों का होता है। ऐसी स्थिति में दोनों में यह दुराव प्रतिष्ठा एवं तिरस्कार के रूप में अस्वाभाविक है। व्यवस्था या बुद्धिजीवी उत्पादन कार्य में सहायक हो सकता है। उत्पादन में प्रमुख स्थान शारीरिक-श्रम का होता है। अतः प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार भी श्रमजीवी को ही मिलना चाहिए। आज समाज में दाम एवं नाम अर्थात् पुरस्कार एवं प्रतिष्ठा काम के साथ जितनी मात्रा में जुड़ेंगे उतनी मात्रा में उत्पादन तथा उत्पादक शक्ति विकास होगा। इसलिए समाज में पुरस्कार के या उत्पादित आय के वितरण के लिए एक ही कसौटी होनी चाहिए, अर्थात् उसी को अधिकतम पुरस्कार मिले जो शरीर से उत्पादक कार्य करने में प्रमुख रूप सहायक हो।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था प्रमुख रूप से शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा प्रदान कर समाज में उत्पादक की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहती है। निःसन्देह बौद्धिक-श्रम आवश्यक है। परन्तु यह अनिवार्य रूप से प्रमुख स्थान नहीं ले सकता है। अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं में बहुत अधिक प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार बुद्धिवाद को दिया गया, इससे श्रमिक का शोषण प्रारंभ हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तकनीकी विकास के साथ-साथ श्रमिकों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ा है और तकनीकी प्रयोग से श्रमिकों की कार्यक्षमता एवं उत्पादकता भी बढ़ी है और पहले की अपेक्षा उनके पुरस्कार में भी वृद्धि हुई है, रहन-सहन भी ऊँचा हुआ है। यहां तक कि साम्यवादी देशों में उनकी तानाशाही भी कायम हुई है। यह सब होते हुए भी बौद्धिक-श्रम के पुरस्कार की अपेक्षा उन्हें कम पुरस्कार की अपेक्षा उन्हें कम पुरस्कार एवं सुविधायें प्राप्त हैं। उनका जीवन-स्तर बौद्धिक-श्रम करने वालों की अपेक्षा कम ऊँचा उठा है। उनके लिए काम उद्यम की संभावनाओं में कम वृद्धि हुई है। सबसे बड़ी घातक बात यह हुई है कि उनकी प्रतिष्ठा गिरी है। उनका कार्य हेय समझा जाने लगा है। जब किसी समाज में कोई काम हेय समझा जाता है तब स्वाभाविक है कि साज में आय एवं सुविधाएं उसे कम से कम प्राप्त होती हैं। इन सब कार्यों में सबसे बड़ा हाथ शारीरिक श्रम का होता है। पुनः उत्पादन की प्रक्रिया बाजार की प्रक्रिया तथा उपभोक्ता तक पहुंचने में भी ऐसे अनेक कार्य हैं। जिनमें शारीरिक श्रम के बिना कुछ संभव नहीं है। ऐसी दशा में सामाजिक मूल्य को शारीरिक-श्रम के विरोध में रखना और घोर अपराध कहा जा सकता है। आज जब पुरस्कार द्वारा कार्य की प्रतिष्ठा होती है और उसी के द्वारा उत्पादन कार्य को प्रेरणा मिलती है, ऐसी स्थिति में शारीरिक-श्रम को अधिकतम पुरस्कार बहुत ही जरूरी है। मार्क्स ने दूर तक सोचकर सभी वस्तुओं के उत्पादन का स्वामित्व मूल्य का कारण शरीर-श्रम करने वाले मजदूर को माना। लेकिन यह सब होते हुए भी मजदूर शब्द घृणास्पद ही बना रहा। मजदूर या शरीर-श्रम को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिली, सर्वोदय अर्थव्यवस्था ने इसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की है, न केवल पुरस्कार ही बढ़ा, बल्कि शारीरिक-श्रम करना प्रत्येक व्यक्ति का पवित्रतम कार्य बनकर दिनचर्या में दाखिल कर लिया गया। इसलिए यह निर्विवाद है कि शारीरिक-श्रम का पुरस्कार एवं उसकी प्रतिष्ठा बौद्धिक-श्रम से अधिक होनी चाहिए।

आज का समाज चाहे उसका आधार पूंजीवादी हो, चाहे साम्यवादी दोनों में इस बात की मान्यता है कि काम करने वाले से अधिक, काम कराने की व्यवस्था करने वाले से अधिकार, प्रतिष्ठा और पुरस्कार दिया जाता है। इसके पीछे मूलभूत कारण क्या हैं उसे समझना आवश्यक है। पूंजीवादी व्यवस्था में दो विरोधी स्वार्थ दिखाई देते हैं, एक पूंजी का दूसरा श्रम का। पूंजी का निर्माण भी श्रम से ही होता है। इसमें किसी का विरोध नहीं है। हां, यह विवादग्रस्त अवश्य है कि उसका निर्माण किस प्रकार से होता है। मार्क्स ने जो पद्धति हमारे समक्ष रखी है उसमें सहमति एवं असहमति हो सकती है,

परन्तु इसमें तो कोई विरोध नहीं है कि श्रम से ही पूंजी का निर्माण होता है। इसीलिए एक भय, मन में रहता है कि जो श्रम निर्माता है, उसको यदि गौरव मिल जाता है या उसको भान हो जाता है तो अवश्य अपने अधिकारों की मांग वह कर सकता है। इसलिए समाजिक और राजकीय स्वीकृति प्राप्त जो साधनों का स्वामी है जिसे हम पूंजीपति कहते हैं, वह अपने और श्रमिक के बीच और एक तथाकथित बुद्धि-जीवियों को खड़ा कर देता है और व्यवस्था के नाम पर उन्हें प्रतिष्ठा, सुविधा आदि देता है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार यह होता है कि श्रमिक सीधे इन बुद्धिजीवियों से टकराता है और साथ ही साथ से व्यवस्थापक ऊंची दीवार बनकर उसके सामने इस प्रकार खड़े होते हैं कि पूंजीपति ओझल हो जाता है और सीधे लड़ाई श्रमिक और व्यवस्थापकों की होती है। पूंजीपति प्रत्यक्ष रूप से मजदूरों के सामने ही नहीं आता। वह तो इन व्यवस्थापकों के पीछे अपनी सार्थकता की पुष्टि करता है। कार्ल मार्क्स ने इन व्यवस्थापकों और बुद्धिजीवियों के रूप से दूसरे ही ढंग से व्यक्त किया है। परन्तु यहां शरीर-श्रम करने वाला श्रमिक इस बात का दुर्भाग्य ही मानता है कि उसने शिक्षा-दीक्षा नहीं प्राप्त की। इसीलिए उसे अप्रतिष्ठा, न्यून पुरस्कार मिल रहा है। उसे यदि शरीरश्रम से छुटकारा पाना है तो उसे बुद्धिजीवियों की श्रेणी में पढ़-लिख कर आना चाहिए। इसीलिए उसके मन में भी एक हीन भावना आती है और इस हीन भावना से वह अपने अधिकार के ज्ञान के च्युत हो जाता है और भाग्य को कोसता तथा शरीर-श्रम से घृणा करता है। साथ ही साथ यह मान लेता है कि शरीर-श्रम निम्नतम कार्य है, इसलिए यह कम पुरस्कार ही उचित है, बुद्धिजीवियों का कार्य कर लेती हैं और शरीर-श्रम ऐसी उत्तम वस्तु भी घृणा का कारण बन जाते हैं। मजदूरों के अधिनायकवाद के नाम पर चलने वाले साम्यवादी मजदूर राज्य में भी व्यवस्था का जाल बिछ जाता है।

2.5.3 गांधी की कर्ममीमांसा में श्रम का महत्व

भारतीय सभ्यता में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विवेचन मानवता को प्रधानता देता है। अर्थ मानव जीवन को इस प्रकार संबद्धित तथा विकसित करे कि मानवीय सभ्यता को किसी प्रकार का अघात न पहुंचे। अब तक के पाश्चात्य आर्थिक विचारकों ने जो विचार प्रस्तुत किया, इससे मानवीय सभ्यता, भौतिकता से इतनी ग्रसित हो गई कि उसकी प्राणशक्ति धूमिल पड़ गई। अर्थ-विचार की गंगा में नित्य नई धाराओं का सृजन और प्रवाह हो रहा है। इस प्रवाह में मानव-सभ्यता के अवयव-सदाचार, नैतिकता, मानवता, सहिष्णुता और प्रेम विलुप्त हो रही हैं। यह एक विडम्बना ही है। मनुष्य सम्पत्ति के मोह और भौतिकता के प्रवाह में खो गया है। क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने आधुनिक पूंजीवाद के आधार सम्पत्ति पर गम्भीर विचार किया और यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति वही है जिसका प्रतिमूल्य होता है। सभी वस्तुएं जिनका प्रतिमूल्य है, वे सम्पत्ति हो सकती हैं। तभी यह स्पष्ट हो गया कि मानवता, नैतिकता, सदाचार, करुणा, प्रेम आदि जिनके प्रति मूल्य होते ही नहीं और यदि इनमें प्रति-मूल्य की आकांक्षा आ जाती है तो ये अपवित्र, विकृत और आदर्शहीन हो जाते हैं, ये सम्पत्ति की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते। अतएव सांस्कृति और सम्पत्ति में विरोध है। सम्पत्ति का यह स्वरूप मानव-सभ्यता और सांस्कृति का स्रोत नहीं हो सकती और न तो मानवता का संरक्षण और पोषण ही कर सकता है। आदम स्मिथ और रिकार्डो के सम्पत्ति के इस स्वरूप, जिसका आधार प्रतिमूल्य होता है यदि जीवन में मान लिया जाय तो जीवन का चलना ही असंभव हो जाय। इसलिये उसे जीर्ण मतवाद कहकर कार्ल मार्क्स ऐसे मनीषियों ने अस्वीकार किया। बिना प्रतिमूल्य के जीवनदायिनी आवश्यकतायें और सेवायें मानव-समाज की पहली आवश्यकतायें हैं। जो भूखा है उसे अन्न, जो नंगा है उसे कपड़ा जो आश्रयहीन है उसे आश्रय मिले, यह मानवता का तकाजा है। हमारे सामाजिक जीवन में अर्थशास्त्र का प्रतिमूल्य का सिद्धान्त 'कम से कम' चलन में है। इसी से भारतीय सामाजिक जीवन अभी तक चल रहा है। जितना ही प्रतिमूल्य का सिद्धान्त मानव जीवन में वृद्धि पाता है उतना ही जीवन का निर्वाह कठिन होने लगता है। उतना ही मात्रा में मानव सभ्यता और संस्कृति का ह्रास होता है।

एडम स्मिथ के उपरान्त रिकार्डो ने मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का विवेचन किया। मानव निर्मित वस्तुओं का उत्पादन, उपकरणों का उत्पादन आदि सभी श्रम से ही होता है। अतः सभी वस्तुओं का मूल्य श्रम ही है। आगे चलकर मार्क्स ने इसे अपना लिया और यह मान्यता दी कि श्रम ही किसी वस्तु का मूल्य है। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त निकला। श्रमिक इतना श्रम करता है उससे कम प्रतिमूल्य उसे प्राप्त होता है और बचे हुए श्रम का मूल्य अनुत्पादक पूंजीपति हड़प लेता है।

सबसे प्रमुख विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या श्रम का वास्तविक मूल्य हो सकता है? इसके विवेचन में हमें परिस्थिति के अनुसार मूल्य के सिद्धान्त का भी विचार रखना चाहिए, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार जब समाज में वस्तुओं को जैसी प्रचुरता या न्यूनता होती है उसी के अनुसार वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है। इस सिद्धान्त में श्रम के वास्तविक मूल्य कोई विचार नहीं है। इसी प्रकार से जब लड़ता बीमार है। उसकी मां महीनों उसकी सेवा करती है तो उसके एक दिन-रात के परिश्रम का वास्तविक प्रतिमूल्य न तो पूंजीवादी व्यवस्था में और न तो साम्यवादी एवं समाजवादी व्यवस्था में ही होता है। इस श्रम का श्रम प्रतिमूल्य कभी हो ही नहीं सकता। श्रम का प्रतिमूल्य निर्धारित नहीं हो सकता, इसे सिद्धान्त रूप समाजवाद ने भी स्वीकार कर लिया है। समाज में इस विवेचना के उपरान्त दो सिद्धान्त हमारे समक्ष आते हैं। प्रथम योग्यतानुसार परिश्रम अर्थात् प्रतिमूल्य निरपेक्ष परिश्रम दूसरे जितनी आवश्यकता उतना ही उपभोग एवं परिश्रम। इन दोनों सिद्धान्त में कोई पारस्परिक संबंध और व्यवहारिक सामंजस्य नहीं दिखलाई पड़ते। हम जितना श्रम करें उतना ही उपभोग करें तो आवश्यकता गौण हो जाती है। उतना ही श्रम करें उतना ही उपभोग करें तो आवश्यकता गौण हो जाती है। जितनी योग्यता हो उतना ही श्रम करें और आवश्यकतानुसार उपभोग करें। नये आर्थिक दर्शन तथा जीवन दर्शन में क्रान्ति द्रष्टाओं ने इस पृष्ठभूमि में विचार-विमर्श किया। परन्तु व्यवहार में इस सामंजस्य की फलीभूत न कर सके, यही बिडम्बना रही है।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि जितनी योग्यता है उतना परिश्रम क्यों किया जाय? अर्थात् श्रम का प्रेरक क्या हो? आज तक किसी ने इसका सही उत्तर नहीं दिया। क्लासिक अर्थशास्त्रियों ने इसका प्रेरक प्रतिमूल्य को बतलाया। अर्थात् जितना प्रतिमूल्य उतना श्रम। परन्तु जिस क्रिया में प्रतिमूल्य की उपेक्षा नहीं, वही नैतिकता, सदाचार, मानवता है। किसी के दुःख में दौड़कर सम्मिलित हो जाना यही मानवता की प्रेरणा है, जिसे साम्यवाद ने सामाजिक प्रेरणा कहा है। यह स्पष्ट है कि यह सामाजिक प्रेरणा है आर्थिक प्रेरणा है आर्थिक प्रेरणा नहीं। परन्तु यह भी सत्य है कि यह समाजवादी प्रेरणा स्वार्थमय सामुदायिक प्रेरणा होती है। इसमें नैतिकता नहीं हो सकती, क्योंकि स्वार्थ चाहे वैयक्तिक हो चाहे सामुदायिक, दोनों स्वार्थ ही हम मानवीय प्रेरणा कह सकते हैं। यह प्रेरणा निःस्वार्थ एवं निरपेक्ष होती है। इसमें उदारता अधिक, स्वार्थ कम होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य करने की प्रेरणा का प्रश्न अर्थशास्त्र नहीं हल कर सकता। आज समाजवाद से ऊब कर मनुष्य ऐसा महसूस कर रहा है कि इससे अब स्पष्ट हो गया कि मनुष्य को नीति एवं ज्ञान से प्रेरणा मिलती है।

मनुष्य दूसरे के परिश्रम की रोटी न खाये और यदि खाये तो बिना उसकी मर्जी के न खाये। अच्छा हो कि मनुष्य अपने परिश्रम की रोटी खाये और इससे अधिक बढ़कर यह भी हो सकता है कि मनुष्य अपने परिश्रम रोटी दूसरे को खिलाये। यही मानवता है। इसमें मानव प्रेरणा है क्योंकि यहां प्रतिमूल्य नहीं है। ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि मनुष्य मो बड़ना अधिक तकनीक का ज्ञान हो जाय कि मनुष्य की आवश्यकता ही न होगी। यह मान्यता कि श्रम से ही उत्पादन होता है इसलिये अनिवार्य श्रम उपकार है। इससे यब बात स्पष्ट हो जाती है मिक यदि हम श्रम का संबंध रोटी या उपभोग से मानते हैं तो नैतिकता का प्रश्न जटिल हो जाता है। और मानव संस्कृति का आधार पेट बन जाता है। मनुष्य का दिशा और दिमाग पेट में समा जाता है।

अपनी रोटी के लिए दूसरों का पसीना बहाना, इससे उत्तम यह है कि अपने पसीने से अपनी रोटी खाना और इससे भी उत्तम है कि अपने पसीने से दूसरों को रोटी खिलाना। इसे हम मानवीय दर्शन का सिद्धान्त मान सकते हैं कि अपने पसीने से दूसरों को रोटी दिलाई जाय। यहां पर मानवीय श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं है। पूंजीवाद में अपने परिश्रम से अपनी रोटी उत्पन्न करना अर्जित सम्पत्ति माना है। समाजवाद उससे एक कदम आगे बढ़कर यह मानता है कि सम्पत्ति माना है। समाजवाद उससे एक कदम आगे बढ़कर यह मानता है कि सम्पत्ति स्वअर्जित तथा अनर्जित दोनों ही नहीं होगी। आवश्यकता की वस्तु सम्पत्ति नहीं। समाजवाद में इस प्रकार की सम्पत्ति जिससे दूसरी सम्पत्ति उत्पन्न हो सके तो जो बेची जा सके, वह न तो पारिवारिक होगी और न तो व्यक्तिगत होगी। लेकिन समाजवाद या साम्यवाद ने श्रम को आर्थिक आवश्यकता ही माना है। परन्तु यह ऐसा है नहीं। गांधी जी के सर्वोदय समाज में परिश्रम मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकता है। यहीं गांधी जी के आर्थिक दर्शन की विशिष्टता एवं महत्ता है। श्रम संस्कृति व सभ्यता का स्रोत है। सदाचार नैतिकता और मानवता की बुनियाद यह श्रम बन जाता है। दोनों का विरोध नहीं है। मनुष्य की आकांक्षा अपरिमित है। भोग में

संयम, स्वस्थ मानव के लिए परम आवश्यक है। उपभोग शक्ति सीमित है। आज उपभोग की वस्तुओं का बाहुल्य सामाजिक प्रतिष्ठा-द्योतक है। सामाजिक प्रतिष्ठा आज के समाज में उपभोग बाहुल्य में है जब तक उपभोग के साधनों की बाहुल्यता सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बनी रहेगी तब तक समाज असभ्य असंस्कृत ही रहेगा, क्योंकि यह वासना-प्रधान समाज होगा। आवश्यकता कम, आकांक्षा अधिक, उपभोग के साधनों की प्रचुरता इससे अधिक मनुष्य को अविवेकपूर्ण व्यवहार के लिए बाध्य कर देती है। इसलिये किसी समाज के संयोजन का आधार उपभोग को न बना कर उत्पादन को ही बनाना चाहिए, इससे मनुष्य कलात्मक जीवन, सादा, जीवन, स्वस्थ जीवन से विभूषित होकर अपनी गुणात्मक आन्तरिक शक्तियों का विकास करेगा। और सभ्यता और संस्कृति की नींव पुष्टि होगी। उत्पादक मानव की प्रतिष्ठा होगी। श्रमनिष्ठ मानव प्रतिष्ठित मानव बनेगा। इससे जीवन तथा कार्य से त्याग, करुणा, प्रेम का सृजन होगा। एक स्वस्थ मन और शरीर वाला मानव प्रकट होगा। मनुष्य का स्वभाव संग्रह करने का नहीं है। इसलिये संग्रह की आवश्यकता एवं प्रवृत्ति आसानीपूर्वक उठ जानी चाहिये। जहां उत्पादन ऐसा होगा, जो अभाव को कम करेगा। और जहां अभाव नहीं होगा, यहां अधिक उपभोग नहीं होगा। और जहां अभाव नहीं होगा उपभोग संयम से बंधा होगा। इसके लिए आज के युग में जीवनदायिनी स्वास्थ्यवर्धक आवश्यक आवश्यकतायें, जिनकी मांग विश्वव्यापी है जैसे अन्न को प्राथमिकता देनी चाहिये। जब प्रधान आकांक्षा उद्योगीकरण की होती है तो कृषि का उपभोग उद्योग के लिए होने लगता है। उद्योग इस लिये बढ़ता है कि सम्पत्ति का अधिक निर्माण हो। सम्पत्ति के निर्माण का यही लक्ष्य होता है कि मानव की आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं का अधिकतम निर्माण हो। कच्चा माल तथा अन्न का संघर्ष उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में अन्न का बाहुल्य सभी को सुखमय बनायेगा। इसलिये अन्न प्रधान संयोजन होना चाहिये यही संयोजन मानवीय संयोजन होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो जैसा आज हो रहा है कि मनुष्य बढ़ रहे हैं, परन्तु अन्न के अभाव में मानवता कम हो रही है। आज फूल खिल रहे हैं परन्तु उसमें सुगन्ध कम है। इसी अन्न के अभाव के कारण जीवन-धारण करने वाले नवीन बच्चों का स्वागत नहीं हो रहा है और जहां स्वागत नहीं वहां सभ्यता और संस्कृति नहीं। इसलिये अन्न के लिए भी प्रतिमूल्य का सिद्धांत नहीं हो सकता, उसी प्रकार से जैसे श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं हो सकता। प्रतिमूल्य का सिद्धान्त ही मानव सभ्यता और संस्कृति पर आघात करता है। गांधी जी का आर्थिक दर्शन प्रतिमूल्य सिद्धान्त को नहीं मानता। इसलिये इस दर्शन के मानव सभ्यता और संस्कृति के स्रोत हैं। यही इस दर्शन का अपूर्व देन है।

3. ग्रामोद्योग एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था

स्वदेशी और ग्रामोद्योग का विचार गांधीजी के आर्थिक ढांचे की आधारशिला है। स्वदेशी और ग्रामोद्योग दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। गांधीजी ने स्वतंत्रता आंदोलन में स्वदेशी पर अधिक बल दिया था। साधारणतः हम स्वदेशी को संकुचित अर्थ में समझते हैं। परन्तु गांधीजी ने स्वदेशी का काफी विस्तृत अर्थ लिया है। उन्होंने स्वदेशी की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है—“जो वस्तु करोड़ों भारतीयों के हितों का सम्वर्द्धन करती हो, भले उसमें लगी पूंजी और कौशल विदेशी हो वह स्वदेशी है, अलबत्ता यह पूंजी और कौशल भारतीय नियंत्रण के अधीन होना चाहिए।”

3.1 ग्रामोद्योग

ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार गांधी अर्थव्यवस्था का व्यावहारिक स्वरूप है। गांधीजी ने भारतीय परिस्थिति को सामने रखकर ग्रामोद्योग का विचार रखा है। सन् 1920 के लगभग भारत में जितने कपड़े का उपभोग किया जाता था, उसका आधा विदेश से आता था परन्तु पूरी आवश्यकता भर कपड़ा भारत में नहीं आता था। विदेश में जाकर तैयार होता था। इससे भारत का शोषण बढ़ गया था। गांधीजी ने भारतीय अर्थव्यवस्था का गंभीर अध्ययन किया और उसके बाद खादी ग्रामोद्योग का विचार देश के सामने रखा। 1908 में गांधीजी के मन में खादी अर्थात् चरखा का विचार आया। तब से जीवन पर्यन्त इसके प्रचार में लगे रहे। गांधीजी ने खादी ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में कहा है—“खादी का मूल उद्देश्य प्रत्येक गांव को अपने भोजन एवं कपड़े में स्वावलम्बी बनाना है।” अर्थात् प्रत्येक गांव भोजन और वस्त्र के मामले में पूर्ण स्वावलम्बी हों। इसका अर्थ यही है कि व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर ले।

भारत में करोड़ों लोगों को काम देने के लिए एकमात्र साधन खादी और ग्रामोद्योग है। यहां पर एक भ्रामक प्रश्न उठता है कि क्या गांधी जी विज्ञान से दूर हटते थे? क्या वे मशीनों के प्रयोग का विरोध करते थे? उत्तर में कहा जा सकता है कि गांधीजी न तो विज्ञान का विरोध करते थे और न मशीन के प्रयोग का। वे तो पूर्ण वैज्ञानिक थे। उनका सारा जीवन ही सत्य की खोज में बीता है। गांधीजी रोजगार के रूप में उन्हीं उद्योगों को अपनाने के लिए कहते हैं जिनसे व्यक्ति उतना उत्पादन कर ले जिससे उसकी आवश्यकता की तृप्ति आसानी से हो सके। मिल और मशीन के उपयोग के बारे में गांधीजी ने कहा है, “सूत मिल के साथ-साथ चरखे न चल सकने के लिए कोई कारण नहीं है। जिस तरह घर का रसोई घर भी चलता है और होटल भी चलता, उसी तरह ये दोनों साथ-साथ चल सकते हैं।”

परंतु गांधीजी हमेशा और हर जगह मिल चलाने की कटु आलोचना करते थे। मिल का उपयोग सेवा के लिए हो न कि शोषण और बेकारी के लिए। उन्होंने कहा है “अगर मिलें आज की तरह जनता को लूटने के लिए नहीं बल्कि उनकी सेवा करने के लिए चलाई जायें तो वे घर-घर चरखों और करघों के काम में मदद करेंगी और उनकी जगह नहीं लें लेंगी जो आज वे ले लेती हैं।” गांधीजी न तो मिल एवं मशीन का विरोध करते थे और न आधुनिक विज्ञान का ही। उत्पादन इस ढंग से किया जाय जिससे सबको काम मिल सके और अत्युत्पादन न हो सके। उत्पादन उपभोग के लिए किया जाय न कि व्यापार के लिए।

आधुनिक युग में मनुष्य की आवश्यकताएं अधिक हो गयी हैं। प्राचीनकाल में मनुष्य की आवश्यकताएं सीमित थीं। अतः आज हमें ऐसे उद्योग चलाने पड़ेंगे जिससे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। खादी और ग्रामोद्योग जिस रूप में पहले था उसी रूप में आज नहीं चल सकता है। गांधीजी इस सम्बन्ध में ग्रामोद्योग का अभिनवीकरण करना चाहते थे। सभी उद्योगों में सुधार किया जाय। पर इसमें मशीन व शक्ति के प्रयोग की एक सीमा होगी। मशीन एवं शक्ति का उपयोग करने में यह ध्यान में रखें कि उससे शोषण और बेकारी न आने पाये। गांधीजी ग्रामोद्योग का समर्थन करते थे। पर बड़े उद्योग का पूर्ण बहिष्कार भी नहीं करते थे। जो चीजें ग्रामोद्योग में नहीं बनायी जा सकती हैं, उन्हें बड़े उद्योगों में बनाना पड़ेगा। रेल, मोटर, जहाज और अन्य बड़ी एवं जटिल चीजें गांव-गांव में नहीं बन सकती हैं। वे बड़े-बड़े कारखानों में ही बनेंगी। परंतु जहां तक संभव हो सके हमें अधिकतम चीजों का उत्पादन ग्रामोद्योग से ही करना चाहिए। अतः गांधी जी चाहते थे कि अर्थव्यवस्था अधिकतम विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़े।

गांधीजी ग्रामोद्योग में पूरक धंधे का रूप भी देखते थे। भारतीय किसान साल में कई महीने बेकार रहते हैं। इस खाली समय में ये छोटे एवं कुटीर उद्योग को करें। जिससे उन्हें कुछ आर्थिक सहायता मिलेगी। भारत में लाखों परिवार ऐसे हैं जिनकी आर्थिक दशा काफी दयनीय है। ग्रामोद्योग से उन्हें काफी सहायता मिल सकती है। इन विचारों के अलावा भी आधुनिक युद्ध के संकट से बचने के लिए ग्रामोद्योग लाभप्रद है। अगर ग्रामोद्योग जीवित है तो युद्ध आदि से कम नुकसान होगा। अकाल और अन्य आर्थिक संकट के समय काम देने का ग्रामोद्योग आम साधन है। स्वशासन को कार्यान्वित करने के लिए ग्रामोद्योग काफी सहायक होगा। जब हम देश की जनता को अधिक से अधिक अधिकार देने की बात करते हैं तो हमें ऐसी अर्थव्यवस्था चलानी पड़ेगी जिसमें प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन गांव में ही करें। अतः ग्राम स्वावलम्बन के लिए ग्रामोद्योग आवश्यक है।

गांधीजी के ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार को कुछ अंश में कार्यान्वित करने का प्रयास भारत में किया जा रहा है परंतु आज भारत ऐसी स्थिति से गुजर रहा है कि ग्रामोद्योग का पूरा विकास एवं लाभ नहीं मिल पा रहा है। पर इतना तो ध्यान में रखना ही पड़ेगा कि बिना ग्रामोद्योग के भारत का पूर्ण विकास संभव नहीं है। इसके बिना भारतीय समस्यायें नहीं सुलझ सकती हैं। भारत में अधिक आबादी होने के कारण सबको काम देने का काम, ग्रामोद्योग की उपेक्षा करके नहीं किया जा सकता है। एक भाषण में स्वर्गीय पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि भारत का विकास ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग से ही संभव है। अब लोग धीरे-धीरे समझने लगे हैं कि भारत जैसे घनी आबादी वाले देश के लिए ग्रामोद्योग ही समस्या का एकमात्र हल है।

3.2 खादी : विकेन्द्रित उद्योगों की धुरी

अन्न के उपरांत वस्त्र का महान् महत्त्व है। यदि मनुष्य अन्न और वस्त्र में स्वावलम्बी हो जाता है तो वह स्वतंत्र हो जाता है। यह स्वावलम्बन की प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के स्वावलम्बन, परिवार के स्वावलम्बन, गांव के स्वावलम्बन के चलकर राष्ट्र स्वावलम्बन में बदलती है। मनुष्य के पास भगवान ने हाथ पैर की बड़ी शक्ति दी है। उस शक्ति का प्रयोग यदि प्रत्येक व्यक्ति करता है तो उसका कर्तृत्व बढ़ता है। बच्चों से लेकर बुढ़ों तक, महिलाओं से लेकर पुरुषों तक सबके हाथ चलते हैं तो प्रतिदिन करोड़ों गज वस्त्र का निर्माण होता है। महात्मा गांधी ने इसे प्रतिदिन का यज्ञ माना। शिक्षण का माध्यम माना, जीवन की सुरक्षा माना और श्रम की प्रतिष्ठा माना, प्रतिदिन अरबों घण्टे बेकार हो रहे हैं। उनका सदुपयोग चर्खे से ही संभव है। चर्खा पेट भर अन्न, तन भर वस्त्र, स्वाभिमानपूर्वक अपने घर में बैठकर अर्जित करने की शक्ति देता है।

गांधीजी की पैनी दृष्टि इसी चर्खे की ओर पड़ी और इसके धागे को उन्होंने सोने चांदी से भी श्रेष्ठ माना। सूत की करंसी भी चलायी। उत्पादक श्रमिक को प्रतिष्ठा प्रदान की। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को जगाकर उन्होंने वस्त्र को बाजार से हटा दिया। केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं, दुनिया के मानव के लिए संदेश दिया कि अत्यधिक उत्पादन की जगह पर सभी व्यक्तियों द्वारा उत्पादन श्रेष्ठ है। भारतवर्ष के लिए चर्खा बहुत ही आवश्यक है, यह बहुत ही व्यावहारिक है, इसे तुरंत अपनाया जा सकता है। क्योंकि इसके लिए न तो अधिक पूंजी और न तो खर्चीले कच्चे माल की आवश्यकता होती है, इसके लिए कच्चा माल और यंत्र सभी जगह सस्ते और आसानीपूर्वक उपलब्ध होते हैं। भारतवर्ष के गरीब और अशिक्षित नागरिक के पास जितना कौशल और बुद्धि है उतनी ही इस चर्खा को चलाने में आवश्यक है। बहुत बड़े कौशल की आवश्यकता इसमें नहीं होती है। इसके चलाने में बहुत कम शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है छोटे-छोटे बच्चे, बुढ़े, सभी इसे चला सकते हैं और अपने परिवार की आवश्यकता की तृप्ति कर सकते हैं। आज भी चरखे की परम्परा इस देश में मौजूद है। वस्त्र की आवश्यकता विश्वव्यापी है। इसलिए यह एक आय की समृद्धि का साधन भी बन सकता है। अकाल के समय जब खेती नष्ट भ्रष्ट हो जाती है तब भी और सामान्यतः बराबर वर्षभर यह चलाया जा सकता है। अकाल के भय से मुक्ति मिल सकती है। इस देश के वासी चूल्हा, चक्की और चर्खे को पवित्र मानते हैं, इसलिए इसकी पूजा करते हैं। चर्खा प्रत्येक झोपड़ी तक पहुंच कर वहां के दारिद्र्य-नग्नता का निराकरण तो कराता ही है साथ ही साथ झोपड़ी से महलों तक सबके लिए यह संदेश देता है। भारतीय गांव के जीवन में एक उल्लास का भाव पुनः जागृत होता है। लाखों भारतीयों के जीवन-यापन का यह साधन है। ग्रामीण की शक्ति गांव में ही अक्षुण्ण रह जाती है। चर्खे से सभी अन्य प्रकार के उद्योगों का संचार होता है सभी साथ-साथ विकसित होने लगते हैं। गांव को सभी वस्तुओं के लिए स्वावलम्बी बना देते हैं। सम्पत्ति का वितरण सभी में कर्तृत्व के कारण सम होने लगता है। करोड़ों हाथों को रोजगारमय करने का कार्य चर्खा आरंभ करता है। वस्त्र, अन्न, तेल, गुड़, जूता, बर्तन आदि वस्तुएं विपुलता में प्राप्त होने लगती हैं सर्वसुलभ होती हैं। महंगे सस्ते की सम्यता ही समाप्त हो जाती है। खेतीबारी, पशुपालन, उद्योग एक दूसरे के सहायक होकर एक दूसरे को समृद्धिशाली बनाते हैं। करोड़ों हाथों की मशीन से उत्पादन सभी जगह होने लगता है। यह उत्पादन आवश्यकतानुसार तथा सर्वसुलभ होने लगता है। गांधीजी विदेशी वस्त्र को शरीर के अंदर बाहरी तत्त्व के समान मानते हैं। विदेशी वस्त्र का प्रत्येक गज भूखे दीन भारतीयों के मुंह से रोटी का एक ग्रास छीन लेता है। खादी के धागे-धागे में लाखों माँ, बहनों का प्यार भरा का स्वरूप दिखाई देता है। उनके सपनों के भारत में घर-घर चरखा चलेगा। सभी को अपने घर-गांव में स्वास्थ्यवर्द्धक वातावरण में कार्य मिलेगा। एक-एक क्षण का प्रयोग होगा। समय बर्बादी नहीं होगी। सभी काम आवश्यक होंगे।

गांधीजी ने ऐसी आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की है, जिसमें सघन खेती, छोटे पैमाने पर व्यक्तियों द्वारा खाद्य पदार्थ, साग-सब्जी, फल-फूल, पशुपालन से सम्पन्न सहकारी प्रयासों पर आधारित होगी। इस खेती में मशीन, बड़े पैमाने पर खेती सामूहिक खेती नहीं होगी। दूसरे, कृषि के सहायक कुटीर उद्योग विकसित होंगे। उनके लिए कच्चा माल गांव से ही प्राप्त होगा। तीसरे, गौ-सेवा, पशु प्रधान कृषि की अर्थव्यवस्था में ऐसी स्थिति होगी कि जो कुछ भूमि से फसलों के रूप में प्राप्त होगा वह गोबर की खाद के रूप में भूमि को वापस कर दिया जायगा। चौथे पशु, मनुष्य और वनस्पतियों का सम्बन्ध उचित और संतुलित होगा। उसमें पारस्परिक लाभ की व्यवस्था होगी। पांचवे पशु और मनुष्य की शक्ति का पूरा-पूरा प्रयोग और संरक्षण होगा। बड़ी-बड़ी मशीनों और शोषणपूर्ण बाजारों द्वारा इनका

शोषण नहीं किया जायगा। छठें, ग्रामोद्योग का पूर्ण विकास किया जायगा और उसमें चरखा और खादी सबसे बड़ा केन्द्र होगा। सभी व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए अपने ही उपकरणों, अपने ही हाथ पैर पर निर्भर रहेंगे। इस प्रकार सबका स्वसम्पन्न स्वाभिमानपूर्ण समृद्धिशील जीवन होगा।

खादी और चरखा बहुत ही सस्ते और सर्वसुलभ हैं। हमारा यह भ्रम है कि हम खादी को महंगा, ग्रामोद्योग की वस्तुओं को महंगी और मिल के कपड़ों को सस्ता कारखाने के सामान को सस्ता समझते हैं। यह अर्थशास्त्र जिसके द्वारा हम सस्ते को महंगा और महंगे को सस्ता समझते हैं बड़ा ही भ्रांतिमूलक है। मिल और कारखाने अपनी बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा लाखों मनुष्यों को बेकार कर देते हैं, ये बेकार मनुष्य क्रयशक्तिविहीन होकर अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये तड़पते हैं, भूखों मरते हैं, वस्त्रविहीन होते हैं। कल्याणकारी सरकार मिलों और कारखानों पर टेक्स लगाकर इन बेकार मनुष्यों को भिक्षा देकर दान देकर जिलाती है। ऐसे मनुष्य, जो सरकार की इस भिक्षा पर जीवित हैं, स्वाभिमान रहित, पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं, गुलाम से भी निकृष्ट उनका जीवन होता, इनके हाथ पैर इनकी बुद्धि बेकार होती है। काम न करने से उनका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है, शारीरिक विकास भी नहीं होता, रोगग्रस्त होते हैं, कल्याणकारी राज्यों को इन सबकी सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है। भिक्षुक कर्मशालायें चलानी पड़ती है, यह बेकारी जघन्य अपराध और पाप का कारण बनती है, अपराध वृद्धि, अनैतिकता आदि का प्रसार होता है। आत्म हत्यायें, आलस्य आदि की वृद्धि होती है। यह है, मिल और कारखानों की मशीनों का परिणाम। यह बहुत ही महंगा पड़ता है।

जो थोड़े से व्यक्ति औद्योगिक नगरों में इन मशीनों के पुर्जे बनकर कार्य करते हैं, वे नर कंकाल गंदी बस्तियों, गंदे वातावरण, गंदे जीवन के कारण अपने सारे मानवीय आनन्द खो देते हैं। वे अपना स्वास्थ्य अपनी नैतिकता को खोते ही हैं, साथ ही साथ एक घृणित प्राणी बनकर जीवन यापन करते हैं। यह सब इन मशीनों और कारखानों के कारण ही होता है। इन त्रुटियों और कलंक को मिटाने के लिए राज्य को बहुत धन व्यय करना पड़ता है। इन त्रुटियों और कलंक को मिटाने के लिए राज्य को बहुत धन व्यय करना पड़ता है यह बहुत ही महंगा पड़ता है। ग्रामोद्योग की वस्तुओं के उपभोग से जैसे हाथ की बनी चीनी, हाथकुटा चावल, तेलघानी का तेल आदि बहुत ही स्वास्थ्यवर्द्धक होता है। इसके उपभोग से मनुष्य स्वस्थ एवं दीर्घायु होता है। अस्वस्थता पर, बीमारी पर बिल्कुल ही व्यय नहीं करना पड़ता है। परंतु जब हम मिल की चीनी, मिल के तेल, मिल का चावल का उपभोग करते हैं तो अनेक रोगों के शिकार होते हैं, और डॉक्टर एवं औषधियों पर अधिक व्यय करना पड़ता है, इसलिए ग्रामोद्योग की वस्तुएं सस्ती और मिल कारखाने की वस्तु महंगी पड़ती है।

खादी करोड़ों व्यक्तियों को रोजगार देती, स्वाभिमान पूर्वक जीवन व्यतीत करने की शक्ति देती है। समाज में जो पेशे के कारण ऊंच नीच का भेद है उसका निराकरण करती है। श्रम को प्रतिष्ठा देती है। सभी के कर्तृत्व और पुरुषार्थ को उचित अवसर देकर उनकी इंद्रियों को विकसित करती है। खादी और खादी बनाने के उपकरण का स्वामित्व उसी का होता है। इसलिए उसमें मालिक और मजदूर के विचार आते ही नहीं। किसी प्रकार के हड़ताल, तालाबंदी के लिए कोई गुंजाइश नहीं। बच्चों से लेकर बुढ़ों तक की रचनात्मक और सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। अपने स्वस्थ परिवार के वातावरण में अपनी कुटिया और प्राकृतिक वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति कार्य करता है, और कार्य का आनन्द लेता है। अपने हाथ से बनाये हुये वस्त्र प्रयोग करता है। अपने संसार की सृष्टि राम बनकर करता है। यह बाजार से हटकर परिवार में सारी मूलभूत आवश्यकताओं की तृप्ति करता है। खादी द्वारा प्राप्त सारी सम्पत्ति इस स्वावलम्बी व्यक्ति की होती है। अपने हाथ से कती हुई, अपने हाथ से बनी हुई, अपने हाथ से धुली हुई खादी धारण करके वह सुख का अनुभव करता है। मिल के कपड़े से खादी बहुत सस्ती पड़ती है। खादी की और मिल के कपड़े की पूर्ण लागत या तो कहे कि वास्तविक लागत को जब हम समझते हैं तो मिल का कपड़ा बहुत ही महंगा पड़ता है।

खेती के साथ-साथ या अन्य पेशों में साथ-साथ छोटे से चर्खे या छोटे से ग्रामोद्योग के यंत्र को लेकर मनुष्य मनोरंजन के रूप में उत्पादन करता है। जितना समय मनुष्य का आलस्य और बेकारी में नष्ट हो जाता है, वह खादी या अन्य वस्तुओं के बनाने में मनोरंजन के रूप में लगता है। इसलिए इसकी कोई विशेष लागत नहीं होती, यह तो आनन्द के लिए एक कार्य बन जाता है, क्योंकि कार्य का परिवर्तन ही अवकाश और आनन्द है। यह भी एक भ्रम है कि मिल और कारखानों से अधिक उत्पादन

होता है। एक गांठ रूई से मिल में जितना वस्त्र बनता है, उतना ही वस्त्र चर्खे से भी बनता है। जितना तेल, जितनी चीनी, जितना आटा मिल और कारखानों से एक मन कच्चे मान में बनता है उतना ही ग्रामोद्योग के यंत्रों से भी बनता है। अंतर केवल यही है कि वे केन्द्रित उद्योग हैं और ग्रामोद्योग विकेन्द्रित उद्योग हैं। अधिक और न्यून उत्पादन का यह विचार भी भ्रांतिमूलक है। इस प्रकार से खादी का अर्थशास्त्र हमारे लिए बहुत ही सस्ता, बहुत ही स्वास्थ्यवर्द्धक और बहुत ही उपयोगी है।

इसकी रूपरेखा गांधी ने उसी समय जनता के सम्मुख रख दी, जब दक्षिण अफ्रीका से लौट कर उन्होंने हिन्दुस्तान को अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया था। उस समय की समस्या बहुत कठिन समस्या थी। सिर पर महान ब्रिटिश साम्राज्य की तलवार हिन्दु-मुस्लिम अनैक्य, छुआछूत का भूत, अज्ञान की खाई-कुशिक्षा का कुमार्ग और भुखमरी की भरमार से सब गांधी को विचलित कर रहे थे पर गांधी उससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने आत्मबल की हुंकार भर से सबसे भिड़ जाने की ठान ली। सबसे लड़ना शुरू कर दिया और गरीब-से-गरीब बन लगोटी लगा ली, झोपड़ी में रहने लगे और रूखी या फल-फूल खा या बकरी का दूध पीकर जीवन निर्वाह करने लगे, क्योंकि वे इसके लिए नहीं ठहर सकते थे कि पहले सब उनके मत के हो जायें। देश अन्य देशों को पहनने के लिये उत्तम कपड़ा भेजता था, वह विलायत के मेनचेस्टर आदि स्थानों के कपड़ों पर निर्भर हो जाय और गरीब को तन ढकने के लिये कपड़ा न दे सके यह उनसे न सहा गया इसलिये इन्होंने घर-घर चरखा सूत कातने बुनने और खादी पहनने का आदेश दिया। साथ-ही-साथ हाथ से कपास ओटने, रूई धुनने और धुनी हुई रूई की पौनी बना लेने का भी प्रचार किया, ताकि कपड़ा बनाने की कार्रवाई भी क्रिया ऐसी न रहे, जिसके लिए मशीन या विदेशियों पर निर्भर रहना पड़े। अंधकार से निकालने वाली भूख और बेकारी से बचाने वाली, अतिरिक्त समय का सदुपयोग कराने वाली, जाति-भेद को मिटाने वाली, वह थी सर्वोदय की प्रथम राशि।

यह चर्खा-खादी वाला उद्योग, गांधी की आर्थिक योजना का मुकुट है। उसमें स्वावलम्बन अहिंसा, विकेन्द्रीकरण, रचना और व्यक्तित्व उसमें कूट-कूट कर भरे हुए हैं। वह भूखे को भोजन और नंगे को कपड़ा देने वाला तो है ही, पर समाज को भी साथ ही साथ अर्थ सम्पन्न करने वाला है। चर्खा और खादी की महत्वपूर्ण प्रशंसा गांधीजी ने पग-पग पर की है। उन्होंने तो यहां तक कहा कि यदि ग्रामीण आर्थिक स्थिति को सौर्यमंडल की उपमा दी जाय, तो खादी सूर्यरूप है और अन्यान्य दस्तकारियां तारागणरूप। खादी भोलेपन और इसलिये जीवन की पवित्रता का प्रतीक है और चर्खा अहिंसा का, क्योंकि उसमें दरिद्रनाराण का सेवा-भाव विद्यमान है।

खादी और चरखे के महत्व की ओर गांधीजी का ध्यान पहली बार 1908 में गया जब उन्हें इस बात का भी पता नहीं था चरखा कैसा होता है। तब वे चरखे और करघे का अन्तर भी नहीं जानते थे। उस समय उन्हें भारती के गांवों की दशा की अत्यंत धुंधली-सी कल्पना थी, फिर भी उन्हें यह निश्चय हो गया था कि उनकी गरीबी का मुख्य कारण चरखे का नाश है और उन्होंने अपने मन में यह ठान लिया था कि भारत लौटने पर वे इसका पुनरुद्धार करेंगे। चरखे के आन्दोलन का उद्देश्य भारत की लाखों झोपड़ियों में कताई का जिसे यहां से अन्यान्यपूर्ण, अवैध और अत्याचारपूर्ण उपायों के द्वारा निकाला गया था फिर से स्थापना करना था। चरखा सामान्य जनता की आशा का प्रतीक था। अगर ग्रामवासियों को अपनी उपयुक्त स्थिति प्राप्त करनी है, तो उसका सबसे सीधा और स्वाभाविक उपाय यही था कि चरखे को उसके सारे फलितार्थों के साथ फिर से जीवित किया जाये।

भारत की किसान जनता का अधिकांश लोग साल में चार छः माह ही काम करते हैं, बाकी समय उसे बेकारी में बिताना पड़ता है इसलिए वे लगभग भुखमरी की हालत में जीते हैं। यह उसकी सामान्य स्थिति है। फिर किसानों की इस बेकारी में, जो उन्हें परिस्थितिवश जबरदस्ती भोगनी पड़ती है, बार-बार होने वाले दुर्भिक्ष को और ज्यादा वृद्धि करते हैं। अपनी स्वल्प-सी आय के साधनों की पूर्ति के लिए ऐसा कोई कताई ही है जिसे किसान लोग घर बैठे आसानी से कर सकते हैं। प्रत्येक कृषि प्रधान देश को एक पूरक उद्योग की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा वहां के किसान अपने खाली समय का सदुपयोग कर सकें। भारत में ऐसा उद्योग हमेशा कताई का ही रहा है क्योंकि उससे किसानों का थोड़ा बहुत आर्थिक लाभ भी होता है।

गांधीजी ने कहा “लाखों लोगों के लिए जिसकी कल्पना की जा सकती है, ऐसा सबसे ज्यादा उपयुक्त और व्यावहारिक उद्योग कताई ही है।” लोग, आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से ज्यादा

गरीब होते जा रहे थे। उनकी काम करने, विचार करने, यहां तक कि जीने की भी इच्छा तेजी तेजी से क्षीण होती जा रही थी। खादी ने उन्हें काम दिया उसको औजार दिये और अपनी बनायी वस्तुओं के लिए तैयार बाजार भी दिया। जहां कल तक सघन निराशा छाई हुई थी वहां उसने उन्हें आशा का प्रकाश दिया। इसके अलावा गांधीजी ने कहा ज्यों-ही लाखों स्त्री-पुरुषों को कताई से कोई ज्यादा अच्छा यानी आर्थिक दृष्टि से ज्यादा लाभकारी धंधा मिला जाय उन्हें कताई का काम छोड़ देने की पूरी आजादी हैं। लोगों के पास कताई से ज्यादा अच्छा धंधा हो तो इससे गांधीजी कहते थे, सबसे ज्यादा खुशी मुझे होगी। इसके आगे गांधीजी ने कहा कि “जब तक सोलह वर्ष से ऊपर के प्रत्येक तंदरुत स्त्री-पुरुष के लिये भारत के प्रत्येक गांव में उनके खेत या झोपड़ी में, या कारखाने में ही, काम और काफी मजदूरी दिलाने का बेहतर तरीका न निकाल लिया जाय, तब तक लाखों ग्रामीणों की दृष्टि से खादी ही एकमात्र सच्ची आर्थिक योजना हैं। या फिर गांवों के स्थान पर इतने शहर बन जाने चाहिए कि देहातियों को वे जरूरी सुख-सुविधाओं प्राप्त हो जायें, जो एक सुनियमित जीवन के लिए जरूरी है। मैंने अपनी बातों इतनी पूरी तरह यही दिखाने की लिये कोशिश की है जिसकी लम्बे समय तक कल्पना की जा सकती है उतने लम्बे समय तक इस समस्या का हल खादी ही रहेगी।

गांधीजी चरखे के लिए यह दावा करते थे कि वह हमारी गरीबी के सवाल को अत्यन्त सरल, स्वभाविक तथा व्यवस्थित पद्धति से हल करने की शक्ति रखता है और महत्व की बात यह है कि उसमें हमें लगभग कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। कताई के इन लाभों को गिनाते हुए उन्होंने कहा था :-

- जिन लोगों को फुरसत है और जिन्हें थोड़े से पैसों का भी जरूरत है, उन्हें इससे आसानी से रोजगार मिल जाता है।
- इसका हजारों को ज्ञान है।
- यह आसानी से सीखी जा सकती है
- इसमें लगभग कुछ भी पूंजी लगाने की जरूरत नहीं होती।
- चरखा आसानी से और सस्ते दामों में तैयार किया जा सकता है।
- लोगों को इससे अरुचि नहीं है।
- इससे अकाल के समय तात्कालिक राहत मिल जाती है।
- विदेशी कपड़ा खरीदने से भारत का जो धन बाहर चला जाता है उसे यही रोक सकती है।
- इससे करोड़ों रुपयों की जो बचत होती है वह अपने आप सुपात्र गरीबों में बंट जाती है।
- इसकी छोटी-से-छोटी सफलता से ही लोगों को बहुत कुछ तात्कालिक लाभ होता है।
- लोगों में सहयोग पैदा करने का अत्यन्त प्रबल साधन है।

कताई के उद्योग की सफलता के लिये सहकारी मंडली की अनिवार्य आवश्यकता है। हाथ कताई का प्रचार करके गांधीजी अपने शब्दों में दुनिया की सबसे बड़ी सहकारी मंडली की स्थापना कर रहे थे। उनका यह दावा बहुत बड़ा जरूर था, किन्तु वह गलत नहीं था। क्योंकि हाथ कताई अपना माना हुआ मकसद तब तक पूरा नहीं कर सकती, जब तक कि उसमें लगे हुए लाखों लोग सचमुच सहयोग से काम न करें। इस उद्योग में सहयोग आरम्भ से ही जरूरी है। हाथ-कताई आदमी को आत्म निर्भर बनाती है पर साथ ही वह इस बात को समझने की सुविधा और प्रेरणा भी देती है कि इस उद्योग में हर कदम पर परस्पर माल के उत्पादन तथा वितरण की प्रक्रिया में अत्यन्त विशाल पैमाने पर लाखों लोगों के सहयोग की आवश्यकता है।

खादी संगठन एक सेवा संस्था है। गांधीजी का कहना है कि खादी स्वराज्य प्राप्ति का सरल साधन है, तो भी हमें अपनी खादी संस्थाओं को सिर्फ आर्थिक प्रवृत्ति के रूप में ही चलाना चाहिए। फिर खादी की संस्थायें तो महज आर्थिक संस्थायें नहीं हैं, इससे बढ़कर वे पारमार्थिक संस्थायें भी हैं। उनका उद्देश्य किसी भी प्रकार के स्वार्थ साधन की नहीं किन्तु लोकहित-साधन का है। हमारी खादी संस्थाओं का ध्येय तो जनता के ‘प्रेम साधन’ का नहीं, किन्तु उसके ‘श्रेय साधन’ का है। सन् 1919 में भारत की स्वतंत्रता के प्रेमी को अहिंसा और चरखे का संदेश मिला और उन्हें यह बताया गया कि अहिंसा की

स्वराज्य का एकमात्र साधन है और चरखा अहिंसा का प्रतीक है। अहिंसा का चरखे के सिवा कोई दूसरा साधन नहीं है। चरखे के सार्वत्रिक प्रचार के बिना अहिंसा की मूर्त अभिव्यक्ति संभव नहीं है।

3.3 रचनात्मक कार्यक्रम का स्वरूप

रचनात्मक कार्यक्रम का तात्पर्य ऐसे कार्यक्रम से है जो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के दोषों को दूर करे, व्यक्ति व समाज का पुनर्निर्माण करे। रचनात्मक का अर्थ है—जिसमें कुछ न कुछ रचना होती है। इसी प्रकार रचनात्मक कार्यक्रम पुनर्निर्माण का कार्य करता है। इसमें और सामाजिक सेवा में प्रमुख अंतर यह है कि सामाजिक सेवा का उद्देश्य पीड़ितों के दुःख-दर्द को कम करना है जबकि रचनात्मक कार्यक्रम का उद्देश्य उन कष्टों को जड़ से ही अलग कर देना है। यह कार्य सबके हित को दृष्टि में रखकर किया जाता है। इसके पीछे न तो कोई प्रलोभन होता है न ही भय। यह शुद्ध नैतिक कार्य है जो मनुष्य के दुर्गुणों का परिष्कार कर उसमें नैतिकता का निर्माण करता है। वास्तव में रचनात्मक कार्यक्रम एक ओर तो अहिंसा की अभिव्यक्ति है, दूसरी तरफ यह अहिंसा की प्रगति में सहायक होता है।

गांधी ने माना कि रचनात्मक जीवन जीने की एक ऐसी प्रवृत्ति है जो जीवन के निर्माण, उत्थान तथा विस्तार के साथ चलने वाली विकासोन्मुखी शक्तियों के अनुकूल है और जिसकी अभिव्यक्ति रचनात्मक तथा उत्पादक कार्यों के रूप में होती है। गांधी ने रचनात्मक कार्यक्रम को सत्याग्रह का भावात्मक पक्ष माना। उनके अनुसार रचनात्मक कार्यक्रम ही स्वराज्य प्राप्ति का एकमात्र अहिंसक साधन है। सत्य अहिंसा के आधार पर स्वराज्य या सम्पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ है—जात-पात, वर्ण भेद या धर्म भेद से रहित राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की तथा उसमें से भी प्रत्येक गरीब से गरीब व्यक्ति की स्वतंत्रता की सिद्धि। अन्य तात्त्विक सिद्धान्तों की भांति पूर्ण स्वराज्य के इस सिद्धान्त की व्यावहारिक सिद्धि पूर्ण नहीं होगी, इसलिए रचनात्मक कार्यक्रम के माध्यम से हम जितना सत्य और अहिंसा का अपने जीवन में पालन करेंगे उसी सीमा तक स्वराज्य की सिद्धि पूर्ण होगी।

भारत में अहिंसक पुनर्निर्माण को सुचारु रूप से लागू करने की सुविधा के लिए गांधी ने अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा राजनैतिक दासता दूर करने का प्रयत्न किया। गांधी का मानना था कि चूंकि रचनात्मक कार्यक्रमों के जरिये ही हम धीरे-धीरे पूर्ण स्वराज्य की ओर बढ़ सकते हैं, इसलिए राजनैतिक गतिरोध को दूर करने तक रचनात्मक कार्यक्रमों को स्थगित नहीं कर देना चाहिए। गांधी अराजकतावादी थे, इसलिए वे राज्य के कार्य को अल्पतम कर देना चाहते थे इसके लिए वे चाहते थे कि समाज में स्वेच्छा से निर्मित समुदायों में निरंतर आंतरिक सुधार होता रहे जिससे कि वे स्वतः इतने सक्षम हो जाए कि उन्हें किसी अनुशासन की आवश्यकता न पड़े। इसी कारण वे मानते थे कि रचनात्मक कार्यक्रम को अहिंसक प्रतिरोध के पहले व बाद में तथा उसके साथ भी चलाते रहना चाहिए। इसलिए उन्होंने कहा कि सत्याग्रही को अन्यायपूर्ण तथा पिछड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध लड़ने के साथ-साथ पुनर्निर्माण का कार्य भी करते रहना चाहिए।

रचनात्मक कार्यक्रम के कार्यों के सम्बन्ध में गांधी ने कहा— रचनात्मक कार्यक्रम अहिंसक राज्य की व्यवस्था के विकास का ढांचा है। यह वर्तमान सामाजिक संगठनों के पुनःनिर्माण के ऐसे प्रयत्न हैं जिससे शोषण और अन्याय दूर हो जाए और राष्ट्र की सृजन शक्ति और संस्कृति सादगी और अकृत्रिमता को अपनाने के कारण जागृत और परिष्कृत हो जाए। भारतवर्ष के लिए गांधी के अनुसार, रचनात्मक कार्यक्रम आवश्यक रूप से ग्राम कार्य हैं। गांधी ने तात्कालिक परिस्थिति में 18 कार्यों को इस कार्यक्रम में सम्मिलित किया था और ये ऐसी बातें हैं जो अहिंसा द्वारा राष्ट्र की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य हैं। गांधी ने कार्यों को सूची को अंतिम सूची नहीं माना था। उनके अनुसार समय के साथ इस सूची में अन्य कार्यों को जोड़ा या घटाया जा सकता है। ये कार्य निम्न हैं—

3.3.1 साम्प्रदायिक एकता

गांधी ने अपने रचनात्मक कार्यों में पहला स्थान साम्प्रदायिक एकता को दिया। उनके सामने उस वक्त देश की सबसे महत्वपूर्ण समस्या साम्प्रदायिक सामंजस्य को बनाये रखने की थी। इसलिए उन्होंने साम्प्रदायिक एकता को सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यों में सबसे महत्वपूर्ण माना। गांधी के अनुसार साम्प्रदायिक एकता का अर्थ है—हृदय की अटूट एकता, न कि कृत्रिम समझौते के फलस्वरूप

उत्पन्न राजनैतिक एकता। धार्मिक कटुता अहिंसा के अभाव का चिन्ह है। गांधी मानते थे कि भारत विभिन्न सम्प्रदायों वाला देश होने के कारण वहां साम्प्रदायिक दंगे होते रहते हैं, जो देश की एकता व अखण्डता के लिए घातक है। इन परिस्थितियों का समाधान करने के लिए गांधी ने विभिन्न समुदायों में एकता स्थापित करने का प्रयास किया। गांधी ने प्रत्येक सत्याग्रही से यह आशा की कि वह सर्वधर्म समभाव की मनोवृत्ति विकसित करेगा। गांधी ने कहा कि सत्याग्रही के लिए आवश्यक है कि वह अपने आपको प्रत्येक धर्म का अनुयायी समझे। भारत के करोड़ों लोगों में से हर एक के साथ अपनेपन-आत्मीयता का अनुभव करे, उनके सुख-दुःख में अपने को उनका साथी समझे। अपनी आत्मीयता सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि वह विभिन्न धर्मों का अपने धर्म के समान आदर-प्रेम करे तथा आवश्यकता पड़ने पर उनके धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी खतरे में डालने से न हिचकें। गांधी ने सबको साफ शब्दों में यह आदेश दिया कि वे कभी भी साम्प्रदायिक झगड़ों का कारण न बने और दंगे की सूरत में किसी भी पक्ष की तरफदारी न करे, अपितु सभी के साथ समान व्यवहार करते हुए सभी पक्षों में आपसी सद्भाव प्रेम का संचार करने का हर संभव प्रयास करे।

गांधी व्यक्तिगत जीवन में भी सभी धर्मों की बुनियादी सच्चाई में विश्वास करते थे। वे मानते थे कि सभी धर्म सम्प्रदाय अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण व सही हैं। सभी धर्मों में विद्यमान ईश्वर एक ही है बस उसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। अलग-अलग धर्मों की पवित्र किताबें उठाकर देखें तो पता चलेगा कि सभी एक ही बात करते हैं और वह है सत्य, अहिंसा, प्रेम, भाईचारे, सहयोग, सद्भाव आदि। गांधी पूरे भारत में साम्प्रदायिक एकता स्थापित करना चाहते थे। इसके बारे में उन्होंने कहा-“मेरी दिली ख्वाहिश है कि इंसान-इंसान के बीच इस तरह का भाईचारा स्थापित हो जिसमें हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी सब एक समान शामिल हो, क्योंकि मुझे दुनिया के सब बड़े-बड़े मजहबों की बुनियादी सच्चाई में विश्वास है।

गांधी ने जीवन भर साम्प्रदायिक एकता के लिए कार्य किया। देश के विभाजन के समय उत्पन्न साम्प्रदायिक हिंसा, विद्वेष, दंगों के निराकरण तथा साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के लिए गांधी ने स्वयं को जीवन के अंतिम दिनों में पूर्णतः अर्पित कर दिया। देश में मुख्य रूप से हिन्दू-मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य फैल गया था। गांधी के लिए यह स्थिति असहनीय थी। गांधी ने साम्प्रदायिक हिंसा के निराकरण के लिए नोआखली सत्याग्रह किया। उन्होंने अपने साथियों को विभिन्न गांवों में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच शांति की स्थापना के लिए भेज दिया और स्वयं नंगे पैरों नौआखली के गांवों की पैदल यात्रा की। उन्होंने घर-घर जाकर साम्प्रदायिक सद्भाव रखने की शिक्षा दी। गांधी की यात्रा से सितम्बर, 1947 में और 13-18 जनवरी 1948 के उपवासों से तथा अन्य प्रयत्नों से साम्प्रदायिक कटुता कुछ कम हो गई लेकिन गांधी द्वारा साम्प्रदायिक एकता के लिए किया गया कार्य कुछ लोगों को सहन नहीं हुआ और उन्होंने गांधी जी को गोली मारकर उनकी हत्या कर दी। इस प्रकार गांधी जीवन भर साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के लिए प्रयास करते रहें और अंत को अपना जीवन भी इसी एकता के लिए बलिदान कर दिया।

साम्प्रदायिक एकता का महत्व जितना गांधी जी के समय था उतना ही आज भी है। ऐसा नहीं है कि गांधी के जाने के बाद साम्प्रदायिक दंगे समाप्त हो गये। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी समय-समय साम्प्रदायिक दंगे उभरकर सामने आए। अलीगढ़, अहमदाबाद, भिवंडी, मुरादाबाद, जमशेदपुर, मेरठ आदि जगहों पर भयंकर दंगे हुए। इसके अतिरिक्त अयोध्या का राम जन्म भूमि विवाद उन साम्प्रदायिक वैमनस्य के परिणाम हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जिन नेताओं के कंधों पर देश की सुव्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी है वे ही आज इन दंगों को भड़काने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। भारत यद्यपि एक धर्म निरपेक्ष राज्य है और भारत में लोकतंत्र की स्थापना हो चुकी है। किंतु आज चुनाव जाति भेद और धर्म भेद घटाने की बजाय बढ़ा रहे हैं। अलग राष्ट्र की समस्या जैसे-खालिस्तान, बोडोलैण्ड की मांग आदि ऐसी समस्याएं हैं जो राष्ट्रीय एकता को खण्डित करने का प्रयास कर रही है। इनके कारण हिन्दू-मुस्लिम भेद के अतिरिक्त अन्य झगड़े प्रारंभ हो गये हैं। आज वास्तव में धर्म के लिए कोई नहीं लड़ रहा है, बल्कि धर्म के नाम पर सब अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि कर रहे हैं। वास्तव में कौमी एकता, साम्प्रदायिक सद्भाव, जातिभेद, निराकरण, राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पहले से कई गुना बढ़ गई है। चूंकि आज रक्षक ही भक्षक बन गये हैं इसलिए यदि हमें अपने राष्ट्र को बचाना है, उसे प्रगति की राह पर फिर लाकर खड़ा करना है तो हमें स्वयं आगे आना

होगा। व्यक्तिगत स्वार्थों, धार्मिक स्वार्थों का राष्ट्र हित के लिए बलिदान देना होगा। सभी धर्मों का समान आदर करना होगा, साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रसार करने के लिए मन की सारी कटुता को भुलाकर विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रम करने होंगे तभी हम गांधी के साम्प्रदायिक एकता के सपने को साकार करने में सफल हो सकेंगे।

विज्ञान की प्रगति के कारण यद्यपि आज भौगोलिक अंतर तो समाप्त प्रायः हो गये हैं। आज पूरा विश्व एक वैश्विक ग्राम बन गया है। ऐसे में हमें हमारी सोच को धर्मों, सम्प्रदायों के संकीर्ण दायरे से निकालकर वैश्विक धर्म तक विकसित करना होगा। आज हम अपने आपको विश्व नागरिक के रूप में जीवन में समाहित करे और पूरी मानव जाति की एकता के लिए प्रयासरत रहें।

3.3.2 अस्पृश्यता निवारण

गांधी ने भारत में प्रचलित अस्पृश्यता की प्रथा का विरोध किया। गांधी अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कलंक मानते थे। वे इस कलंक को मिटाना चाहते थे इसलिए उन्होंने इसे अपने रचनात्मक कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान दिया। उनका मत था कि वास्तव में अस्पृश्यता की प्रथा ईश्वर और मनुष्य दोनों के प्रति अपराध है और हिन्दू धर्म में इसका कोई समर्थन नहीं किया गया है। गांधी के अनुसार वर्ण व्यवस्था के आधार पर ही इस कुप्रथा का कोई समर्थन नहीं किया गया है, यह तो वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप है। वास्तविकता तो यह है कि इस प्रथा के कारण वर्ण व्यवस्था भी दूषित हो रही है और यदि इस कुप्रथा का अंत कर दिया जाए तो चार वर्णों वाली सच्ची वर्ण व्यवस्था की स्थापना का पुनीत कार्य किया जा सकता है। गांधी के अनुसार इन आधार पर भी इस प्रथा का कोई समर्थन नहीं किया जा सकता है कि अस्पृश्य जाति, खान-पान एवं रहन-सहन के श्रेष्ठ आचार के नियमों का भी पालन नहीं करती। इसलिए उनके लिए अस्पृश्यता उचित है। गांधी के अनुसार यदि इस नियम का पालन किया जाए तो मांसाहार करने वाले, मैला छूने वाले, डॉक्टर, शराब आदि के व्यापारियों को भी अस्पृश्य मानना होगा, जो न तो संभव होगा न ही न्यायपूर्ण।

गांधी ने राष्ट्र की प्रगति व उत्थान के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा अस्पृश्यता को माना। गांधी के अनुसार, “वास्तविक स्वराज्य प्राप्त करने के लिए विदेशी शासन से मुक्ति से पहले अस्पृश्य जातियों की इस कुप्रथा से मुक्ति आवश्यक है। जब तक उन्हें मुक्त नहीं किया जाता तब तक हम स्वराज्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने का नैतिक अधिकार भी नहीं रखते।” गांधी ने स्पष्ट कहा—“अस्पृश्यता के रहते हुए भी यदि हमें स्वराज्य मिल जाता है तो स्वराज्य एक अर्थहीन शब्द मात्र होगा।” गांधी ने माना कि वास्तव में अस्पृश्यता स्पृश्यों द्वारा किया गया राष्ट्रीय अपराध है और इसके लिए स्पृश्यों को प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता है। जब तक इस कुप्रथा को अपने जीवन से नहीं मिटाएंगे, तब तक जो भी हमें तकलीफ भुगतनी पड़ेगी वह हमारे इस अपराध का दण्ड ही होगी। गांधी ने कहा कि मानवीय आधारों पर भी इस प्रथा का औचित्य स्थापित नहीं किया जा सकता। गांधी के अनुसार अतीत में किन्हीं कारणों से किसी वर्ग विशेष के पूर्वजों को समाज से बहिष्कृत करके दण्ड दिया भी गया हो तो इस आधार पर उनकी संतान को भी दण्डित किये जाने का अधिकार हमें नहीं है।

अस्पृश्यता मानवता का अपमान है। यह सत्य अहिंसा के आध्यात्मिक व नैतिक नियमों का उल्लंघन करती है। अस्पृश्यता की प्रथा इस सत्य को तिरस्कृत करती है कि सभी जीवों में ईश्वरीय अंग है और उनके बीच आध्यात्मिक एकता व समानता पायी जाती है। यह मानव जाति के कुछ अंशों पर कठोर व निर्दयी व्यवहार कर अहिंसा के नियमों को तोड़ती है। गांधी के अनुसार अस्पृश्यता की इस कुप्रथा के कारण हिन्दू समाज की बहुत हानि हुई है। इसने स्पृश्यों अस्पृश्यों दोनों को नीचे गिराया है।

गांधी को दक्षिण अफ्रीका में अपने प्रवास के दौरान घृणित नस्लीय भेद व सामाजिक असमानता का सामना करना पड़ा था। तभी से उनके मन में अस्पृश्यता के लिए घृणा तथा विरोधी भाव भर गये थे। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद जब उन्होंने भारत में भ्रमण किया तो उन्हें भारत के प्रत्येक प्रांत में कई रूपों में अस्पृश्यता की महामारी फैली हुई पाई। तभी से उनके मन में यह विचार आ गया था कि वास्तविक रूप में यदि स्वराज्य व सामाजिक समानता की स्थापना करनी है तो भारत को पहले इस बुराई से मुक्त करना होगा। तभी से उन्होंने इसके विरुद्ध अपनी कमर कस ली। गांधी ने अस्पृश्यता के निवारण के लिए न केवल सुझाव दिये बल्कि अनेक व्यावहारिक प्रयत्न भी किये। उन्होंने सबसे पहले अस्पृश्यों को ‘हरिजन’ नाम देकर उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की। गांधी ने लोगों के सामने आदर्श

रखा कि हम सभी के बचपन से ही यह संस्कार मिलने चाहिए कि हम सब भंगी हैं। हम सभी को शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा करते हुए अपना पखाना स्वयं साफ करने की आदत डालनी चाहिए। इससे एक ओर मानवीय श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित होगी दूसरी तरफ शूद्र वर्ण के कार्य के प्रति सम्मान की भावना जागेगी। गांधी के अनुसार चूंकि सभी अपनी गंदगी स्वयं साफ करेंगे, इसलिए सभी अनिवार्य रूप से शूद्र वर्ण के सदस्य हो जाएंगे। अस्पृश्यता के विरुद्ध अपनी जंग की शुरुआत गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में ही कर दी थी। वहां वे गंदी बस्ती में रहे, अस्पृश्यों की प्रत्यक्ष सेवा की तथा सामाजिक समानता के लिए कार्य किया। भारत लौटकर उन्होंने अस्पृश्यता को राष्ट्रीय आंदोलन व कांग्रेस की राजनीति का अहम मुद्दा बनाया।

1932 में गांधी ने साम्प्रदायिक पचांट के माध्यम से अस्पृश्यों को हिन्दू समाज से अलग करने के प्रयत्न के विरोध में आमरण अनशन रखा और फिर अतः 'पूना पैक्ट', जो समाज की एकता को अक्षुण्ण बनाए रखा था, को स्वीकार किया। हरिजनों के उत्थान के लिए उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की तथा हरिजनोत्थान के पक्ष में राष्ट्रीय जनमत जागृत करने के लिए 'हरिजन' नाम से अंग्रेजी व हिन्दी साप्ताहिक समाचार पत्रों का प्रकाशन किया। वे हरिजन बस्ती में जाकर रहे व अस्पृश्यता के अंत व हरिजनोत्थान के लिए सामाजिक सेवकों को प्रशिक्षण दिया। हरिजनों के उत्थान के लिए गांधी ने अस्पृश्यों में शिक्षा के प्रसार, शराबबंदी तथा सफाई के रचनात्मक कार्यक्रमों को प्रमुखता प्रदान की। गांधी मानते थे कि यदि धार्मिक क्षेत्र में सवर्णों व हरिजनों के बीच समानता स्थापित हो जाएगी तो सामाजिक क्षेत्र में भी समानता के उद्देश्य का आसानी से प्राप्त किया जा सकेगा। इसके लिए गांधी ने हरिजनों के हिन्दू मंदिरों में प्रवेश व उनके साथ मिलकर पूजा अर्चना करने के अधिकार को आवश्यक माना। इस संदर्भ में गांधी ने वाइकोम सत्याग्रह द्वारा सफलता भी अर्जित की। वे अस्पृश्यता निवारण के लिए कानूनी बल की अपेक्षा हृदय परिवर्तन को आवश्यक मानते थे। वे जन सहमति व सहयोग के द्वारा इस कुप्रथा का अंत करना चाहते थे। इस संदर्भ में उनकी हरिजन यात्रा उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने नौ महीने तक राष्ट्रव्यापी 20,000 किमी. की यात्रा की और पूरे देश में अस्पृश्यता निवारण व हरिजनों के उत्थान के लिए जनमत जगाने का प्रयत्न किया। इस विषय पर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करने के लिए व राष्ट्र का सहयोग प्राप्त करने के लिए 1933 में उन्होंने 21-21 दिन के दो लम्बे उपवास भी रखे।

इस प्रकार गांधी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए जीवन भर सक्रिय प्रयत्न किया व कुछ सीमा तक सफलता भी प्राप्त की। अस्पृश्यों की मुक्ति के बिना स्वतंत्रता को वे अधूरी मानते थे। इसलिए समाज के पुनःनिर्माण या स्वराज्य की स्थापना के लिए अस्पृश्यता के निवारण के कार्य को उन्होंने महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य माना। गांधी की मृत्यु के बाद संविधान निर्माताओं ने गांधी के इस स्वप्न को साकार करने में अपना योगदान दिया व देश के संविधान में अस्पृश्यता को अपराध घोषित कर अस्पृश्यों के उत्थान के लिए उन्हें समाज में समान अधिकार व दर्जा प्रदान किया। इसके साथ ही उनकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थिति सुधारने हेतु उन्हें आरक्षण प्रदान किया। संविधान द्वारा विशेष अधिकार प्रदान करने के कारण दलितों की स्थिति में सुधार हुआ है। समाज में भी अस्पृश्यता की बेडियां बहुत क्षीण हो चुकी हैं। आज दलित वर्ग उच्च क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रहा है। देश के सर्वोच्च पद पर एक दलित का आसीन होना आज एक सामान्य बात है। यह गांधी के स्वप्न के साकार होने जैसा ही है।

3.3.3 मद्य निषेध

साम्प्रदायिक एकता व अस्पृश्यता निवारण के समान मद्यनिषेध को भी गांधी अपने रचनात्मक कार्यक्रम में उच्च श्रेणी का कार्य मानते थे। गांधी मानते थे कि मद्य एक ऐसा द्रव्य है जिसका परिणाम राष्ट्रीय ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देखने को मिलता है। इसके सेवन से व्यक्ति का नैतिक पतन हो जाता है और समाज भी उसे हेय दृष्टि से देखता है। इस समस्या पर गांधी ने बड़ी गंभीरता से ध्यान दिया। वे मानते थे कि जब तक देश के नागरिक इस व्यसन में गिरफ्तार रहेंगे, तब तक उनमें सत्याग्रह के लिए आवश्यक नैतिक क्षमता विकसित नहीं होगी। इसलिए गांधी स्वराज्य प्राप्ति के अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए सबसे पहले भारतीयों को इस नशे की आदत से दूर करना चाहते थे।

वे मानते थे कि नशाखोरों की बुरी आदत को छुड़ाया जा सकता है। स्त्रियां व विद्यार्थी इस कार्य को बड़ी कुशलता से कर सकते हैं। स्त्रियां व विद्यार्थी अपने प्रेमपूर्वक की हुई सेवा तथा निर्दोष

मन बहलाव के स्थान खोलकर नशेखोरों को प्रभावित कर सकते हैं और उनकी बुरी लत छुड़वा सकते हैं। गांधी डॉक्टर को भी इस बुराई को मिटाने में आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार डॉक्टर शराब, अफीम आदि मादक द्रव्यों के व्यसन में फंसे लोगों को इन व्यसनो से छुड़ाने के कारगर उपाय ढूँढ़ कर उसे उन पर आजमा सकते हैं। डॉक्टर चिकित्सकीय सेवाओं के सहयोग से इन व्यसनो को दूर करने में मदद कर सकते हैं। गांधी कहते थे कि समाज सेवकों को ऐसी समितियां स्थापित करनी चाहिए जो आनन्द-विनोद के केन्द्र या विश्राम गृह खोले जहाँ थके-हारे मजदूर अपने शरीर को आराम दे सके, साफ सुथरी स्वास्थ्यजनक पेय व नाश्ते की सस्ती चीजें पा सके तथा अपनी पसंद के खेल-तमाशे खेल सके। इससे उनका ध्यान मादक पदार्थों पर नहीं जाएगा और वे अपनी चिंता, परेशानी व थकावट को हल्का कर सकेंगे। गांधी के अनुसार ये सारा काम मन को बहुत आकर्षित करने वाला व हृदय को संस्कारी बनाकर ऊपर उठाने वाला होगा। इस प्रकार गांधी ने मद्य-निषेध को बहुत आवश्यक माना ताकि देश की युवा शक्ति का रूपांतरण रचनात्मक कार्यों में हो सके और वे अपने जीवन व स्वास्थ्य को नशे में नुकसान न पहुंचाकर देश के उत्थान में योगदान दे सकें।

शराब बंदी या मद्य-निषेध के विषय में स्वतंत्रता के बाद आगे बढ़ने के बजाय हम और पीछे जा चुके हैं। आज पश्चिमी औद्योगिकीकरण की सभ्यता के कारण शराब हमारे जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में जुड़ गई है। आज देश में शराब की खपत कई गुना वृद्धि हुई है। देश की सरकार का ध्यान भी अब जनता के स्वास्थ्य से हटकर कोष वृद्धि की तरफ अधिक आकर्षित है। आज सरकार को प्राप्त राजस्व में बहुत बड़ा हिस्सा शराब की बिक्री से प्राप्त होता है। राज्य सरकारें भी शराब बंदी को लेकर गंभीर नहीं हैं। कई राज्यों जैसे गुजरात, राजस्थान आदि में कुछ समय के लिए शराब बंदी लागू की गई थी लेकिन वह अधिक प्रभावशाली नहीं साबित हुई। आज शराब ने घर-घर में अपना डेरा जमा लिया है। आज का युवा वर्ग भी पूरी तरह इसकी गिरफ्त में आ चुका है। सरकार भी इस ओर ध्यान नहीं दे रही है। शराब अन्य अपराधों को भी जन्म देती है। आज आवश्यकता है इसके प्रति जागरूकता बढ़ाने की, अन्यथा भारत की संस्कृति को नष्ट होते देर नहीं लगेगी।

3.3.4 खादी

गांधी दर्शन का केन्द्र बिन्दु था-खादी। खादी को उन्होंने सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक आधार के रूप में प्रस्तुत किया। खादी से उनका तात्पर्य था देश के सभी लोगों की आर्थिक स्वतंत्रता तथा समानता का आरंभ। अंग्रेजों ने भारतीय उद्योग धंधों को लगभग पंगु बना दिया था। वे भारत से सस्ते दामों पर कच्चा माल खरीदते थे तथा भारत में ही अपने बड़े उद्योगों की बनी हुई वस्तुएं बेचते थे। वे वस्तुएं भारत में बनी वस्तुओं से सस्ती होती थी इसलिए जनता वही खरीदती थी। इससे भारतीय उद्योग-धन्धे नष्ट हो रहे थे। कमाई न हो सकने तथा उत्पादित वस्तुओं के न बिकने के कारण लोगों को बहुत नुकसान हो रहा था। गरीबी बढ़ रही थी। इस संदर्भ में गांधी ने गरीबी व बेकारी दूर करने के लिए खादी का प्रचार किया। खादी एक प्रतीक था स्वदेशी का। गांधी ने कहा- खादी का मतलब है हमसे हर एक को स्वदेशी की भावना बढ़ानी चाहिए तथा इस बात का दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि हम अपने जीवन में सभी वस्तुएं हिन्दुस्तान में बनी हुई का उपयोग करेंगे और उनमें था अपने गांव में आम जनता की मेहनत से बनी वस्तुएं। गांधी ने खादी के द्वारा वस्त्र सम्बन्धी समस्या का निराकरण करने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने लोगों से आह्वान किया कि वे हाथ से बनी हुई खादी वस्त्र का ही उपयोग करेंगे। इसके लिए उन्होंने चरखे को महत्वपूर्ण स्थान दिया। गांधी के अनुसार, “भारत एक कृषि प्रधान देश है। किसान वहां वर्ष के आधे समय, जब वे बेकार रहते हैं, खादी बुनकर अपनी रोजी चला सकते हैं।” गांधी के अनुसार इससे किसान अपने सहायक व्यवसाय के रूप में अपना सकता है। वहीं वह अपने परिवार, गांव, पड़ोस के गांव की वस्तु की जरूरतों को भी पूरा कर सकता है। वास्तव में गांधी खादी के द्वारा शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने हर व्यक्ति को चरखा चलाने तथा खुद की बुनी हुई खादी पहनने की सलाह दी। गांधी के अनुसार इससे देश में बुद्धि और श्रम के बीच दूरी कम होगी और अनुयायियों को अन्य रचनात्मक कार्यों की अपेक्षा खादी पर अधिक ध्यान देने पर बल दिया। खादी हिन्दुस्तान की जनता की एकता उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का प्रतीक थी।

वर्तमान समय में खादी के सम्बन्ध में गांधी के विचार उतने प्रासंगिक नहीं हैं। आज खादी का उत्पादन बहुत कम मात्रा में होता है। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ कपड़ों की खपत भी बढ़ी है और सभी के लिए हाथ से बुनी हुई खादी पहन पाना संभव नहीं है। सरकार द्वारा स्थापित खादी चरखा संघ भी अब मशीनों की सहायता से खादी का निर्माण करने लगा है। परम्परागत चरखा कातने वालों की संख्या गिनी-चुनी रह गई है। वस्तुतः अधिक कुशल व्यवस्था, तकनीक सुन्दर, टिकाऊ, सस्ती, बड़े मिल उद्योगों के सामने आज खादी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। आज खादी को पहना तो जाता है लेकिन जिन आदर्शों व भावनाओं के साथ गांधी ने खादी का प्रचार किया था, उन भावनाओं का आज खादी पहनने वालों के लिए कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः गांधी की खादी तो आज उतनी प्रासंगिक नहीं है, लेकिन गांधी के विचार जिसमें उन्होंने खादी के जरिये आर्थिक समानता, स्वतंत्रता, श्रम की प्रतिष्ठा, स्वदेशी को स्थापित करने का प्रयास किया था आज भी प्रासंगिक है।

3.3.5 अन्य ग्रामोद्योग

गांवों को स्वावलम्बी बनाने तथा आर्थिक रूप से सक्षम बनाने के लिए गांधी ने खादी के साथ-साथ ग्रामोद्योग जैसे—कागज बनाना, साबुन बनाना, चमड़े का सामान बनाना, हाथ से पीसना, तेल निकालना आदि को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। वे खादी और अन्य कुटीर उद्योगों जिनमें विशेषकर कृषि कार्यों से जुड़े उद्योगों को अन्यायोपश्रयी मानते थे। वे मानते थे कि इन कुटीर उद्योगों के द्वारा ग्राम्य जीव न केवल कच्चे माल का उत्पादक, वरन् आर्थिक रूप से स्वावलम्बी भी हो जाएगा। केन्द्रित उद्योग और अहिंसा परस्पर विरोधी हैं। बड़े पैमाने का उत्पादन मनुष्य और प्रकृति का शोषण करता है, इसलिए यह अहिंसा का सर्वथा विरोधी है। गांधी के अनुसार, “राष्ट्रीय मामलों में केन्द्रित उत्पादन लोकतंत्र को दूषित कर देता है क्योंकि केन्द्रित उत्पादन से आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है जो राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण, गरीबी, विषमता तथा शोषण को जन्म देता है और राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण में लोकतंत्र सुरक्षित नहीं रह पाता।

गांधी मानते थे कि बड़े उद्योग मजदूरों की नैतिकता व चरित्र को हानि पहुंचाते हैं। वह उनको गांवों के घरेलू शुद्ध वातावरण व स्वाभाविक जीव से हटाकर वेतनभोगी कर्मचारी बना देता है। वे अपना व्यक्ति स्वातंत्र्य और आत्मसम्मान खो बैठते हैं उनकी सृजन शक्ति जिसकी अभिव्यक्ति वे यंत्र केन्द्रित बड़े उद्योगों में नहीं कर पाते हैं कुंठित हो जाती है और वे बड़ी मशीनों के पुर्जें समान बन जाती है। गांधी कहते थे, बड़े उद्योग धंधे का उत्पादन प्रकृति विरोधी भी होता है। खनिज, कोयला और तेल जिनके द्वारा बड़े कल-कारखाने चलते थे मनुष्य की संरक्षित संपदा है। उनके अधिकाधिक दोहन के कारण संसाधनों की कमी पैदा होती है और मशीनों के धुंए व बड़े कारखाने से निकले अपशिष्ट से पर्यावरण को बहुत नुकसान पहुंचता है। इसके विपरीत घरेलू उद्योग धंधों में उत्पादन का आधार शारीरिक श्रम है। इसके अतिरिक्त बड़े पैमाने के उद्योग में घरेलू धंधों की अपेक्षा कहीं अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि बड़े उद्योग का अधिकतर कार्य मशीनों द्वारा होता है जिसमें वे अधिक लोगों को रोजगार देने के बजाय बेरोजगारी में वृद्धि करते हैं। इसलिए गांधी विकेन्द्रित ग्रामोद्योग को महत्त्व प्रदान करते थे।

कुटीर व घरेलू उद्योग धंधों के विकास के लिए गांधी ने जनता में स्वदेशी का प्रचार किया। गांधी के अनुसार यदि समाज सेवक व देश की जनता इन उद्योगों में दिलचस्पी लेंगे तो इन धंधों में नई जान आ जाएगी और ये अच्छी तरह से चलने लगेंगे। यदि सभी अपने निकट के गांव की बनी वस्तुओं का उपयोग करना शुरू कर देंगे तो धीरे-धीरे हमें ये चीजें पसंद आने लगेंगी और पश्चिम की नकल के रूप में यंत्रों से बनी वस्तुएं हमें नहीं जंचेंगी। ऐसी राष्ट्रीय अभिरुचि का विकास करेंगे जो आलस्य, बेकारी, गरीबी से मुक्त हिन्दुस्तान को उत्तरोत्तर विकास के पथ पर आगे बढ़ाएगी।

वर्तमान ग्रामोद्योग की हालत खादी से भी बदतर है। अंग्रेजों ने 150 साल में जितने ग्रामोद्योग नष्ट किये थे, उससे कहीं अधिक आजादी के इन पचास वर्षों में नष्ट हो चुके हैं। आज बड़े उद्योगों की बनी हुई चीजें घर-घर में अपना बसेरा कर चुकी है। एक-दो छोटे-मोटे उद्योग धंधों के अलावा सभी धंधे नष्ट हो चुके हैं। खाने के आटे से लेकर बड़ी-बड़ी उपयोग की वस्तुएं आज बड़े उद्योगों, कारखानों में बनी हुई उपयोग में लाई जाती है। सरकार की नीति भी बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन देने की हो गई है। छोटे-छोटे उद्योग धंधे प्रोत्साहन व मांग की कमी के कारण लगभग नष्ट हो गये हैं। इससे गांवों में

बेरोजगारी बढ़ी है और खेती पर बोझ बढ़ा है। रोजगार की तलाश में युवक गांव छोड़कर शहरों की तरफ चले जाते हैं। वहां पर उपयुक्त रोजगार न मिलने के कारण किसी तरह छोटा-मोटा काम करके अपना गुजारा चलाते हैं। इससे गरीबी-भुखमरी बढ़ी है। इससे देश के आर्थिक विकास पर भी बुरा असर पड़ा है। इस स्थिति के सुधार के लिए हमें स्वयं को प्रयत्न करने होंगे। सरकार को छोटे-उद्योग धंधों को प्रोत्साहित करने के लिए उनके अनुकूल नीतियां बनानी होगी। आर्थिक सहायता उपलब्ध करानी होगी। हमें भी यह प्रण लेना होगा कि जहां तक संभव हो सके हम ग्रामोद्योग में बनी वस्तुओं का ही उपयोग करेंगे। इससे धीरे-धीरे वस्तुओं की मांग बढ़ेगी और गांवों में फिर उद्योग धंधे स्थापित होने लगेंगे। लघुता के सौन्दर्य के आधार पर स्थापित ये उद्योग एक ओर जहां भारत के आर्थिक विकास में योगदान देंगे, वही प्रकृति के साथ बड़े उद्योगों द्वारा किये जा रहे अन्याय को कम करने में सहायता करेंगे।

3.3.6 गांवों की सफाई

गांधी मानते थे कि गांवों का पुनर्गठन, गांवों की सफाई तथा स्वास्थ्य पर ध्यान दिये बिना राष्ट्र निर्माण का कार्य अधूरा है। उन्होंने गांवों में, जो कूड़े के ढेर की तरह गंदगी से भरे हैं, की साफ-सफाई पर विशेष ध्यान दिया जिससे वहां उत्पन्न होने वाली बीमारियों से बचाव किया जा सके। गांधी मानते थे कि बुद्धि और श्रम के बीच इतना अलगाव हो गया है कि हम गांवों के प्रति लापरवाह हो गये हैं। इससे साफ-सुथरे प्राकृतिक सुहावने दृश्यों से भरपूर गांव आज इतने गंदे हो गये हैं कि आज जो भी गांव में चला जाता है वहां की गंदगी के कारण वहां रुक पाना दुभर हो जाता है। गांधी ने कहा—“हम बहुत स्वार्थी हो गये हैं। राष्ट्रीय या सामाजिक सफाई को न तो हमने जरूरी माना न ही उसका विकास किया। हम स्वयं तो ढंग से नहा लेते हैं, मगर जिस जलाशय को पवित्रता के कारण हम अपनी धार्मिक क्रियाएं आदि करते हैं उसी को गंदा करने में हमें कोई हिचक नहीं होती।” वे कहते हैं कि हमारे इसी दुर्गुण का परिणाम है कि आज हमारे गांवों की और हमारी पवित्र नदियों के तटों की स्थिति के कारण अनेक बीमारियों को हमें भोगना पड़ रहा है। गांधी का उद्देश्य था कि लोगों का गांवों की सफाई की तरफ ध्यान आकर्षित किया जाए जिससे गांवों की सफाई हो और वहां स्वास्थ्यजनक वातावरण तैयार हो सके।

स्वतंत्रता के इतने वर्ष बाद भी भारत में आज अनेक ऐसे गांव हैं जहां शौच करने की कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं है। आज भी वहां चारों तरफ गंदगी फैली हुई है व लोग उसी गंदगी में अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। नदियों की हालत तो पहले से कई गुना बदतर हो गई है। शुद्ध गंगा का जल आज कई स्थानों पर पीने लायक तक नहीं रहा। गांवों की जो हवा शुद्ध मानी जाती थी खेतों में कीटाणुनाशक दवाएं छिड़कने से वह भी प्रदूषित हो गई है। आज भी भारत कृषि-प्रधान देश है और 70 प्रतिशत जनता गांवों में निवास करती है। यदि हम भारत को वास्तव में विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में लाना चाहते हैं तो हमें शुरुआत गांवों से करनी होगी। गांवों के विकास पर ध्यान देना होगा। इसके लिए वहां स्वास्थ्यकर परिस्थितियों का होना आवश्यक है। हमें गांववासियों को साफ-सफाई की आवश्यकता के बारे में जागरूक करना होगा। उन्हें कचरे का सही तरीके से नियोजन करने के तरीके बताने होंगे। तभी हम गांवों के विकास के कार्यक्रम को आगे बढ़ा पायेंगे।

3.3.7 बुनियादी शिक्षा

गांधी मानते थे कि यदि रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा जन-साधारण का मत परिवर्तन कर उन्हें अहिंसक जीवन की ओर अग्रसर करना है तो उन्हें अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा देनी आवश्यक है। इसके लिए गांधी ने बुनियादी शिक्षा के आधार पर शिक्षा देने का प्रावधान किया। बुनियादी शिक्षा का तात्पर्य है—ग्राम स्तर पर जीवन-यापन करने वाले बच्चों को आदर्श नागरिक के रूप में विकसित करना। बुनियादी तालीम सभी बच्चों को चाहे वे शहर के हों या गांव के सभी को भारत के सभी श्रेष्ठ तत्त्वों व उसकी सभ्यता से जोड़ देती है। यह बच्चों के शरीर, मन, बुद्धि का सर्वांगीण विकास करती है। गांधी के अनुसार प्रचलित शिक्षा पद्धति में जीवन की आवश्यकताओं तथा भारतीय संस्कृति से कोई सामंजस्य नहीं रह गया, इसलिए गांधी ने बुनियादी शिक्षा पर बल दिया जो कि भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित कर सकेगी।

आजादी के पश्चात् बुनियादी तालीम काफी विकास कर रही थी और बच्चों का उद्योग से सामाजिक प्राकृतिक परिवेश से सम्बन्ध होने लगा था। लेकिन आज सब कुछ लगभग समाप्त हो गया है। आज शिक्षा को व्यवसायोन्मुखी बनाने का प्रयास तो किया जा रहा है, लेकिन जिन मूल्यों के आधार पर गांधी जी ने बुनियादी तालीम की नींव रखी थी, वे मूल्य समाप्त हो गये हैं। आज शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ आजीविका के साधन या योग्यता उपलब्ध कराना रह गया है।

3.3.8 प्रौढ़ शिक्षा

गांधी भारत की अधिकांश जनता को अशिक्षित देखकर चिंतित थे इसलिए उन्होंने उन्हें शिक्षित बनाने के लिए एक कार्यक्रम चलाया जिसे प्रौढ़ शिक्षा कहा गया। प्रौढ़ शिक्षा से गांधी का अर्थ था—ग्राम निवासी प्रौढ़ों को सच्ची राजनैतिक शिक्षा। यह शिक्षा अधिकतर मौखिक शब्दों द्वारा होगी और प्रौढ़ों को देश की महानता और विस्तार का तथा स्वतंत्रता की रक्षा करने की उनकी क्षमता का भान करायेगी। मौखिक शिक्षा के साथ-साथ गांधी प्रौढ़ों को साक्षर भी बनाना चाहते थे। गांधीजी के अनुसार साक्षरता विकास में सहायता देती है तथा समाज में छोटी-छोटी समस्याओं के लिए व्यक्ति को पराश्रित नहीं रहने देती। इसलिए गांधी ने प्रौढ़ों को शिक्षित करने के कार्य को भी अपने रचनात्मक कार्यक्रम में महत्वपूर्ण माना।

गांधी के समय में तो इस पर ध्यान दिया गया लेकिन स्वतंत्रता के बाद प्रौढ़ शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं किया गया। लोकतंत्र स्थापित हो गया लेकिन आज भी गांव में अधिकांश लोगों को अपने कर्तव्य, अधिकारों, कानून के बारे में ज्ञान नहीं है। आज भी भारत में राजनीतिक शिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है। जितना ध्यान औपचारिक शिक्षा पर दिया जाता है उसका 10वां हिस्सा भी प्रौढ़ शिक्षा व लोकशिक्षण पर नहीं दिया जाता। लेकिन अब धीरे-धीरे स्थिति सुधर रही है। प्रौढ़ शिक्षा को भी महत्व देने की बात सामने आ रही है। शिक्षा मंत्रालय इस ओर ध्यान दे रहा है। अन्य देशों में प्रौढ़ शिक्षा की नई-नई पद्धतियां विकसित हुई हैं। काफी उपयोग साहित्य का निर्माण किया गया है। भारत में भी गांवों में प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोले गये हैं। लेकिन अभी इस क्षेत्र में पर्याप्त जागृति नहीं आई है। अभी बहुत कुछ अपेक्षित है।

3.3.9 आदिवासियों की सेवा

गांधी का विचार था कि देश की बहुत सी जनसंख्या आदिवासी है जो कि विकसित सभ्यता व संस्कृति से बहुत दूर है। इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें शिक्षित किया जाए, विकसित होने का मौका दिया जाए। उनसे सत्य, प्रेम सद्भावना आदि का व्यवहार रखा जाए। इसके लिए गांधी ने आदिवासियों की सेवा को अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में शामिल किया जिससे उनकी उन्नति के साथ समग्र राष्ट्र की सेवा हो सके।

आज भारत में आदिवासियों की हालत पर यद्यपि पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जा रहा है। आदिवासियों को उठाने के लिए सरकार द्वारा उन्हें हर क्षेत्र में आरक्षण दिया जा रहा है। उनके विकास के लिए आकर्षित कल्याणकारी योजनाएं बनाई जा रही हैं। उन्हें आर्थिक अनुदान देने का प्रावधान रखा गया है। फिर भी इन सुविधाओं का लाभ सभी आदिवासी नहीं उठा पाते हैं। ठक्कर बापू जैसे समाज सेवकों का नाम अग्रणी है जिन्होंने आदिवासियों की सेवा के लिए व उन्हें उठाने के लिए उल्लेखनीय काम किया।

3.3.10 स्त्रियों की उन्नति

गांधी स्त्री-पुरुषों में कोई भेदभाव नहीं करते थे। वे स्त्रियों को पुरुषों को समान देते थे। उनका मानना था कि अहिंसक समाज रचना में तथा स्वराज्य प्राप्त करने में जितना योगदान पुरुष दे सकता है उतना ही स्त्रियां भी दे सकती हैं। वे स्त्रियों को पुरुषों की सच्ची साथिन मानते थे। वे भारत में स्त्रियों की निम्न दशा से दुःखी थे व स्त्रियों को आगे बढ़ाना चाहते थे। स्त्रियों की उन्नति के सम्बन्ध में वे कहते थे “अपना भविष्य बनाने का जितना अधिकार पुरुषों को है उतना ही अधिकार स्त्रियों को है।”

गांधी ने ऐसी समस्त कुप्रथाओं का विरोध किया जो स्त्रियों के पतन का मुख्य कारण थी। इसके अंतर्गत उन्होंने बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, देवदासी प्रथा, बहुविवाह जैसी प्रथाओं का विरोध किया।

उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया। उनका मत था कि लड़कियों के लिए सामान्य पाठ्यक्रम के अतिरिक्त गृह प्रबंध के पाठ्यक्रम की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। गांधी चूंकि मानते थे कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान भविष्य निर्माण का अधिकार है इसलिए उन्होंने पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी सभी कानूनी अधिकार प्रदान करने का समर्थन किया। इसके साथ ही सामाजिक आचार व्यवहार के नियमों के निर्धारण में भी स्त्रियों के अधिकार का पूर्ण समर्थन किया। गांधी का मत था कि इस क्षेत्र में पुरुषों के एकाधिकार को समाप्त किया जाना चाहिए। गांधी मानते थे कि पुरुषों को इस बात को स्वीकार करना चाहिये कि स्त्रियों-पुरुष की तुलना में कुछ विशिष्ट गुण होते हैं। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में नैतिक शक्ति, सहनशीलता, साहस, त्याग की भावना, अहिंसा आदि गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में रचनात्मक शक्ति अधिक होती है। इसी आधार पर गांधी का मत था कि स्त्रियों को पुरुषों से प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिए क्योंकि अपने विशिष्ट गुणों व रचनात्मक शक्ति के कारण वे स्वयं ही बहुत ऊंचाई तक उठ सकती हैं।

गांधी स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान सभी अधिकार तो स्वीकारते हैं, किंतु इसके साथ ही वे यह भी मानते थे कि स्त्री व पुरुष की मूल प्रवृत्तियों में अंतर है, इसलिए उनका कार्यक्षेत्र भी अलग-अलग हो सकता है। लेकिन इस बारे में निर्णय लेने का अधिकार उसी का है। इस बारे में गांधी का मानना था कि यह ज्यादा अच्छा होगा कि स्त्री अपने कार्यक्षेत्र में बाहर के कार्यों की तुलना घर के कार्यों को अधिक महत्त्व दे। पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वे स्त्रियों के कार्यों को समान उपयोगी व गरिमापूर्ण माने।

स्त्रियों की स्थिति में सुधार के सम्बन्ध में गांधी कहते हैं कि स्त्रियों को पता नहीं है कि वे गुलामी की स्थिति में जी रही हैं, इसलिए पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वे स्त्रियों को इस स्थिति से हाथ पकड़कर बाहर लाये। उन्हें उनकी मौलिक स्थिति का भान कराये और उन्हें इस बात की तालीम दे जिससे कि वे जीवन में पुरुषों के साथ बराबरी से दे सकें। समाज सेवकों को इसकी शुरुआत अपने घर की स्त्रियों से ही करनी चाहिये। गांधी ने जो स्त्रियों की उन्नति का सपना देखा था उसे बहुत सीमा तक साकार करने में हम सफल हुए हैं।

3.3.11 सफाई की शिक्षा और स्वास्थ्य

गांधी मानते थे कि वही समाज सुव्यवस्थित है जिसके सदस्य स्वस्थ रहने के नियम जानते हैं और उन पर अमल करते हैं। गांधी आरोग्य को बहुत महत्त्व देते थे। उनके अनुसार मनुष्य जाति के लिए स्वास्थ्य का पहला नियम यही है कि निर्विकार शरीर में निर्विकार मन का निवास होता है। शरीर और मन का अटूट सम्बन्ध है। यदि हमारा मन सभी प्रकार के विकारों से मुक्त हो तो वह हिंसा से भी मुक्त हो जाएगा और फिर हम सहज ही तंदुरस्ती के नियमों का पालन करने लग जाएंगे

- हमेशा शुद्ध विचार करें और गंदे व निकम्मे विचारों को अपने मन से निकाल दें।
- दिन-रात ताजी हवा का सेवन करें।
- शरीर और मन के काम का तौल रखें।
- तनकर खड़े रहो, तनकर बैठो और अपने हर काम में साफ सुथरे रहो और उन सब आदतों को अपनी आंतरिक स्वस्थता का प्रतिबिम्ब बनने दो।
- जीने के लिये भोजन करो, न कि भोजन के लिये जीओ।
- अपने इस्तेमाल की चीजें जैसे हवा, पानी, खुराक में सफाई का ध्यान रखो।

गांधी कहते थे कि इन आरोग्य शास्त्र के नियमों को अपने तक ही सीमित नहीं रखो, अपितु सम्पूर्ण समाज तथा वातावरण को इससे लाभान्वित करने का प्रयास करो। गांधी के ये विचार आज भी प्रासंगिक हैं।

3.3.12 प्रांतीय भाषा

गांधी प्रांतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार को आवश्यक मानते थे। भारत के विभिन्न प्रांतों की अपनी-अपनी भाषाएं हैं जिसे उस प्रांत के रहने वाले अच्छी तरह समझ व बोल सकते हैं। अतः प्रांतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा देना अधिक लाभकर हो सकता है। गांधी के अनुसार, 'हमने अंग्रेजी भाषा को

अपनी भाषा से अधिक महत्त्व दिया है तथा शिक्षा का माध्यम भी वही रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि पढ़े लिखे लोग तथा राजनीतिक दृष्टि से उच्च लोगों का आम जनता से रिश्ता बिलकुल टूट गया और दोनों के बीच गहरी खाई बन गयी। इसी वजह से प्रांतीय भाषाएं गरीब रह गईं और इन्हें पोषण नहीं मिल सका। शिक्षा का माध्यम प्रांतीय भाषाएं न होने के कारण हम अपने उत्कृष्ट व गहरे तात्विक विचारों को इन भाषाओं में प्रकट नहीं कर पाते हैं, न ही आधुनिक विचारों तथा विज्ञान की तकनीकी शब्द इसमें शामिल हो सके। इस वजह से आम जनता आधुनिक विचारों से बिलकुल अछूती रह गई।” गांधी के अनुसार इन भाषाओं की जो अवमानना हुई है उससे भारत को बहुत नुकसान पहुंचा है और अगर इस कमी की भरपाई करने की कोशिश नहीं की गई तो हमारी जनता को मानसिक मुक्ति नहीं मिलेगी। और अगर हम चाहते हैं कि स्वराज्य निर्माण में पूरी जनता हमारा हाथ बंटाये, तो इसके लिए आवश्यक है कि हम उन्हें उनकी भाषा में लड़ाई के हर पहलू को समझाएं। इसके लिए आवश्यक है कि हर प्रांतीय भाषा के अध्ययन व अध्यापन का मार्ग प्रशस्त किया जाए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रांतीय भाषाओं के द्वारा प्रशासन चलाने का कानून बना था लेकिन वह केवल नाम मात्र का है। आज भी उद्योग, व्यापार, राजनीति व प्रशासन में अंग्रेजी का आधिपत्य है। शिक्षा के क्षेत्र में भी हमने अंग्रेजी को ही प्राथमिकता दी है। आज हमें आजाद हुए 60 वर्ष से ऊपर हो गये हैं लेकिन आज भी मानसिक रूप से हम गुलाम ही हैं और यह गुलामी हमने स्वेच्छा से अपना रखी है।

3.3.13 राष्ट्रभाषा

राष्ट्रीयता की भावना के विकास के लिये गांधी राष्ट्र भाषा के प्रचार-प्रसार को आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि पूरे भारत के साथ व्यवहार करने के लिए एक ऐसी भाषा की जरूरत है जिसे ज्यादा से ज्यादा लोग बोल सकें और समझ सकें, और जो लोग नहीं जानते हैं वे इसे जल्दी से सीख सकें। गांधी ने कहा कि निश्चित रूप से हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो राष्ट्र भाषा बनने के योग्य है, क्योंकि उत्तर भारत के अधिकांश हिन्दू-मुस्लिम हिन्दी ही बोलते थे। गांधी ने कहा-हिन्दी बहुत सरल भाषा है यह जो नहीं जानता है वह भी आसानी से समझ सकता है, और थोड़ी ही मेहनत से इसे सीख सकता है। गांधी मानते थे कि राष्ट्रभाषा की उन्नति से ही राष्ट्र का विकास संभव है।

वर्तमान में प्रांतीय भाषाओं का तो बुरा हाल है ही, राष्ट्र भाषा हिन्दी की स्थिति भी बहुत खराब है। वास्तव में स्वतंत्रता के बाद से दिन-ब-दिन यह खराब ही हो रही है। संविधान में 15 वर्ष बाद अंग्रेजी हटाने का जो प्रावधान था उसे हटाकर अब स्थायी रूप से अंग्रेजी को हमारे राष्ट्र का हिस्सा बना दिया गया है। अंग्रेजों ने अपना शिकंजा और भी मजबूत कर लिया है। हिन्दी यद्यपि हमारी राष्ट्रभाषा है, तथापि प्रशासन के कामकाज अधिकतर अंग्रेजी में ही किये जाते हैं सरकारी नौकरियों में भी आज अंग्रेजी जानने वालों को प्राथमिकता दी जाती है। निजी क्षेत्रों में तो हालात और भी बदतर हैं। हिन्दी माध्यम का प्रयोग करने वालों को हीन दृष्टि से देखा जाता है। केवल अंग्रेजी ही नहीं, प्रांतीय भाषाएं भी हिन्दी की प्रगति में रोड़ा डाल रही हैं। तमिलनाडु में राजनीतिक लाभ के लिए हिन्दी का विरोध किया गया और इसके लिए काफी दंगे भी हुए। वास्तव में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जितने प्रयास किये जा सकते हैं उतने प्रयास किये जाएं। शिक्षा के क्षेत्र में भी हमें हिन्दी को प्रोत्साहन देना होगा व इसकी स्थिति मजबूत बनानी होगी। अन्यथा जिस देश में राष्ट्रभाषा का सम्मान नहीं, वहां उन्नति के रास्ते बड़ी मुश्किल से तय होते हैं।

3.3.14 आर्थिक समानता के लिए प्रयत्न

गांधी जिस स्वराज्य की स्थापना करना चाहते थे उसका प्रमुख रास्ता था आर्थिक समानता की स्थापना के लिए कार्य करना। रचनात्मक कार्यक्रम का यह इसलिए बहुत महत्वपूर्ण अंग है। आर्थिक समानता का अर्थ है पूंजी और श्रम के मध्य की दूरी को समाप्त कर देना और समाज में वर्ग संघर्ष को हमेशा के लिए खत्म कर देना। इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी के पास कुछ एकदम समान मात्रा में हो, बल्कि इसका अर्थ है कि एक तरफ जिन लोगों के पास धन या राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है उसे कम करने और दूसरी ओर जो करोड़ों लोग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तरस रहे हैं उन्हें जीवन जीने के आवश्यक संसाधन उपलब्ध करवाना क्योंकि जब तक मुट्ठीभर धनवानों और करोड़ों गरीबों के बीच आर्थिक दृष्टि से उतना अंतर रहेगा तब तक अहिंसक राज्य

की स्थापना कतई संभव नहीं है। गांधी ने आर्थिक समानता की प्राप्ति हेतु शरीर श्रम की पुनः प्रतिष्ठा, ट्रस्टीशिप, स्वदेशी, लघु व कुटीर उद्योग, विकेन्द्रीकरण को आवश्यक माना।

आजादी के बाद गांधी के इस विचार को लगभग भुला-सा दिया गया। गांधी ने जिस औद्योगिक यंत्रवाद, बड़े-बड़े उद्योगों, विदेशी कम्पनियों के प्रोत्साहन का विरोध किया, स्वतंत्रता के पश्चात् देश के कर्णधारों ने उन्हीं को प्रश्रय देने की नीति बनाई और विकास का मानदण्ड उन्हीं को स्वीकारा। देश का विकास तो हुआ, धन की वृद्धि तो हुई लेकिन आर्थिक समता बढ़ने की बजाय विषमता ही बढ़ी। अमीर और अमीर होते गये, और गरीब और गरीब। औद्योगीकरण के फलस्वरूप कई नई-नई समस्याएं भी पैदा हुई हैं जैसे पर्यावरण असंतुलन, संसाधनों का गिरता स्तर आदि। उन समस्याओं ने मनुष्य को पुनः सोचने पर मजबूर कर दिया। इस समस्या के निवारण के लिये गांधी के विचार बहुत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

3.3.15 किसानों का संगठन

गांधी मानते थे कि भारतीय जनता में से 75 प्रतिशत जनता गांवों में निवास करती हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि है। इस प्रकार देश की प्रमुख शक्ति किसान-शक्ति है। स्वराज्य के निर्माण में भी किसानों का महत्वपूर्ण स्थान है। अगर उनको अपनी ताकत का भान हो जाए, तो उनके सामने देश की किसी भी हुकूमत के टिकने की संभावना नहीं है। इसलिए गांधी किसानों को संगठित करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने किसानों को अपना संगठन बनाने की सलाह दी, जिसका प्रयोग वे अपनी समस्या सुलझाने तथा तकलीफें दूर करने के लिए करें। गांधी ने यह भी कहा कि किसानों को अपनी शक्ति का दुरुपयोग राजनीतिक लाभ या सत्ता हथियाने में होने देने से बचना चाहिए। किसानों को अपनी स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने सहकारी कृषि व पशुपालन सलाह दी। वे किसानों को पूर्ण सक्षम बनाना चाहते थे।

3.3.16 मजदूरों संगठन

किसानों के समान ही गांधी ने मजदूरों के संगठन को भी रचनात्मक कार्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया। गांधी के अनुसार कार्यकर्ताओं को मजदूरों के बौद्धिक व नैतिक विकास को अपना उद्देश्य बनाना चाहिये, जिससे मजदूर की न केवल आर्थिक स्थिति सुधरे, बल्कि उत्पादन के साधनों के दास होने के बजाय वे उनके मालिक बन जाए। इसके लिए गांधी ने मजदूरों को संघ बनाकर संगठित होने की सलाह दी, जो मजदूरों के बच्चों की शिक्षा के लिए रात्रि पाठशाला व बुनियादी विद्यालयों की स्थापना करे तथा मजदूरों के विकास के लिए कार्य करें। गांधी ने साथ ही मजदूरों को यह सलाह दी कि अपने संगठन का प्रयोग अपनी अनुचित मांगें मनवाने के लिए न करें। आजादी के बाद आज मजदूरों की स्थिति उतनी दयापूर्ण नहीं रही है जितने पहली थी। आज शहरों में रहने वाले मजदूरों ने अपने संघ का निर्माण कर लिया है तथा अपनी संगठित शक्ति का उपयोग वे अपने ऊपर होने वाले अन्याय को दूर करने में करते हैं। वास्तव में मजदूर अब उतना गरीब नहीं रहा है। आज वह निम्न मध्यमवर्ग बन गया है। आज वह भी अर्थवाद के चक्कर में फंस गया है। आज बहुत सी जगहों पर मजदूर संगठनों का उपयोग अनुचित राजनीतिक व आर्थिक लाभ उठाने के लिए भी किया जाता है।

3.3.17 विद्यार्थियों का संगठन

गांधी विद्यार्थियों को देश के भविष्य की तस्वीर मानते थे इसलिए वे चाहते थे कि विद्यार्थी गुमराह न हो। इसके लिए उन्होंने विद्यार्थी से कुछ नियमों के पालन की अपेक्षा की। वे स्वयं को भी विद्यार्थी मानते थे, लेकिन कहते थे कि उनकी युनिवर्सिटी अलग है व उनकी खोज का विषय दूसरा है। उन्होंने विद्यार्थियों से अपेक्षा की कि—

- वे दलगत राजनीति में भाग नहीं लेंगे।
- अनुचित मांगों व राजनीतिक कारणों के लिए हड़तालें नहीं करेंगे।
- प्रत्येक विद्यार्थी सूत कातेगा। स्वदेशी का पालन करेगा।
- अस्पृश्यता व साम्प्रदायिकता को मिटाने का प्रयास करेगा।
- अपने पड़ोसी की सहायता, शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा का कार्य करेंगे।

- अपने आचरण में शुद्धता लाएंगे तथा अपनी सहपाठिनियों-विद्यार्थिनियों के प्रति व्यवहार शुद्ध व सभ्यतापूर्ण रखेंगे।

इस प्रकार गांधी चाहते थे कि विद्यार्थी अध्ययन के साथ-साथ रचनात्मक कार्यक्रम में भी अपनी पूर्ण भागीदारी प्रदान करेंगे।

3.3.18 प्राकृतिक चिकित्सा

गांधी प्राकृतिक चिकित्सा में विश्वास करते थे। उनके प्राकृतिक चिकित्सा के लाभ के लिए ईश्वर में विश्वास आवश्यक था। ईश्वर में विश्वास के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु प्राकृतिक चिकित्सा के विरुद्ध है। गांधी के अनुसार ईश्वर की अनुभूति मन में कोई भी अशुद्ध विचार के भाव नहीं आने देती, जिससे मनुष्य को वैचारिक शुद्धता व स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। और जहां वैचारिक शुद्धता का वास होगा, वहां कोई भी रोग होना असंभव है। प्राकृतिक चिकित्सा के साधन स्वरूप-पृथ्वी, जल, हवा, सूर्य का प्रकाश, आकाश, मृदा आदि के उपयोग को गांधी ने स्वीकारा।

इस प्रकार समाज के पुनर्निर्माण को कार्य रूप देने हेतु निर्मित रचनात्मक कार्यक्रम की रूपरेखा के द्वारा गांधी ने अपने अहिंसक समाज के स्वप्न को मूर्त रूप देने का प्रयास किया। गांधी केवल संकल्पना निर्माण व आदर्श की स्थापना में विश्वास नहीं रखते थे। वे जानते थे कि आदर्श की पूर्ण प्राप्ति असंभव है इसलिए मानव प्रयत्न की सीमा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम को लक्ष्य प्राप्ति के साधन के रूप में जनता के सामने रखा, जिसमें सभी प्रत्यक्ष रूप से अपनी भागीदारी देकर यथासंभव आदर्श समाज की प्राप्ति का प्रयास कर सकते हैं। गांधी ने रचनात्मक कार्यक्रम की सूची को अंतिम सूची नहीं माना तथा समय के अनुसार उसमें वांछित परिवर्तनों की गुंजाइश को बरकरार रख इनकी प्रासंगिकता को बनाए रखा।

3.4 गांधीवाद और ग्रामीण विकास

महात्मा गांधी का चिंतन आदर्श और व्यावहारिक दोनों प्रकार का है। भारतीय जनता को उन्होंने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परतंत्रता से भी मुक्ति दिलाई। उन्होंने नारी के प्रति, अस्पृश्य वर्ग, श्रमिक वर्ग तथा ग्रामीण जनता के प्रति संभावना तथा सद्भावना की नींव डाली। मानवता को परमधर्म मानकर युग की वाणी को नई दिशा देकर कर्म द्वारा भारत और भारतीयों का अभिनन्दन किया। उन्होंने तिरस्कृत, अस्पृश्य वर्ग, दलित वर्ग को गले लगाया। ऊंच-नीच का भेदभाव मिटाया। ग्रामीण जनता के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए चिंतित और प्रयत्नशील थे और निरंतर प्रयासरत रहे।

पंचायती राज ग्राम स्वराज का क्रियात्मक रूप है। पंचायत और पंचायती राज का अतीत हमारी संस्कृति की ही तरह गौरवपूर्ण रहा है। वेदों में भी ग्राम संगठन का उल्लेख मिलता है। गांवों में स्वस्थ और परिपुष्ट विश्व की कल्पना वेदों में की गई है। राजतंत्र में राजसूर्य यज्ञ के समय 'रत्नहवि' जैसे संस्कार में ग्रामीण की उपस्थिति अत्यधिक महत्त्व रखती थी। पदच्युत किए गए राजाओं को पुनः राज्य अधिकारी बनाने के लिए राजसूय यज्ञ किए जाने पर 8 वीरों में एक ग्रामीण भी होता था। इस प्रकार का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। मौर्य एवं गुप्तकाल में भी पंचायतें होती थीं। शक, हूण यवन और अंग्रेजों के आने से पंचायतें समाप्त हो गई थीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो गया और पंचायती राज की पुनः प्रतिष्ठा हो गई।

भारतन् कुमारप्पा ने लिखा है— “गांधी जी अपने को ग्रावासी ही मानते थे और गांव में ही बस गए थे। गांव की जरूरतें पूरी करने के लिए उन्होंने अनक संस्थाएं कायम की थीं और ग्रामवासियों की शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति सुधारने का उन्होंने भरसक प्रयास किया था”। गांव के पुनर्निर्माण में गांधीजी के विचारों की सबसे बड़ी खूबी इस बात में है कि ग्रामोत्थान की योजना बनाते समय वे केवल उनका आर्थिक स्तर उठाने का ध्यान ही नहीं रखते थे बल्कि शांति, न्याय और सबके लिये स्वतंत्रता का आधार खड़ा करने की चिंता भी रखते थे। अगर हम यह बात ध्यान में न रखें तो गांधीजी को समझने या उनके सुझावों के महत्त्व को समझने में पूरी तरह असफल रहेंगे। वे भारत को गांवों में देखते थे। गांधीजी लिखते हैं, “गांव की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी।” अगर गांव नष्ट हो गए तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जाएगा। वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायेगा। एक

आदर्श गांव की परिकल्पना करते हुए गांधीजी लिखते हैं—“आदर्श भारतीय गांव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए जिससे वह सम्पूर्णतया निरोग हो सके। उसके झोपड़ों और मकानों में काफी प्रकाश और वायु आ जा सके। ये ऐसी चीजों के बने हों जो पांच मील की सीमा के अंदर उपलब्ध हो सकें। हर मकान के आस-पास या आगे-पीछे इतना बड़ा आंगन हो जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग-भाजी लगा सकें और अपने पशुओं को रख सकें। गांव की गलियों और रास्ते पर धूल न हो। अपनी जरूरत के अनुसार गांव में कुएं हों जिनसे गांव के सब आदमी पानी भर सकें। सबके लिए प्रार्थना घर या मंदिर हो, सहकारी ढंग की अपनी गौशाला हो। ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालाएं हो जिनमें औद्योगिक शिक्षा सर्वप्रधान हो और गांव के अपने मामले निपटाने के लिए ग्राम पंचायत भी हो। अपनी जरूरतों के लिए अनाज, साग-सब्जी फल, खादी वगैरह खुद गांव में ही पैदा हो। एक आदर्श गांव की मेरी यह कल्पना है।”

गांधीजी ने ग्रामीण विकास की जो परिकल्पना बनाई थी वह एक आदर्श और समग्र विकास की परिकल्पना थी। गांव के विकास के लिए ग्राम स्वराज्य को वे आवश्यक मानते थे। उनकी मान्यता थी कि “ग्राम स्वराज्य आज हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है। जब तक गांव आजाद नहीं होते तब तक देश की आजादी का कोई अर्थ नहीं है। आज भारत के गांव टूटे हुए हैं। ग्रामीण उद्योग समाप्त हो रहे हैं। गांव की जनता सरकार की सहायता और सहारे पर निर्भर है। हर तरह के गांव आज कमजोर हैं। कमजोर गांव का राष्ट्र कमजोर ही रहेगा। फौजी या हथियारों की ताकत से कोई राष्ट्र मजबूत नहीं बन सकता है। गांव की मजबूती ही देश की मजबूती है। गांव को मजबूत बनाने का एकमात्र उपाय है ग्राम स्वराज्य की स्थापना।”

ग्राम स्वराज्य का पंचायती राज क्रियात्मक रूप है। हमारी संस्कृति और सभ्यता की भांति पंचायत और पंचायती राज की अतीत काल से गौरवमयी परम्परा रही है। वेदों में ग्राम व ग्राम संगठन का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि “विश्व पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनानुरम्” अर्थात् इस गांव में स्वस्थ और परिपुष्ट विश्व का दर्शन हो। तैत्तिरीय संहिता में ग्रामीण की गणना ग्राम के अग्रगामी सदस्य के रूप में की गई है। राजतंत्र में राजसूय यज्ञ के अंतर्गत रत्नहवि जैसे संस्कार में ग्रामीण की उपस्थिति अत्यावश्यक मानी गई थी। अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि पदच्युत किए गए राजाओं को पुनः राज्याधिकारी बनाने के लिए जब राजसूय यज्ञ किया जाता था तब उसमें 8 वीरों में एक ग्रामीण भी होता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि एक ग्राम के ऊपर 5 ग्रामों का समूह होता था जिसके शासक का भार पंचग्रामी नामक राज्य कर्मचारी पर होता था। मौर्य तथा गुप्त काल में पंचायतें थीं। जिन्हें “ग्राम वृद्ध सभा” की संज्ञा प्राप्त थी। “अपनी धरती अपना राज” का सिद्धान्त प्रचलित था। शक, हूण, यवन और अंग्रेजों के आगमन से पंचायतों का स्वरूप नष्ट हुआ। जमींदारी प्रथा की शुरुआत हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पंचायती राज की पुनः प्रतिष्ठा हुई।

“2 अक्टूबर, 1959, बापू की जन्मतिथि पर पं. जवाहरलाल नेहरू ने राजस्थान के नागौर गांव में लोकतंत्र के विकेंद्रीकरण का पहला दीप जलाया। नेहरू ने लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण जैसा लम्बा नाम पसन्द न कर इसे सीधी-सादी ‘पंचायती राज’ की संज्ञा दी। नेहरू जी ने कहा था कि “मेरा यह निश्चय हो गया है कि सत्ता का अधिकाधिक विकेंद्रीकरण हो और सत्ता गांवों को सौंपी जानी चाहिए।” पंचायती राज की व्यवस्था तीन स्तरीय है— 1. ग्राम पंचायत, 2. पंचायत समिति, 3. जिला पंचायत। इस व्यवस्था में ग्राम प्रशासन की आधारभूत इकाई ग्राम पंचायत होगी, परंतु विकास कार्य के सम्बन्ध में मुख्य इकाई पंचायत समिति विकासखण्ड स्तर पर रहेगी और जिला परिषद् समन्वय और परामर्श का कार्य करेगी। गांधीजी पंचायती राज को ग्रामीण विकास के लिए अनिवार्य मानते हैं।

ग्राम पंचायतों के कार्यों का निर्धारण करते हुए गुरुशरण ने लिखा है—“वे ग्राम सभा क्षेत्र में अन्य बातों के साथ सफाई, गंदगी का निकास तथा अन्य बातों के साथ कष्टों की रोकथाम और निराकरण करने, कानून और व्यवसाय बनाए रखने, सार्वजनिक कुंओ, तलैयाँ और तालाबों की साज-सज्जा तथा मरम्मत करने, घरेलू उपयोग के लिए जल की पूर्ति करने, कृषि का विकास करने और कुटीर उद्योगों तथा सहकारिता को प्रोत्साहन देने की उचित व्यवस्था करें। पंचायतें सार्वजनिक सड़कों, पुल-पुलियाओं, लघु सिंचाई कार्यों के निर्माण तथा प्रबंध और स्वास्थ्य एवं सफाई का कार्य भी करेंगी।”

पंचायती राज की आदर्श व्यवस्था गांधी जी ने देश के सामने रखी थी जिसमें जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन होगा। स्वशासन या स्वराज्य होगा। परंतु आज आजादी के पचास वर्षों बाद भी ग्रामीण विकास की वह तस्वीर सामने नहीं आई जो गांधी के सपनों का रामराज्य था। संत विनोबा जी ने ठीक ही कहा था— “हमारा स्वराज्य राजधानियों में अटका पड़ा है। गांव में जब तक बेकारी, अशिक्षा, परावलम्बन, व्यसन हैं और आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और गांव का राज नहीं है तब तक देश की नींव कच्ची ही रह जाएगी। इस नींव को हमें पक्का बनाना है। तभी सारा देश स्वराज्य का सच्चा आनन्द ले सकेगा।” निश्चित रूप से भारत में गांव पंचायतों की स्थापना का उद्देश्य पवित्र था परंतु स्थानीय परिस्थितियां, अशिक्षा, बेकारी, गरीबी, अस्पृश्यता के कारण तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता विशेषकर सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में पंचायती राज अपनी मूल भावना को आज भी साकार नहीं कर सका है। आज आवश्यकता है सच्चे पंचायती राज की, जो गांधीजी की परिकल्पना के अनुकूल हो, तभी ग्रामीण विकास को सक्रिय गति मिल सकेगी। इसके लिए गांव वालों को अपना पुरुषार्थ जगाना होगा। गांव में स्वयं पूर्ण स्वराज्य का दर्शन करना चाहिए। यह तब होगा जब जनता सरकार पर निर्भर न रहकर अपने पैरों पर खड़ी होगी।

हमारे देश में 80 प्रतिशत जनसंख्या आज भी गांव में रहती है। जब तक मनुष्य देहधारी है तब तक अन्न के बिना उसका काम नहीं चल सकता है। पशु हो या मनुष्य भोजन तो उसे जमीन से ही मिलेगा। शहर चाहे जितने फलफूल हो जाएं लेकिन उनका आधार खेती प्रधान गांव पर ही रहेगा। काका कालेलकर ने ठीक ही लिखा है कि “संसार का नेतृत्व भले ही शासकों, सेनापतियों, न्यायाधीशों, विद्वानों, व्यावसायियों और उद्योगपतियों के हाथ में हो परंतु जगत का पिता अंत में किसान है। गांधीजी गांव की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से भली भांति परिचित थे। उन्होंने अर्थशास्त्रियों से अनुरोध किया था “पश्चिम के अर्थशास्त्र को भूल जाओ, अपने पूर्वाग्रह को त्याग दो, गांव में जाकर वहां की परिस्थिति का अवलोकन करो, गहराई में उतर कर लोक जीवन के गुण दोषों की जांच करो और इस ठोस और मजबूत बुनियाद पर ऐसे स्वतंत्र और लाभदायी अर्थशास्त्र की रचना करो जो भारत की परिस्थितियों के अनुकूल हो तथा देश के सामान्य जन का उद्धार कर सके।

गांधीजी के समग्र विकास में आर्थिक विकास को आवश्यक मानते थे। वे कहते थे कि “गांव की प्रधान समस्या यह है कि वहां की अविकसित अर्थव्यवस्था का विकास कैसे किया जाए और उसमें स्वतः विकसित होने की क्षमता कैसे लाई जाए। हमारे गांवों की स्थिति तो बेकार पड़े हुए साधनों और मनुष्य शक्ति के उपयोग का सवाल है हमें ऐसी युक्ति निकालनी होगी कि गांव के सम्पूर्ण साधन और गांव की सम्पूर्ण जनशक्ति गांव के समग्र विकास के लिए प्रयोग में लाई जाए। उन्हीं का प्रयोग करके स्वयं विकास की प्रक्रिया गांव में आरम्भ हो सकती है।” साधन और गांव की जनशक्ति के उपयोग के लिए गांधी जी ने तीन बातें सामने रखी हैं—1. खेती, 2. खादी, 3. ग्रामोद्योग या कुटीर उद्योग। गांवों में आज भी खेती पुराने तरीकों से होती है, छोटे-छोटे खेत बिखरे हुए हैं, सिंचाई का भरपूर प्रबंध न होने, अच्छी खाद और बीज आदि की कमी, पुराने औजार, पुराने साधन, खेती की पुरानी पद्धति, समय पर पूंजी तथा साधनों का अभाव के कारण खेती की पैदावार बहुत कम है। गांधीजी मानते थे कि, “गांवों को अपनी ताकत लगा कर खेती की उपज बढ़ानी होगी। खेती की चकबंदी, सिंचाई का अच्छा प्रबंध, उत्तम खाद, हरी खाद, अच्छा बीज, अच्छे और नये औजार, नये साधन, नयी पद्धति का सहारा लेना होगा। खेती के लिए जरूरी पूंजी ग्रामकोष से जुटानी होगी। बाहर से कुछ भी मदद ली जा सकती है।”

खेती के साथ ही गांधीजी ने खादी का सिद्धान्त दिया। जिससे स्वयं निर्मित वस्त्रों का उपभोग महत्वपूर्ण था। गांधीजी मानते थे कि, “अगर खादी का विकास होता है तो उसके साथ दूसरे अनेक ग्राम उद्योगों का विकास का दरवाजा खुल जाएगा। खादी और ग्रामोद्योग एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।” गांधीजी चरखे को ‘जीवनदाता सूर्य’ मानते थे। वे चरखे को “राष्ट्र की समृद्धि” और उसकी आजादी का ‘चिन्ह’ मानते थे। गांव के करोड़ों लोगों के हाथ को काम चरखा ही दे सकता है और बेकारी को दूर कर सकता है। चरखा व्यापारिक युद्ध की नहीं बल्कि व्यापारिक शांति की निशानी है। उसका संदेश संसार के राष्ट्रों के लिए दुर्भाव का नहीं बल्कि सद्भाव और स्वावलम्बन का है। वे चरखे को भारत के आर्थिक और नैतिक पुनरुद्धार का प्रतीक मानते थे।

गांवों के आर्थिक विकास के क्रम में गांधी जी खेती और खादी की तरह ग्रामोद्योग को महत्वपूर्ण कारक मानते थे। गांधीजी कहते थे कि “ग्रामोद्योगों” को प्रोत्साहन और संजीवन देने में सच्चा स्वदेशीपन है जो लोग गरीबी से पीड़ित हैं वे किसी ग्रामोद्योग को अपना लें और अपनी मालूली-सी आमदनी में वृद्धि करें। वे मानते थे कि “ग्रामोद्योगों के पीछे मेरी कल्पना यह है कि हमें अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताएं गांव की बनी चीजों से ही पूरी करनी चाहिए। गांधीजी ने ग्रामोद्योग में हाथकरघा उद्योग, तेलघानी उद्योग, चावल की हाथ कुटाई उद्योग, मधुमक्खी पालन, ताड़गुड उद्योग, हाथ कागज का उद्योग, चमड़े का ग्रामोद्योग, दियासलाई का कुटीर उद्योग, अखाद्य तेलों से साबुन बनाना, मिट्टी की चीजें बनाना, छोटे पैमाने के उद्योग, दस्तकारी बोर्ड और उसका कार्य, नारियल की जटा का उद्योग, रेशम उद्योग आदि को सम्मिलित किया। जो गांव के साधनों और जनशक्ति का उपयोग द्वारा संचालित किए जा सकते हैं, ग्रामोद्योग के विशेषज्ञ शोभालाल गुप्ता का मानना है कि “देश की अर्थव्यवस्था में ग्रामोद्योग, हस्तकला कौशल और छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। देश की सबसे बड़ी और तात्कालिक समस्या बेकारी की है। ... लोगों को रोजगार देने की क्षमता सबसे अधिक ग्रामोद्योगों में ही है। इस कारण उनका विकास और विस्तार राष्ट्रीय अर्थ नीति का आवश्यक अंग होना चाहिए। देश ने समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था कायम करने का संकल्प लिया है। उसमें आज के जैसी आर्थिक उत्पादन विषमता कायम नहीं रह सकती हैं। सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ आर्थिक उत्पादन की प्रकृति पर निर्भर करता है। ग्रामोद्योगों की विकेंद्रित उत्पादन और सम्पत्ति का समान वितरण संभव बनाना है। इसलिए यदि राष्ट्र को समता और शक्तिमूलक समाज व्यवस्था कायम करनी है तब लोगों के लिए रोजगारी का प्रबंध करना है, उनका जीवन स्तर ऊंचा उठाना है और उत्पादन भी बढ़ाना है तो यह ग्रामोद्योगों और हस्तकला कौशल के विकास से ही संभव हो सकता है। वर्तमान में यंत्रीकरण के माध्यम से शहरों में बड़े उद्योगों की स्थापना हुई है उससे उत्पादन बढ़ा है जीवन जीने के बेहतर तरीके सामने आए हैं, सुख सुविधाएं बढ़ी हैं लेकिन गांव की गरीबी और बेकारी भी बढ़ी है, पूंजीपति रातों-रात अमीर हुए और ग्रामीण जनता दिनों-दिन गरीब हुई है। गांव की लक्ष्मी अब शहरों की शोभा बनी है। गांव की लक्ष्मी पहाड़ पर बरसे पानी के समान है जो कभी अपने स्थान पर नहीं ठहरती है। विनोबा जी कहते थे कि “गांव की लक्ष्मी 5 रास्तों से शहर की ओर जाती है ये हैं— बाजार, शादी-ब्याह, साहूकार, सरकार और व्यसन। इन पांचों रास्तों को रोककर ही गांव की लक्ष्मी रोकी जा सकती है।” गांव को गोकुल बनाना होगा तभी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आदर्श ग्राम विकास में प्रस्तुत किया जा सकता है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि अर्थव्यवस्था मनुष्य के लिए है मनुष्य अर्थव्यवस्था के लिए नहीं। मनुष्य को आंतरिक अथवा पूर्ण विकास से वंचित रखने का कोई अधिकार अर्थव्यवस्था को नहीं है और न केवल बाह्य या भौतिक मूल्यों के लिए मनुष्य को काम में जोतने का उसे अधिकार है। इसलिए यदि ग्रामवासियों को अर्थ व्यवस्था का दास नहीं बनाना है तो ग्रामीण उद्योग धन्धे नष्ट नहीं होने चाहिए। गांधीजी कहते थे कि, “पैसे का अर्थशास्त्र हमारे दृष्टिकोण को धुंधला करता है।” स्वरोजगार में स्वावलम्बन और स्वदेशी का महान आदर्श छुपा है जिसको केवल आर्थिक विशेषकर धनोपार्जन से नहीं आंका जा सकता है। गांधीजी चाहते थे कि “जब अर्थशास्त्र और जीवन में ग्रामीण दृष्टि का प्रवेश होगा तब देहात की बनी चीजों का अधिकाधिक उपयोग करने की ओर जनता का मन झुकेगा। आज सम्पत्ति देहात से शहरों में होकर विदेश चली जाती है इस प्रवाह को बदलने की जरूरत है। जिससे सम्पत्ति देहात में ही रहे और देहाती स्वावलम्बी बनें।”

राजनैतिक एवं आर्थिक विकास की तरह सामाजिक विकास भी गांव के समग्र विकास के लिए आवश्यक है। गांधीजी सागर वृत्ति वाली समाज रचना के पक्षधर थे। इसकी परिकल्पना करते हुए गांधीजी कहते हैं—“ऐसा समाज अनेक गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग का नहीं बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक ही शकल का होगा। जिन्दगी मीनार की शकल की नहीं होगी जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा रहना पड़ता है वहां तो समुद्र की लहरों की तरह एक के बाद एक की शकल में होगी और व्यक्ति उसका मध्य बिन्दु होगा। व्यक्ति गांव के लिए, गांव पड़ोसी के लिए और अंततः सब एक दूसरे के लिए तैयार रहेंगे।

सागर वृत्ति वाली रचना गांव की वर्तमान गतिशून्य अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील और उन्नत बनाने का प्रबल साधन है। गांव के सामाजिक विकास के लिए शिक्षा और बाल कल्याण, स्वास्थ्य और सफाई, रोजगार की निश्चित व्यवस्था, सामाजिक सुरक्षा का प्रबंध, सामाजिक खर्च, व्यवसाय विभाजन,

ज्ञान का विस्तार, सांस्कृतिक अलगाव से उद्धार, परस्पर आदरभाव, सहकारी खेती, अस्पृश्यता व भेदभाव की समाप्ति, व्यक्ति और परिवार की स्वतंत्रता और सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करना आवश्यक है। गांव बनाने व बसाने की निश्चित योजना होनी चाहिए।

गांवों में मकान बनाने का न कोई विचार होता है न कोई योजना। जनसंख्या के अनुसार मकान बढ़ा लिए जाते हैं। परिणामस्वरूप न तो नालियों का प्रबंध की गुंजाइश होती है न स्नानघर की। शौचालय बनाने की पद्धति तो गांवों में है ही नहीं। न हवा की चिंता न धूप की व्यवस्था। अतः भवन निर्माण नियोजित होना चाहिए। अन्त्योदय से सर्वोदय की ओर चलना होगा तभी सामाजिक विकास की परिकल्पना साकार होगी। “एक सबके लिए, सब एक के लिए”, तन, मन, धन से सहयोग कर आदर्श समाज व्यवस्था कायम करेंगे। “गांधीजी ऐसी समाज व्यवस्था को सर्वोदय समाज की संज्ञा देते हैं।”

भारतीय गांवों की वर्तमान स्थिति, विकास और प्रगति की नहीं बल्कि नैराश्य की है। इसका कारण है ग्राम संस्कृति का गतिशून्य हो जाना, बाहरी दुनिया से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है। ग्राम समाज का संगठन टूट रहा है। काम करने के पुराने तरीकों में सुधार नहीं हो रहा है। ग्रामीण जीवन में शिथिलता है, शोषण है, अलगाव है। आज गांवों में लोगों के घर एक दूसरे से सटे हुए किंतु उनके दिल कटे हुए हैं। आबादी दिनों-दिन बढ़ रही है लोगों के लिए जमीन कम पड़ रही है। करोड़ों लोग गांव में रहते हैं उनके लिए उद्योग-धंधे होने चाहिए। फैक्टरियां करोड़ों को काम नहीं दे सकती हैं। ग्रामीण उद्योगों को बढ़ाना होगा। गांव के लोगों को गांव में ही रोजगार देना होगा तभी गांव का आर्थिक विकास संभव है। समाज में अहिंसक क्रांति होनी चाहिए। राजनीति का आध्यात्मीकरण हो और अर्थव्यवस्था सहकार की भावना पर आधारित होनी चाहिए।

गांधीजी ने ग्रामीण विकास की एक समग्र योजना प्रस्तुत की है। जिससे गांव का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सम्पूर्ण विकास संभव है। वे विचार परिवर्तन, फिर हृदय परिवर्तन के बाद समाज परिवर्तन के पक्षधर थे। इसीलिए उन्होंने राजनीति का आध्यात्मीकरण, अर्थव्यवस्था का सहकारीकरण, समाज व्यवस्था के आदर्श स्वरूप के लिए नैतिक व धार्मिक मान्यताओं का प्रतिपादन किया। ग्रामीण जीवन को सुखमय बनाने का यही एकमात्र रास्ता है जो शोषण, अलगाव, भेदभाव, गरीबी, बेकारी, अशिक्षा, भय, भूख और भ्रष्टाचार समाप्त करके आदर्श ग्रामीण विकास का राजमार्ग प्रस्तुत कर सकेगा। गांधीजी के विचारों की उपयोगिता एवं प्रासंगिकता जितनी स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व थी उससे कहीं अधिक आज है, और भविष्य में बनी रहेगी।

4. गांधी के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता

महात्मा गांधी के विचार आज कितने प्रासंगिक हैं, यह प्रश्न बार-बार उठता है। सही है कि अब गांधी के तथाकथित अनुयायी उनके विचारों और आदर्शों को भूल गये हैं बल्कि उनसे ठीक विपरीत आचरण कर रहे हैं। गांधी को फिल्मों में, मूर्तियों में एवं संग्रहालयों में देखने की वस्तु समझ कर छोड़ दिया गया है। उन्हें समझने का कष्ट लोग उठाना नहीं चाहते। प्रतिदिन जब गांधीवाद की हत्या हो रही हो, तब गांधी की का प्रश्न सामने आता है। आज सम्पूर्ण विश्व में सामान्यतः और भारत में विशेषतः संक्रांति एवं मूल्यहीनता व्याप्त है। इस विकट स्थिति में गांधी के विचारों का टिमटिमाता दीपक अनवरत प्रकाश दे रहा है। आज समाज समृद्धि और गरीबी, स्वतंत्रता और शोषण, सामाजिक सम्बन्ध एवं अलगाव, विज्ञान एवं अध्यात्म के विरोधाभास में फंसा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम गांधी के विचारों का पुनर्मूल्यांकन करें और समसामयिक समाज में उनकी प्रासंगिकता पर सार्थक विचार-विमर्श करें।

गांधी कोई भविष्यवक्ता नहीं थे, परंतु ऐसा भान हो रहा है कि शताब्दियों पूर्व गांधी ने जिन औद्योगिक एवं तकनीकी समाज से उत्पन्न समस्याओं की ओर संकेत किया था, वे अब वर्तमान हैं। समकालीन भारतीय समाज में घोर भौतिकवादी एवं उपभोक्ता संस्कृति पनप गई। मानव एक तरफ हिंसा और दूसरी तरफ अलगाव के बीच छटपटा रहा है। ऐसी विकट परिस्थिति में गांधी ने मूल्यों की स्थापना की पहल की। गांधी ने मानव को उसके नैतिक परिप्रेक्ष्य में देखने की चेष्टा की और इसी कारण तकनीकी युग से उत्पन्न त्रासदी की ओर संकेत किया।

गांधी ने जिन मूल्यों की स्थापना की है, वे कोई तत्त्वमीमांसा पर आधारित नहीं हैं, बल्कि अनुभूतियों की धरती पर खड़े हैं। मानव स्वभाव, सामाजिक रिश्ते और संघर्षों से उत्पन्न अनुभूति एवं अस्तित्व के गर्भ से उत्पन्न विचारों के आधार पर गांधी ने अपने जीवन-दर्शन का ताना-बाना बुना है।

एक समस्या आज वैज्ञानिक तकनीकी सभ्यता के सामने है—मूल्यहीनता की। कोई भी समाज आज मूल्यों के संकट से वंचित नहीं है। कुछ देशों में यह संकट विस्फोटक स्थिति में है। मानवता विध्वंस के कगार पर खड़ी है। ऐसे संदर्भ में गांधी की प्रासंगिकता अत्यधिक है। यह स्पष्ट कर देना उचित है कि गांधी की दृष्टि अवैज्ञानिक नहीं थी। विज्ञान को उन्होंने एक नैतिक आयाम दिया है। इस तरह से गांधी को एक नैतिक-सामाजिक-वैज्ञानिक कहा जा सकता है।

किसी भी समाज के मूल्य तीन स्रोतों से उत्पन्न होते हैं—1. दार्शनिक पृष्ठभूमि या विश्व-दर्शन से, 2. सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना से, 3. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि किसी भी मूल्य की सृजना उपरोक्त संदर्भ से कटकर नहीं हो सकती है यदि कोई मूल्य दर्शन किसी चिंतक के नाम से जोड़ा जाता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह चिंतक इन संदर्भों से परे या परामुख है। वह इन संदर्भों के गर्भ से अपने मूल्य-दर्शन एवं जीवन-दर्शन को गढ़ता है।

कोई भी मूल्यपरक जीवन-दर्शन बिना दार्शनिक पृष्ठभूमि के खड़ा नहीं हो सकता है। लोक दर्शन की अपनी तत्त्वमीमांसा, ज्ञान मीमांसा तथा विधि मीमांसा होती है। तत्त्वमीमांसा चरम सत्य का सिद्धान्त है। ज्ञान मीमांसा उसके ज्ञान संबंधी सिद्धांत है। विधि मीमांसा ज्ञान के स्रोतों पर प्रकाश डालती है। विधि विश्व की दिशा परिवर्तन की ओर इंगित करती है। कोई चिंतक या विचारक इन तीनों दार्शनिक परिप्रेक्ष्यों को नजर अंदाज कर कोई मूल्यपरक जीवन-दर्शन प्रतिपादित नहीं कर सकता। इन तीनों को ध्यान में रखकर ही कोई मूल्यपरक जीवन-दर्शन प्रतिपादित किया जा सकता है। गांधी ने तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और विधि को एक साथ केन्द्रीभूत कर अन्वेषण किया है, जिसे उन्होंने 'सत्य की खोज' कहा है। गांधी के मूल्य-दर्शन को प्लेटो की तरह प्रागानुभविक नहीं कहा जा सकता है। गांधी का मूल्य-दर्शन जीवन की अनुभूति पर आधारित है। गांधी ने अध्यात्म तथा अनुभूति, सत्य तथा जीवन में समन्वय करने का प्रयास किया है। शुद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्त मात्र सैद्धान्तिक होता है, किंतु आदर्श निर्धारक मूल्यपरक वैज्ञानिक सिद्धान्त को अनुभवपरक होना चाहिए। गांधी जीवन-दर्शन मूल्यपरक एवं आदर्श निर्धारक हैं। मार्क्स का द्वन्द्व-दर्शन मूल्यों के प्रति उदासीन है, वहीं गांधी का जीवन-दर्शन मूल्यपरक है। गांधी का मूल्य-दर्शन गतिशील है न कि गतिहीन। गांधी स्वयं गतिशील व्यक्ति थे। नई अनुभूतियों के आलोक में अपनी पुरानी वस्तुओं को सुधारते एवं संवारते रहे हैं।

नीति शास्त्र के क्षेत्र में गांधी का अमूल्य योगदान रहा है। उन्होंने धर्म के सनातन मूल्यों को सापेक्ष नैतिक मूल्यों में परिवर्तित किया है। गांधी का नैतिक धर्म नैतिक कर्म से जुड़ा हुआ है। गांधी कर्मवाद में विश्वास करते थे। गांधी का कहना है कि यदि उपनिषद् और धर्मशास्त्र किसी ऐसे सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं जो कर्म के क्षेत्र में विवेक सम्मत नहीं है, तो वे ऐसे सिद्धान्तों को नकार देते हैं। गांधी ने देखा कि हिन्दू धर्म अस्पृश्यता की भावना को दूर नहीं कर पाया है। ऐसे धर्म-ग्रंथों को त्यागना पड़ेगा जो मानव को मानव से भिन्न बतलाते हैं तथा पृथक्ता की भावना फैलाते हैं।

गांधी के विचारों की एक विशेषता यह रही है कि उन्होंने चिंतन और कर्म में अदभुत समन्वय स्थापित किया है। गांधी जब कहते हैं कि शारीरिक श्रम की महत्ता है तो उन्होंने स्वयं शारीरिक परिश्रम किया। जब वे कहते हैं कि अहिंसा और सत्य अनूठे मूल्य हैं तो उनका रूपान्तरण उन्होंने सत्याग्रह करके दिखाया। जब उन्होंने भ्रातृत्व को एक अमूल्य बतलाया, तो उन्होंने गरीबों की सेवा करके दिखाई। गांधी ने कर्मठता की ज्योति जलाई। गांधी ने धार्मिक अवधारणाओं को नैतिक कर्म में परिवर्तित कर आज के औद्योगिक समाज में अनोखा कार्य किया है। आज विश्व को एक दुःखद विरोधाभास का सामना करना पड़ रहा है। ऐसे समाज में गांधी की प्रासंगिकता बढ़ जाती है।

कुछ चिंतकों का कहना है कि 21वीं शताब्दी में विकसित देशों में गांधी के नैतिक विचार एक प्रतिमान के रूप में स्वीकार किये जायेंगे। भय सिर्फ इस बात का है कि गांधी के विचारों को तोड़-मरोड़ कर सामने न लाया जाये। विकासशील देश के आगे एक ही प्रतिमान है—गांधी के नैतिक विचार। यदि वे दुनिया के दो प्रचलित खेमों से अपने को बाहर रखना चाहते हैं तो गांधी-विचार की प्रासंगिकता हो जाती है। यही कारण है कि तृतीय विश्व को गांधी के दर्शन एवं प्रतिमान की अत्यन्त

आवश्यकता है। विश्व-संरचना के जो प्रचलित प्रतिमान हैं वे तृतीय विश्व के लिए उपयुक्त नहीं हैं। आज सर्वविदित दो प्रतिमान हमारे सामने हैं—एक अमेरिका का और दूसरा रूस का। ये विश्वव्यापी प्रतिमान हैं। इन प्रतिमानों का यदि हम अनुकरण करते हैं तो विकासशील देश कभी भी विकसित देश नहीं बन सकता क्योंकि किसी न किसी तरह उनके खेमे के अंदर चला जाना होगा। हमें एक ऐसे प्रतिमान की तलाश है जो विकसित देश और विकासशील देश के बीच गहरी खाई न पैदा करे।

विकसित देश अपनी तकनीक के कारण सदैव विकसित होता जायेगा और विकासशील देश प्रगति की गति धीमी रहेगी। गांधी ने कभी भी तकनीकी की उपादेयता को नकारा नहीं है। परंतु उनकी उपयोगिता को बढ़ा-चढ़ा कर भी कहना ठीक नहीं। प्रदूषण, जनसंख्या, तकनीकी नात्रवाद, सभी मानव को विनाश की ओर खींच रहे हैं। तकनीकी प्रतिमान पूरी विश्व जनसंख्या को प्रभावित कर रहा है। प्रश्न उठता है कि विश्व की समस्या को गांधी के नैतिक प्रतिमान के आधार पर कैसे हल किया जा सकता है? सभी समस्याओं का हल विस्तारपूर्वक देना संभव नहीं है। विश्व की कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं जिनका उत्तर गांधी के प्रतिमान से नहीं मिल सकता है। जैसे विश्व के आर्थिक तथा शक्ति स्रोतों के ह्रास की क्षतिपूर्ति के लिए नई शक्ति की खोज की समस्या। एक मत यह भी है कि 300 वर्षों में सारे खनिज पदार्थ समाप्त हो जायेंगे। यदि उपभोग की यही दर रही तो अवश्य ही यह भविष्यवाणी सही हो जायेगी। विकसित देश जिनके पास विकसित तकनीक है, सभी खनिज पदार्थों का उपभोग करते रहेंगे और वैसी स्थिति में गरीब देशों की गरीबी बढ़ती जायेगी। गांधी के अनुसार पूरे विश्व की आर्थिक संरचना की पुनर्रचना की जाये।

समकालीन भारतीय समाज की मुख्य चार समस्याओं के संबंध में चर्चा करना आवश्यक है—

1. गरीबी, 2. अलगाव, 3. तकनीकी विकास, 4. गांधी के प्रतिमान।

तृतीय विश्व आज गरीबी की चक्की में पिस रहा है। भारतवर्ष में तो 80 प्रतिशत जनता गरीबी की सीमांत रेखा के नीचे अपना जीवन—यापन कर रही हैं। आर्थिक सहायता, व्यापार, तकनीकी सहायता के बावजूद गरीब देश गरीब ही है। इन सभी सहायताओं के फलस्वरूप गरीब देश का धन विकसित एवं अमीर देश में चला जाता है। इस तरह विकसित देशों का राजनीतिक, व्यापारिक, व्यवसायिक वर्चस्व बना रहता है। यह भी सही है कि तकनीकी विकास के फलस्वरूप हमारी अर्थ संरचना बदल रही है किंतु जनसंख्या जब तक नियंत्रित नहीं होगी तब तक कोई समाधान संभव नहीं है। इस तकनीकी विकास के परिणाम—स्वरूप वातावरण में जो प्रदूषण बढ़ा है वह अप्रत्याशित है। इस प्रदूषण के कारण एक ऐसा भी समय आयेगा जब मानव जाति रुग्ण हो जायेगी। सड़कों पर रोगी व्यक्ति, दपतरों में बीमार चेहरे, खेतों में बीमार आदमी दिखाई पड़ेंगे। पूरी संस्कृति एवं पूरी सभ्यता बीमार होगी। आज विश्व का 80 प्रतिशत आर्थिक साधन विकसित देशों में है। विकसित देश कभी नहीं चाहेगा कि विकासशील देश गरीबी की रेखा से ऊपर उठ जाये। आज पूरी मानव जाति विश्व के 'सुपर पॉवर' की मर्जी पर है। ये 'सुपर पॉवर' जब चाहें पागलपन के दौर में विनाश का तांडव नृत्य कर सकते हैं।

यद्यपि प्रौद्योगिकी विकास के कारण विश्व की दूरी कम हो गई है किंतु किसी भी राष्ट्र का प्राकृतिक साधन एवं वैज्ञानिक ज्ञान उस राष्ट्र विशेष की सम्पत्ति होती है अंतर्राष्ट्रीय सम्पत्ति नहीं। यदि मानव जाति एक हो और आर्थिक क्रियाकलापों का केन्द्र बिन्दु मानवता हो तो कुछ समाधान मिल सकता है। यह दो तरह से संभव है। पहली बात है कि विश्व के सभी आर्थिक साधन समग्र मानव जाति के द्वारा उपयोग में लाये जायें। दूसरी बात है कि रसेल की विश्व सरकार की कल्पना को साकार किया जाये। गांधी कोई स्वप्नदृष्टा नहीं थे। उनका कहना था कि प्रगति की ओर शनैः शनैः बढ़ा जा सकता है। जहाँ तक रसेल के 'विश्व सरकार' का प्रश्न है, उसकी स्थापना के लिए गांधी ने सैनिक शक्ति को समाप्त करने पर बल दिया। आज सभी राष्ट्र सैनिक शक्ति एवं परमाणु शक्ति के बल पर चल रहे हैं। दूसरी मान्यता है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ स्वतंत्र रूप से आर्थिक संबंध रखे। यदि एक देश का दूसरे देश के साथ स्वतंत्र रूप से आर्थिक व्यापारिक एवं तकनीकी ज्ञान का आदान—प्रदान हो तो आर्थिक संरचना में एक विशेष परिवर्तन की संभावना है। आर्थिक साधन या तो राष्ट्र के नियंत्रण में है या मल्टीनेशनल संस्थाओं के हाथों में है। विश्व के कई स्थान ऐसे हैं जहाँ जनसंख्या कम है। कुछ देश ऐसे हैं जो अधिक जनसंख्या के बोझ से दबे हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं

है कि अधिक जनसंख्या वाले देशों का भार दूसरे देशों पर डाल दिया जाये। यदि जनसंख्या का नियंत्रण हो भी जाता है तो गरीबी और विषमता समाप्त नहीं हो सकती।

यह कहना ठीक है कि तृतीय विश्व की समस्याओं के लिए गांधी के विचार समुचित हैं। गरीबी, निरक्षरता, शोषण, अंध-विश्वास, धार्मिक और जातिगत युद्ध, अमानवीय व्यवहार इन सबका उत्तर गांधी-दर्शन में मिलता है। तृतीय विश्व में वर्ग-संघर्ष का कोई नैतिक औचित्य नहीं है। हिंसा और मूल्यहीनता के गर्भ से कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकता है।

समकालीन समाज की ज्वलंत समस्या अलगाव की है। विकसित देशों में अलगाव का बहुत ही प्रचंड रूप है। यह पूंजीपति एवं साम्यवादी दोनों देशों में व्याप्त है। मार्क्स ने जिस अलगाव की बात की है वह कामगार का अपनी उत्पादक वस्तु से अलगाव होना है। मार्क्स ने मानव को उत्पादक और उपभोक्ता माना है। गांधी ने बतलाया है कि मानव का प्रकृति से, मानव का मानव से और मानव का अपने आपसे अलगाव है। अलगाव की समस्या का उत्तर नैतिक मूल्यों की सृजना से मिल सकता है। जब तक नैतिकता और अर्थशास्त्र एक दूसरे से भिन्न रहेंगे तब तक अलगाव की समस्या बनी रहेगी। गांधी एक तरफ पूंजीवादी सभ्यता का तिरस्कार करते हैं और दूसरी तरफ साम्यवादी सरकार के पूर्ण नियंत्रण का भी विरोध करते हैं। दोनों व्यवस्थाओं में कामगार मजदूर को अलगाव झेलना पड़ता है। प्रबंध में मजदूर की भागीदारी न तो पूंजीवादी व्यवस्था में हो पाती है और न ही साम्यवादी व्यवस्था में।

गांधी ने एक तीसरे विकल्प की कल्पना की है। उन्होंने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ट्रस्टीशिप को लोगों ने बहुत गलत ढंग से समझने का प्रयत्न किया है। प्रश्न उठता है कि क्या पूंजीवादी व्यवस्था और साम्यवादी व्यवस्था के अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प है? मेरे विचार में गांधी को छोड़कर किसी ने भी तीसरे विकल्प की कल्पना नहीं की है। गांधी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त इस दिशा में एकमात्र उत्तर है। ट्रस्टीशिप के तीन विकल्प हैं जो गांधी के नैतिक मूल्य विचारों से ओतप्रोत हैं। प्रथम, यह व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्थानान्तरण करता है। दूसरी बात है कि यह एक अहिंसात्मक तरीका है जो अधिक धन संचय से मनुष्य को अलग रखता है। तीसरी विशेषता है कि ट्रस्टीशिप की अर्थव्यवस्था की आधारशिला नैतिकता है।

आश्चर्य की बात है कि इस ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को दूसरे देशों के लोगों ने अपनाया है, किंतु अपने देश में इसकी महत्ता पर बल नहीं दिया गया है। हमारे यहाँ आज भी शताब्दियों पूर्व से चली आ रही पूंजीवादी एवं साम्यवादी अर्थव्यवस्था पर ही विवाद चलता रहता है।

किसी भी आर्थिक समस्या पर जो हम विवाद करते हैं उसका केन्द्र बिन्दु 'समानता' है। गांधी के लिए भी समानता एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। समानता ट्रस्टीशिप की आधारशिला है। गांधी का समानता विचार मार्क्स के समानता विचार से सर्वथा भिन्न है। गांधी का कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन समानता के लिए आवश्यक अवस्था हो सकती है किंतु पूर्ण अवस्था नहीं है। आर्थिक शक्तियों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य शक्तियाँ हैं जो समाज में असमानता उत्पन्न करती हैं। उनकी मान्यता है कि मानव कुछ बातों में समान है और कुछ बातों में असमान। पुनः मानव की आवश्यकता केवल आर्थिक नहीं है, बल्कि कुछ प्राकृतिक, कुछ सामाजिक भी है। आर्थिक समानता आवश्यक है किंतु, अन्य बातों में असमानता रहने पर आर्थिक समानता नहीं रह पाती है। यह विषमता अलगाव उत्पन्न करती है। अतः कोई भी सामाजिक संरचना हो, वह किसी रूप में सामाजिक असमानता पैदा करेगी। इस विषमता को कम करने के लिए नैतिकता ही एकमात्र उपाय है।

गांधी का कहना है कि समाज में व्यवस्था लाने के लिए नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना करनी होगी। यदि राजनीति की आधारशिला नैतिकता नहीं होगी तो राजनीति शक्ति की राजनीति मात्र रह जायेगी। गांधी ने इस खतरे से निपटने के लिए 'नैतिकता धर्म' को प्रस्तावित किया है। गांधी का मत है कि ऐसे व्यक्तियों को जिनका चरित्र अच्छा है, राजनीति में सक्रिय होना चाहिए। कोई सही राजनीति बिना नैतिकता के संभव नहीं है। गांधी का मत है कि आज राजनीति से छुटकारा नहीं मिल सकता है। जो लोग अराजनीतिक दृष्टिकोण रखते हैं या जो राजनीति से उदासीन हैं या जो अपने आप को धोखा दे रहे हैं, या जो संकट देश के सामने है उससे विमुख हो रहे हैं। गांधी ने राजनीति में चरित्रवान व्यक्तियों की महत्ता को माना है। सर्वोदयी कार्यकर्ताओं ने राजनीति से संन्यास ले लिया। वैसे कार्यकर्ता जिनको गांधी ने बड़े परिश्रम से तैयार किया था, वे लोग गांधी की मृत्यु के बाद राजनीति से उदासीन

हो गये। यही कारण है कि वे लोग भारत की पुनर्रचना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं कर पाये। गांधी के विचार में कोई भी रचनात्मक कार्य राजनीति से विमुख होकर नहीं चल सकता है। जिस तरह से कोई भी अच्छी राजनीति बिना रचनात्मक कार्य के संभव नहीं है, उसी प्रकार कोई भी रचनात्मक सामाजिक परिवर्तन का कार्य राजनीति से उदासीन होकर नहीं किया जा सकता है।

गांधी राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण के विरोधी थे। वह केन्द्रीकरण राज्य के हाथों में हो या कुछ राजनेताओं के हाथों में हो, उनका कहना था कि अपार शक्ति मानव को भ्रष्ट बनाती है। उनका यह भी मत था कि शक्तिहीनता भी मनुष्य को भ्रष्ट बनाती है। उनका विचार राजनीतिक शक्ति के संबंध में भावात्मक था। राजनीतिक शक्ति साध्य नहीं बल्कि साधन है।

गांधी ने लोकतंत्र की सीमाओं को भी स्वीकार किया है। लेकिन लोकतंत्र सभी सीमाओं के उपरांत भी एक अच्छी राजनीतिक व्यवस्था है परंतु लोकतंत्र की आधारशिला नैतिकता होनी चाहिए। मार्क्स ने जनता का अर्थ 'एक वर्ग' तक सीमित कर दिया। जनता की शक्ति के बदले मार्क्स ने वर्ग शक्ति की दुहाई दी है। गांधी का लोकतंत्र विचार व्यापक है। इस अर्थ में गांधी मार्क्स से ज्यादा प्रासंगिक दिखते हैं।

कुछ आलोचकों ने गांधी को विकास एवं तकनीकी का विरोधी बतलाया है। यह मत भ्रामक है। गांधी तकनीकी यंत्रवाद के विरोधी थे किंतु तकनीकी विकास के भावात्मक पक्ष के पोषक भी थे। उनका कहना था कि विज्ञान एवं तकनीकी को मानवीय मूल्यों से अलग करके नहीं देखना चाहिए। यदि मानव मशीन बन जाये और मानवता का ह्रास हो जाये या मानव अपने कार्य से, मानवीय रिश्तों से अलगाव महसूस करे, या बेकारी की समस्या से आक्रांत हो जाये, तो ऐसी वैज्ञानिक यंत्रवाद की क्या उपयोगिता है? आज मानव तथा मशीन में असमानता है। यह असमानता मानव को विषम संकट में डाल देती है। प्रकृति का वैज्ञानिक विधियों के माध्यम से पूर्ण शोषण किया जा रहा है। आज मानव और प्रकृति में एक विरोध की स्थिति पैदा हो गई है। मानव का मानव के प्रति दृष्टिकोण दूषित हो गया है। वैज्ञानिक विकास ने विश्व की दूरी को कम किया है, किंतु मनुष्यों के बीच की दूरी बढ़ा दी है। मानव आज मशीन का पुर्जा मात्र बनकर रह गया है। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से उसी प्रकार बदल दिया जाता है, जैसे मशीन के पुर्जे को।

मार्क्सवादी होना आसान है किंतु गांधीवादी होना कठिन है। यह कठिनाई विशेषकर मूल्यपरक व्यवहार के क्षेत्र में स्पष्ट हो जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि समाज में कुछ व्यक्ति सामने उभर कर आये जो नैतिक मूल्यों को जीवन में चरितार्थ करें और समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत करें। यह भी सच है कि पूरा मानव समुदाय नैतिक मूल्यों का वाहक नहीं बन सकता है। सत्याग्रह, असहयोग, सविनय-अवज्ञा, गतिशील और जनता से जुड़ी हुई कार्यवाही है। यह एक आधुनिक विधि है। कुछ आलोचकों ने प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया है। यह सोचने की बात है कि हिंसा से हम सरकार को झुका नहीं सकते। सरकार के पास हिंसा के अत्याधुनिक यंत्र उपलब्ध हैं। गांधी का कहना है कि अहिंसात्मक सत्याग्रह आधुनिक युग में अधिक प्रासंगिक है। सत्याग्रह स्वयं को परिभाषित करने तथा जनमत तैयार करने की एक नयी विधि है। इस तरह गांधीवादी दर्शन का मुख्य आलम्बन सत्याग्रह और अहिंसा है। अहिंसा एक नैतिक शक्ति है। सामाजिक परिवर्तन का कारगर साधन अहिंसा है।

यह सच है कि 1960 के बाद भारतीय राजनीति में आतंकवाद ने जोर पकड़ा। नक्सलवादियों ने तो आतंकवाद को राजनीतिक विधि के रूप में स्वीकार किया है। इस तरह राजनीतिक शक्ति और आतंक में एक संबंध जोड़ दिया। यदि कोई राज्य परमाणु शक्ति को संचित करता है तो यह संस्थागत आतंकवाद का उदाहरण है। गांधी ने आतंकवाद की भर्त्सना की है। क्या आतंकवाद राजनीतिक प्रतिमान बन सकता है? आतंकवाद एक आत्मघाती सिद्धांत है। गांधी जीवन-दर्शन में आतंकवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। इस शताब्दी के आतंकवादी राजनीति तथा त्रस्त्र मानवता के लिए गांधी एकमात्र उत्तर हैं। समकालीन चुनौतियों के लिए गांधी ही एकमात्र प्रासंगिक हैं।

भारतवर्ष में गांधी की मूर्तियां बना दी गई हैं और उनके विचारों को उन मूर्तियों के साथ जड़ बना दिया गया। एक तरफ उनकी पूजा होने लगी और दूसरी तरफ उनके दर्शन एवं विचारों की घोर अवहेलना। गांधी की पूजा आवश्यक नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम गांधी के विचारों का पुनर्मूल्यांकन करें।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. औद्योगीकरण के सम्बन्ध में गांधी के विचारों की व्याख्या करते हुए आधुनिक संदर्भ में महात्मा गांधी के आर्थिक चिंतन की प्रासंगिकता को स्पष्ट करें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सर्वोदय अर्थशास्त्र में यंत्रों के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. शरीर श्रम की अवधारणा को समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गांधीजी ने अहमदाबाद के मजदूरों को कितने घंटे काम करने की सलाह दी थी—
अ. 10 घंटे ब. 12 घंटे स. 11 घंटे द. 14 घंटे
2. किस ग्रंथ में शरीर श्रम को स्वधर्म माना गया है—
अ. गीता ब. बाइबल स. कुरान द. आगम
3. मूल्य का श्रम सिद्धान्त किसने दिया था—
अ. रिकार्डो ने ब. मिल ने
स. महात्मा गांधी ने द. उपरोक्त में से कोई नहीं
4. गांधी के आर्थिक ढांचे की आधारशिला है—
अ. अहिंसा ब. ग्रामोद्योग स. सत्याग्रह द. उपरोक्त सभी
5. गांधी ने प्रतिदिन का यज्ञ किसे माना था?
अ. खादी ब. सफाई स. चरखा द. श्रम
6. पंचायती राज व्यवस्था की कितने स्तर हैं—
अ. दो ब. तीन स. चार द. पांच
7. का मानव संस्कार से सम्बन्ध है।
8. उत्पादन के लिए आवश्यक है।
9. यदि मनुष्य और में स्वावलम्बी हो जाता है तो वह स्वतंत्र हो जाता है।
10. गांधीजी वृत्ति वाली समाज रचना के पक्षधर थे।

इकाई 4

गांधी के राजनैतिक विचारों का आधार

अ. अहिंसा : अर्थ, अवधारणा एवं प्रासंगिकता

ब. सत्य

स. साधन साध्य का सिद्धान्त

द. सत्याग्रह

उद्देश्य

1. गांधी की अहिंसा की अवधारणा को जानना
2. गांधी के राजनैतिक विचारों के आधारों को स्पष्ट करना
3. सत्याग्रह की अवधारणा को समझना

संरचना

1. अहिंसा की अवधारणा
 - 1.1 अहिंसा का स्वरूप
 - 1.1.1 निषेधात्मक अहिंसा
 - 1.1.2 विधायक अहिंसा
 - 1.2 अहिंसा के प्रकार
 - 1.2.1 जागृत अहिंसा
 - 1.2.2 औचित्यपूर्ण या व्यवहारिक अहिंसा
 - 1.2.3 भीरुओं या कायरों की अहिंसा
 - 1.3 अहिंसा की विशेषता
 - 1.4 मानव स्वभाव और अहिंसा
 - 1.5 हिंसा और अहिंसा में सम्बन्ध
 - 1.6 अहिंसा के विविध पक्ष
 - 1.7 अहिंसा की प्रासंगिकता
2. सत्य की अवधारणा
 - 2.1 'सत्य' का अर्थ
 - 2.2 सत्य के प्रकार एवं उनका पारस्परिक संबंध
 - 2.3 सत्य की खोज
 - 2.4 सत्य और अहिंसा में संबंध
 - 2.5 सत्य का महत्व
3. साधन साध्य का सिद्धान्त
 - 3.1 अशुद्ध साधन का परिणाम भी अशुद्ध
 - 3.2 साध्य और साधन में अन्योन्याश्रय संबंध

3.3 साधनों की पवित्रता

4. सत्याग्रह

4.1 सत्याग्रह : अर्थ व दर्शन

4.2 सत्याग्रह की आधारभूत मान्यताएं

4.2.1 नैतिक मान्यता

4.2.2 तात्त्विक मान्यता

4.2.3 मनोवैज्ञानिक मान्यता

4.3 सत्याग्रह की प्रक्रिया

4.3.1 आंदोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया

4.3.2 संघर्ष विधि

4.3.2.1 असहयोग

4.3.2.2 हड़ताल

4.3.2.3 बहिष्कार

4.3.2.4 धरना

4.3.2.5 प्रदर्शन

4.3.2.6 हिजरत

4.3.2.7 सविनय अवज्ञा

4.3.2.8 आत्मपीड़न

4.3.2.9 उपवास

1. अहिंसा की अवधारणा

भारतीय संस्कृति में अहिंसा की अवधारणा प्राचीनकाल से ही विभिन्न रूपों में पल्लवित व विकसित होती रही है। अहिंसा वस्तुतः भारतीय संस्कृतिक धरोहर का प्राणतत्व है, जिसका प्रभाव हमारे दार्शनिक विश्लेषणों, धार्मिक विवेचनों, सामाजिक संगठनों और राजनैतिक क्रियाकलापों में सरलता से देखा जा सकता है। समय-समय पर अनेकानेक महापुरुष बुद्ध, महावीर, नामक, कबीर आदि ने अहिंसा के विभिन्न स्वरूपों का प्रतिपादन किया। आधुनिक युग में गांधीजी अहिंसा के सफलतम प्रयोगकर्ताओं में माने जाते हैं। अहिंसा के विधेयात्मक पहलुओं को उन्होंने विभिन्न धर्म शास्त्रों व मतों से प्रभावित होकर लिया, जिसमें जैन दर्शन का स्थान प्रमुखता से आता है। अहिंसा को सिद्धान्त के धरातल से उठाकर सामाजिक क्षेत्र में व्यवहार के धरातल पर प्रस्तुति इनकी मौलिक देन मानी जा सकती है, जिसको कालान्तर में व्यापक विस्तार मिला। गांधीजी ने अहिंसा के तत्त्वमीमांसीय पक्ष की अपेक्षा नीतिगत पक्ष पर अधिक बल दिया। किन्तु उनका मानना था कि एक पक्ष को पूर्ण-रूपेण समझने के लिए दूसरे पक्ष का पूर्ण ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है। अहिंसा के दार्शनिक स्वरूप को भली प्रकार जानने से ही उसका व्यावहारिक पक्ष सबल बन सकता है।

1.1 अहिंसा का स्वरूप

गांधी का विचार था कि अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। वे अहिंसा और सत्य को परस्परवलम्बी और अभेदमूलक मानते थे। उनके शब्दों में अहिंसा ही ईश्वर का दर्शन करने का सीधा और छोटा मार्ग है। अहिंसा की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि अहिंसा का अर्थ पूर्ण निर्दोषिता ही है। पूर्ण अहिंसा का अर्थ है— प्राणी मात्र के प्रति दुर्भाव का अभाव। वस्तुतः प्राणी मात्र के प्रति दुर्भाव का सर्वथा त्याग ही अहिंसा है। यह दुर्भाव का प्राणियों के प्रति समभाव का निर्वाह करना,

अहिंसा के विधायक स्वरूप का समर्थन करना है। उन्होंने कहा कि आदमी यदि अपने में वह शक्ति पैदा कर ले कि वह शेर, भालू आदि हिंसक पशुओं से भी प्रेम कर सके और बिना हत्या के काम चला सके तो उत्तम है। यहां उन्होंने वनों में साधना करने वाले साधुओं का उदाहरण दिया है। अहिंसा को मानसिक स्थिति मानते हुए उन्होंने निर्देश दिया है कि इस स्थिति को अच्छी तरह समझने की अपेक्षा है। दैनिक जीवन से व्यवहार की वस्तुओं का त्याग करना ही अहिंसा नहीं कही जा सकती। अहिंसा कभी भी मजबूरी अथवा कायरता की पोषक की नहीं बन सकती। यह तो वीरों का धर्म है। उनके ही शब्दों में “कायर व्यक्ति के द्वारा अहिंसा का पालन असंभव है।” वे अहिंसा को जागृत आत्मा का गुण विशेष मानते हैं जिसकी सफल साधना बिना विचार, विवेक, वैराग्य, तपश्चर्या, समता एवं ज्ञान के नहीं हो सकती। यह अंधप्रेम भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अंधप्रेम में अज्ञानता होती है और अज्ञानता हिंसा का कारण है।

गांधी के अनुसार सत्य की तरह अहिंसा श्रद्धा और अनुभूति का विषय है और एक सीमा के बाद तर्क का विषय नहीं है। अहिंसा जितनी मन और बुद्धि की बात नहीं है उतनी हृदय और आत्मा का गुण है। अहिंसा के सफल प्रयोग के लिये प्रेममय ईश्वर तथा शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व में विश्वास आवश्यक है। गांधी के अनुसार प्रेम अहिंसा का दूसरा नाम है। वास्तव में प्रेम के रूप में अहिंसा सभी गुणों की जननी है। सत्य को ईश्वर के रूप में जानने का एक मात्र साधन प्रेम था अहिंसा ही है। विश्व का संचालन भी इसी अहिंसा या प्रेम के द्वारा होता है। जहां प्रेम है वहीं जीवन है। घृणा या हिंसा विनाश की ओर ले जाती है। अहिंसा सर्वकालीन व सर्वव्यापक नियम है जिसका जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में बिना किसी अपवाद के प्रयोग हो सकता है गांधी कहते हैं कि अहिंसा की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि जब हम उसे अपने जीवन नियम के रूप में स्वीकारे तो उसका प्रयोग जीवन के केवल विशेष कार्यों तक ही सीमित न करे बल्कि प्रत्येक क्षेत्र व कार्य अहिंसा पर आधारित हो। क्योंकि जब हम एक बार भी अहिंसा में हिंसा का समावेश करते हैं तो हम स्वयं नैतिक नियम के रूप में अहिंसा का निषेध करते हैं। इस प्रकार केवल अहिंसा की महत्वपूर्ण शक्ति है।

गांधी ने अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या न कर उसे हिंसा की तरह संगठित किया तथा सभी को बताया कि अहिंसक केवल व्यक्तिगत गुण ही नहीं, अपितु ऐसा गुण है जिसका सामुहिक व सामाजिक उपयोग हो। गांधी ने बताया कि अहिंसा से समाज परिष्कृत होता है, युद्ध को रोका जा सकता है और मानव संस्कृति को सुरम्य बनाया जा सकता है। गांधी का विश्वास था कि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक समस्याओं का समाधान अहिंसा द्वारा ही संभव है। अहिंसात्मक उपायों द्वारा ही उनका स्थायी हल प्राप्त किया जा सकता है। गांधी ने अहिंसा के मुख्यतः दो रूपों (अ) निषेधात्मक (ब) विधेयात्मक की चर्चा की।

1.1.1 निषेधात्मक अहिंसा

निषेधात्मक अहिंसा का तात्पर्य है, किसी जीव की दुर्भावना से, क्रोध, स्वार्थवश या चोट पहुंचाने के इरादे से दुख न देना और न उसकी जान लेना। अर्थात् पृथ्वी के किसी जीव को मन, वचन, कर्म से चोट पहुंचाने से बचना। गांधी ने निषेधात्मक अहिंसा के दो रूप बतलाये हैं— सूक्ष्म अहिंसा व स्थूल या बाह्य अहिंसा। सूक्ष्म या आंतरिक अहिंसा के अन्तर्गत व्यक्ति में अक्रोध, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, आस्वाद, अपीड़न तथा दूसरे जीव को मन, वचन, कर्म से पीड़ा न देने के विचारों को समाहित किया जाता है। वहीं इन विचारों को क्रियान्विति देना स्थूल या बाह्य अहिंसा कहलाती है। गांधी ने कहा कि निषेधात्मक रूप से अहिंसक रहने के लिये यह भी आवश्यक है कि हमारे विचार उस व्यक्ति के बारे में भी अनुदान न हो जो हमारा शत्रु हो।

1.1.2 विधायक अहिंसा

अक्सर भ्रम से अहिंसा केवल निषेधात्मक मान ली जाती है। गांधी के अनुसार अहिंसा आवश्यक रूप में विधायक और गत्यात्मक शक्ति है, और विधायक और क्रियात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है— प्रेम का विस्तारीकरण, मैत्रीभाव की जागृती, दया भाव का उदय तथा इन सब का आचरण। यह प्रेम केवल मनुष्यों के लिये ही नहीं, बल्कि समस्त सृष्टि के लिये है, फूलों, पौधों, हानिकारक कीड़ों और जानवरों के लिये भी। इस प्रकार क्रियात्मक रूप में अहिंसा सब जीवों प्रति सद्भावना है।

प्रसिद्ध गांधीवादी प्रो. एस.एन. तिवारी ने अपनी पुस्तक 'गांधी दर्शन' में लिखा है "अहिंसा का अर्थ करुणा, मानवता, पौरुष, भद्रता, सरलता, शांति, हृदय की विशालता, दया, मैत्री, सेवा, त्याग, आत्मपीड़न, आस्था, विवेक, पवित्रता, विनम्रता, क्षमा, सहिष्णुता एवं सत्यवादिता है।" गांधी के अनुसार विधायक अहिंसा की पुष्टि सभी जीवों के साथ एकता की अनुभूति में होती है। उन लोगों से भी प्रेम करना जो आपसे घृणा करते हैं, जिन पर आप विश्वास नहीं करते। इस प्रकार विधायक अहिंसा का अर्थ है— अधिक से अधिक प्रेम करना बुराई करने वाले के प्रति भी प्रेम।

निरपेक्ष अहिंसा का तात्पर्य है हिंसा से पूर्ण मुक्ति। निरपेक्ष अहिंसा के दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रकार की हिंसा त्याज्य है। यह अहिंसा की पूर्णता की स्थिति है, जो तभी संभव है जब मन, वचन, कर्म में पूर्ण अन्वय हो। इस प्रकार की अहिंसा केवल ईश्वर का गुण है। अपूर्ण मनुष्य जिस प्रकार पूर्ण निरपेक्ष सत्य को नहीं जान सकता, उसी प्रकार निरपेक्ष अहिंसा को भी जान सकता, और न उसे व्यवहार में उतार सकता है। गांधी के अनुसार सभी जीवों की एकता होने से समाज में जो भी हिंसा होती है उसके उत्तरदायित्व में समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का भाग है। इसके अतिरिक्त जीवन विनाश मनुष्य हिंसा से पूर्णतः मुक्त नहीं रह सकता है। खाने-पीते रहने, घूमने, फिरने, आत्मरक्षा के है। गांधी के अनुसार यह मनुष्य की अपूर्णता के कारण है। ये जीवन के सर्वोच्च नियम के रूप में अहिंसा की मान्यता को अप्रमाणित करने वाले अपवाद नहीं हैं। जितना ही मनुष्य पूर्णता की ओर अग्रसर होगा, उतना ही संकटपूर्णता परिस्थितियों में अहिंसा की व्यावहारिक पद्धति का ज्ञान बढ़ेगा तथा हिंसात्मक युक्तियों के प्रयोग की आवश्यकता कम होगी।

यदि मनुष्य को सच्चा अहिंसावादी है तो यह आवश्यक है कि जो अनिवार्य हिंसा उसे करनी पड़े वह स्वाभाविक हो, कम से कम हो, उसकी जड़ में दया हो और उसके पीछे विवेक, नियंत्रण और अनासक्ति हो।

1.2 अहिंसा के प्रकार

नैतिक दृष्टिकोण से गांधी ने अहिंसा के तीन प्रकार का स्तर बताया है—

1.2.1 जागृत अहिंसा

यह अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। यह साधन सम्पन्न या वीरो की अहिंसा है। इस अहिंसा को मनुष्य संकट में आवश्यकता से विवश होकर नहीं, अपितु नैतिकता पर आधारित आन्तरिक विश्वास के कारण ग्रहण करता है। यह अहिंसा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है। ऐसी अहिंसा स्वार्थयुक्त व हानि-लाभ पर आधारित नहीं होती है। यह किसी भी परिस्थिति में न झुकती है न मुंह मोड़ती है। जो लोग अहिंसा को जीवित नियम के रूप में स्वीकार कर लेते हैं वे संकटमय संघर्ष में भी मानवीयता एकता और भ्रातृत्व की भावना को नहीं छोड़ते हैं। इन मनुष्यों में हिंसक प्रतिकार की भी पूर्ण क्षमता होती है, किन्तु अहिंसा में अपने अटूट विश्वास के कारण वे हिंसा का कभी सहारा नहीं लेते।

1.2.2 औचित्यपूर्ण या व्यवहारिक अहिंसा

अहिंसा के इस रूप को जीवन के क्षेत्र में किसी विशेष आवश्यकता पड़ने पर, औचित्यानुसार एक नीति के रूप में अपनाया जाता है। गांधी जी इस अहिंसा को 'निर्बलों की अहिंसा' या निष्क्रिय प्रतिरोध कहते थे। इसमें नैतिक विश्वास के कारण नहीं, निर्बलता के कारण हिंसा का प्रयोग किया जाता है। फिर भी उसे यदि ईमानदारी साहस, और सावधानीपूर्वक एक नीति के रूप में अपनाया जाए तो इसमें कुछ सीमा तक वांछित लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। लेकिन यह जागृत अहिंसा के समान प्रभावशाली नहीं होती।

1.2.3 भीरुओं या कायरों की अहिंसा

कई बार डरपोक और कायर व्यक्ति भी अहिंसक होने का दंभ भरते हैं, किन्तु उनकी यह प्रवृत्ति अहिंसा की नहीं कायरता या डरपोक व्यक्तियों की निष्क्रिय हिंसा कहलाती है। इसमें व्यक्ति डर के कारण संकट का सामना करने के बजाय उससे भाग जाता है तो नितांत अमानवीय व असम्मानजनक है। गांधी के शब्दों में "कायरता और अहिंसा पानी और आग के समान साथ नहीं रह सकते। गांधी के अनुसार अहिंसा वीरों का गुण है अपनी कायरता को अहिंसा की ओट में छिपाना निंदनीय व घृणित है।

कायरता व हिंसा में से गांधी हिंसा को उपयुक्त मानते हैं और कहते हैं कि “यदि हमारे हृदय में हिंसा भरी है तो हम अपनी कमचोरी को छिपाने के लिये अहिंसा का आवरण पहने, इससे हिंसक होना अधिक अच्छा है।

1.3 अहिंसा की विशेषता

अहिंसा सर्वदा समभाव से सभी के लिए लाभदायक है, जिससे स्वाभिमान और सम्मान की भावना की रक्षा होती है। वह मात्र व्यक्ति के लिए ही उपयोगी नहीं है, वरन् समस्त विश्व के लिए उपयोगी है। गांधीजी अहिंसा को रूढ़ीवाद व उपयोगितावाद से दूर समझते थे। रूढ़ीवाद मनुष्य को विवेक प्रदान नहीं करता और उपयोगितावाद मनुष्य को लोलुप बना डालता है। अहिंसा एक ऐसी शुद्ध मानसिक स्थिति है, जिसकी प्राप्ति से मनुष्य सभी प्राणियों के प्रति सद्भाव तथा अनुकम्पा भाव रखता है। गांधी ने दया और अनुकम्पा को अहिंसा ही कहा है, लेकिन दोनों में अन्तर भी बताया है। उनकी दृष्टि में आत्मा में पैदा होने वाला विशिष्ट भाव अहिंसा है। लेकिन दया और अनुकम्पा व्यवहारजन्य भाव हैं। अनिवार्य हिंसा के संदर्भ में वे इसकी व्याख्या को क्षेत्र, काल व पात्र में परिवर्तन के आधार पर लगभग असंभव मानते थे। यज्ञ और अहिंसा के सन्दर्भ में उनकी मान्यता थी कि हिंसा किसी भी समय अथवा परिस्थिति अथवा प्रयोजन से की जाए तो, सर्वथा वह हिंसा ही होगी।

अहिंसा को भावात्मक रूप से प्रेम समझते हुए उनका मानना था कि प्रेम के माध्यम से ही व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थ को छोड़ता जाता है। इस ईश्वरीय गुण के बिना व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थों में ही लीन रहता है। जो शक्ति प्रेम में है, वह किसी और में नहीं। इसलिए जो काम बड़े से बड़े तर्क और बल से नहीं हो सकते, वह सहज ही प्रेम के द्वारा सिद्ध हो सकता है। अपने मानव-बन्धुओं के प्रति हमारे कर्तव्य के मूल में भी प्रेम ही है। प्रेम-भावना के कारण हमारा कर्तव्य पालन भी सुखद हो जाता है। प्रेम का हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश है।

अहिंसा की विशेषता के संदर्भ में गांधी की मूलधारणा यह है—

- **अहिंसा मानवीय जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति** — गांधी का विचार है कि हिंसा नहीं, अहिंसा ही मानवीय जीवन की स्वाभाविक है, प्रवृत्ति है। अज्ञान, असत्य, और क्रोध के वशीभूत होकर व्यक्ति हिंसक आचरण अपना सकता लेकिन यह नितांत अस्थायी स्थिति है। विवेक व चेतना के जागृत होने पर वह अहिंसा को ही अपनाएगा।
- **अहिंसा हिंसा की तुलना में अधिक प्रभावाकारी** — गांधी की दृढ़ मान्यता है कि अहिंसा हिंसा की तुलना में नैतिक व व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ है। अहिंसा निरपवाद रूप से श्रेष्ठ है। अहिंसक व्यक्ति की शक्ति हिंसक व्यवहार की तुलना में अधिक होती है। अहिंसा की शक्ति व्यक्ति की अहिंसक व्यवहार करने की योग्यता पर निर्भर होती है उसकी इच्छा अनुपात पर नहीं। इस प्रकार अहिंसा की शक्ति श्रेष्ठ व सर्वोच्च है।
- **अहिंसा की सफलता सुनिश्चित** — अहिंसक मार्ग में सफलता प्राप्त करने में समय लग सकता है, लेकिन सफलता सुनिश्चित है। क्योंकि हिंसा की परीणिती निश्चय ही पराजय है। अहिंसक को कोई भौतिक बल या संख्या बल नहीं झुका सकता है।

1.4 मानव स्वभाव और अहिंसा

गांधी जी ने दर्शन, अनुभव एवं इतिहास के आधार पर बताया है कि मानव मूलतः अहिंसा प्रिय प्राणी है। मानव में ईश्वर का अंश मौजूद है और इसलिये वह हिंसा की जीवन-विरोधी प्रवृत्ति की तुलना में अहिंसा की जीवन-रक्षक प्रवृत्ति को पसंद करता है। अनुभव बताता है कि मानव काम, क्रोध, द्वेष आदि आवेगों से प्रभावित होकर हिंसक आचरण कर सकता है, किन्तु जैसे ही वह अपनी सहज अवस्था में लौटता है उसका अन्तःकरण तथा विवेक उसे अहिंसा अपनाने के लिये प्रेरित करते हैं। गांधी जी का कथन है कि “अहिंसा हमारी प्रजाति का शाश्वत नियम है जबकि हिंसा पशुओं का विषय है। पशुओं में आत्मा छुपी रहती है और वे भौतिक शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते हैं। व्यक्ति का सदविवेक व्यक्ति को एक उच्च नियम आत्मा के संघर्ष को मानने हेतु बाध्य करता है। अहिंसा एक ऐसा आदर्श है जिसकी ओर व्यक्ति प्राकृतिक रूप से बिना इच्छा किये ही चलता जाता है।

गांधी जी का मत है कि मानव समाज के विकास का इतिहास यही बताता है कि मानव की मूल प्रवृत्ति अहिंसा ही है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण ही मानव ने नर-भक्षण के दोष से मुक्ति पायी है, मांसाहार से शाकाहार की ओर बढ़ा है और शिकार के स्थान पर कृषि पर निर्भर हुआ है। वस्तुतः प्रारम्भिक कलीबाई संगठनों से लेकर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तक मानव सभ्यता को जो विकास हुआ है उसके पीछे मानव की अहिंसक प्रवृत्ति ही सक्रिय रही है।

1.5 हिंसा और अहिंसा में सम्बन्ध

गांधी कहते हैं कि संसार प्रायः भ्रम से हिंसा को वास्तविक शक्ति मान लेता है, और बुराइयों को दूर करने के लिये उसे अनिवार्य समझता है। कुछ अंश तक इसका कारण है कि स्वाभाविक होने के कारण अहिंसा की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं होता, लेकिन प्रकृति के क्रम में बाधक होने के कारण हिंसा ध्यान आकृष्ट करती है। प्रेम से हजारों झगड़े मिट जाते हैं, लेकिन इतिहास उसका उल्लेख नहीं करता, परन्तु यदि दो भाई आपस में हथियारों से लड़े तो इतिहास उसका उल्लेख जरूर करेगा। गांधी के अनुसार अहिंसक मनुष्य का अस्त्र उसका आत्मबल होता है, जो दृश्य नहीं होता, इसलिये उसकी बातें व कार्य प्रभावहीन प्रतीत होते हैं, जबकि हिंसा पशुबल पर आधारित होती है, उसके शस्त्र और प्रभाव दृश्य होते हैं, और जनता धोखे में आ जाती है व उस पर हिंसा का जादु चल जाता है। वास्तव में अहिंसा अधिक क्रियात्मक शक्ति है। वह अपने कार्य कर सकती है। हिंसा के लिये उसके अपने अस्त्र-शस्त्र कुछ समय के लिये तो रखने पड़ते हैं लेकिन अहिंसा व सत्य का युद्ध अनवरत रूप से सक्रिय रहता है। उसे प्रचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। अहिंसक व्यक्ति की आत्मशक्ति का प्रभाव विरोधी व्यक्ति पर अनजाने में पड़ता है और ऐसा प्रभाव हिंसक बल के प्रभाव से कहीं अधिक होता है। अहिंसा में असफलता जैसा कुछ भी नहीं है, जबकि हिंसा का अन्त निश्चित ही पराजय है क्योंकि घृणा सदा मारती है, जबकि प्रेम कभी नहीं मारता। अहिंसा से प्राप्त हुआ हमेशा हमारे पास रहता है। यह सिर्फ ऋषि-मुनियों का गुण नहीं है, बल्कि स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी इसका प्रयोग व्यवहारिक रूप से कर सकते हैं। इस प्रकार अहिंसा हिंसा से निरपवाद रूप से श्रेष्ठ है। अपने सच्चे स्वरूप में अहिंसा दिव्यभाव, विचार, क्रिया और व्यवस्था का अखंड रूप है। शुद्ध भाव के बिना शुद्ध विचार उत्पन्न नहीं हो सकता, शुद्ध विचार के बिना उत्तम व्यवहार नहीं हो सकता और उत्तम आचरण के बिना उत्तम समाज व्यवस्था एक दिवास्वप्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

1.6 अहिंसा के विविध पक्ष

गांधी के अनुसार अहिंसा कोई ईश्वरीय वस्तु नहीं है। वरन् यह तो मानव व्यक्तित्व का गुण है। व्यक्तित्व के आत्मिक व शारीरिक दो पक्ष होते हैं। अहिंसा का संबंध आत्मिक पक्ष से है जो अन्ततः परम सत्ता से जुड़ा रहता है। अहिंसाशास्त्र में इसे एक मानसिक अवस्था के रूप में स्वीकारा गया है। विभिन्न दर्शनों में मतों में भी अहिंसा के मानसिक व आंतरिक पक्ष को महत्त्व दिया गया है। जैन दर्शन में भी कहा गया है कि 'प्राणघात हिंसा नहीं है बल्कि राग-द्वेष आदि भाव हिंसा है। और पर घात न होने पर भी मन में हिंसा का भाव रखना हिंसा ही है। इसी प्रकार विनोबा के अनुसार अहिंसा के संदर्भ में भी विचारों का संतुलन कायम रखने और बुद्धि की समता न डिगने देने का नाम अहिंसा है। गांधी भी जैन दर्शन से प्रभावित होने के कारण अहिंसा के मानसिक पक्ष को स्वीकारते थे।

अहिंसा का भाव या विचार तो मन में उत्पन्न होता है लेकिन इसका प्रकटीकरण मनुष्य के व्यवहार में होता है। गांधी जीवोन्मुख विकासशील अहिंसा में विश्वास करते थे। वह इस पर नये-नये अनुसंधान करते रहे और जीवन को अहिंसा की तरफ मोड़ने का हर संभव प्रयास करते रहे। व्यावहारिक आदर्शवादी गांधी मानते थे कि अहिंसक विचार होने पर भी अहिंसक व्यवहार हो यह आवश्यक नहीं है। दुरुहर्पूर्ण परिस्थितियों में अहिंसक विचार रहने पर भी हिंसक व्यवहार अपनाना पड़ता है। जब अहिंसा के नाम पर मानव अस्तित्व ही असंभव हो जाए तो अहिंसा किसी काम की नहीं है। उनके अनुसार मानव अपनी गरिमा व मर्यादा के अनुसार अहिंसक व्यवहार की सीमा तय करने के लिये स्वतंत्र है। गांधी कहते थे कि अहिंसक व्यवहार व्यक्ति, समूह, संस्था या किसी के भी द्वारा किया जा सकता है। सुविधा की दृष्टि से गांधी ने इसे तीन भागों में विभक्त किया है—

- अहिंसक भावात्मक मूल्यों के अनुरूप आचरण

- प्रतिकारात्मक व्यवहार
- रचनात्मक कार्यक्रम

भावात्मक मूल्यों के अनुरूप आचरण के अन्तर्गत सहयोग, करुणा, दान, सेवा आदि किये जा सकते हैं। प्रतिकारात्मक कार्य के अन्तर्गत अहिंसक प्रतिरोध व संघर्ष का कार्य आता है, जैसे— असहयोग, सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह आदि। तथा रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत व्यक्ति व संस्था का हृदय जीतकर उनका समर्थन प्राप्त किया जाता है तथा समाज में आवश्यक व उपयोगी रचनात्मक कार्यक्रमों का संपादन किया जाता है, जिससे भविष्य में अहिंसक समाज व्यवस्था के निर्माण में सहायता मिलती है।

गांधी की अहिंसा कोई आपद धर्म या दर्शन नहीं है, बल्कि चिंतन और व्यवहार की ऐसी प्रक्रिया है जिससे अधिकतम समता, न्याय, स्वतंत्रता व अशोषण पर आधारित समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार गांधी की अहिंसा विचार भावक्रिया, शक्ति के अतिरिक्त व्यवस्था विशेष की सूचक है जिसे अहिंसक समाज की संज्ञा दी जा सकती है। अहिंसक समाज ऐसी व्यवस्था विशेष का नाम है जिसमें शोषण, कलह, परतंत्रता का अभाव रहता है तथा जिसमें सभी के आपसी संबंध प्रेम व आपसी सहयोग पर आधारित होते हैं। इस व्यवस्था में सिद्धान्त विहीन राजनीति, श्रम रहित धन, विवेक रहित भोग, नैतिकताशून्य व्यवसाय तथा मानवरहित विज्ञान के लिये कोई स्थान नहीं होता।

गांधी के अनुसार व्यवस्थामूलक अहिंसा के तीन पक्ष हैं—

- आर्थिक
- राजनैतिक
- सामाजिक

अहिंसा के आर्थिक स्वरूप की चर्चा करते हुए गांधी कहते हैं कि जो बात शुद्ध अहिंसा व नैतिकता के विरुद्ध हो, वह अर्थशास्त्र नहीं हो सकता है। अर्थशास्त्र में अहिंसा घाटे का व्यापार नहीं है। इस सन्दर्भ में गांधी के स्वदेशी का प्रचार किया, खादी का आह्वान किया तथा आवश्यकताओं के सीमाकरण व विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया।

सामाजिक परिपेक्ष्य में गांधी के अस्पृश्यता की निन्दा की व उसे समाज के लिये कलंक माना। राजनैतिक स्वरूप में गांधी का अहिंसा का विचार विकेन्द्रित सत्ता व सत्याग्रह के रूप में प्रतिबिंबित हुआ, जिसमें व्यक्ति स्वयं कष्ट सहन करके गलती करने वाले का हृदय परिवर्तन कर उसे सुधारने का प्रयास करता है। ऐसी व्यवस्था को उन्होंने सर्वोदय समाज की संज्ञा प्रदान की।

अहिंसा की सफलता के लिए गांधी जी ने निम्न आधार प्रस्तुत किये हैं—

- अहिंसा मानव प्रजाति का नियम है और हर दृष्टि से पाशविक शक्ति से श्रेष्ठ है।
- अहिंसा से आत्मसम्मान और गौरव की रक्षा होती है।
- प्रेमी—रूपी ईश्वर में विश्वास नहीं रखने वालों को अहिंसा की उपलब्धियां प्राप्त नहीं होती।
- व्यक्ति अथवा राष्ट्र को अहिंसा के प्रयोग में सम्मान के अलावा अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहना चाहिये।
- ईश्वर तथा प्रेम में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति चाहे वह बालक, युवा, स्त्री अथवा वृद्ध ही क्यों न हो, अहिंसा रूपी शक्ति से युक्त होता है।
- यह मानना सर्वथा भ्रामक है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए लाभकारी है, मानव समुदाय के लिए नहीं।

गांधी जी अहिंसा के व्यक्तिगत तथा सामुहिक प्रयोग को तथा इस भावना के उत्तरोत्तर विकास को संभव मानते थे। कालान्तर में अपने जीवन में प्रयोगों तथा नेतृत्व के माध्यम से इसे सिद्ध भी किया और जीवन से जुड़ी विभिन्न समस्याओं का अहिंसक सम्मानजनक समाधान प्रस्तुत किया। वस्तुतः आज भी अहिंसा उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी पूर्व में थी। वास्तव में इसके प्रयोग की अपेक्षा तुलनात्मक

दृष्टि से वर्तमान में अधिक है। आवश्यकता केवल इसके पक्ष को समझने तथा अपनी वृत्तियों में सुधार की है।

1.7 अहिंसा की प्रासंगिकता

आइंस्टीन ने जब महात्मा गांधी के अद्भुत व्यक्तित्व के बारे में ह कहा था कि आने वाली पीढ़ियां कभी विश्वास ही नहीं कर पायेंगी कि हाड़-मांस का बना कोई ऐसा मनुष्य इस धरती पर पैदा हुआ था, तब वे भारतभूमि में पैदा हुए सदी के इस महानतम व्यक्ति के नाम कोई औपचारिक श्रद्धांजलि नहीं दे रहे थे, बल्कि विचलित-चकित भाव से गांधी के उन अलौकिक गुणों का बखान कर रहे थे, जो मनुष्य में प्रायः देखने को नहीं मिलते। कैसे एक सर्वशक्तिमान तानाशाही हुकूमत की बंदूकों को शत-प्रतिशत अहिंसक तरीके से शांत कर दिया जा सकता है, इसका सफल प्रयोग इस दुनिया में कोई कर पाया है, तो उस व्यक्ति का नाम है महात्मा गांधी। इस अहिंसक मिशन में गांधी को देश की सम्पूर्ण जनता का एक ऐसा अनिर्वचनीय समर्थन और सहयोग मिला कि जिसकी कल्पना करना भी दुनिया के बड़े से बड़े नेता के लिए ईर्ष्या पैदा कर सकता है।

16 जून, 2007 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने महात्मा गांधी के जन्मदिवस (2 अक्टूबर) को 'अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस' घोषित किया। भारत ने इसके लिए 192 सदस्यों वाली संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में प्रस्ताव पेश किया था। 137 सदस्य देश भारत के इस प्रस्ताव के सह-प्रस्तावक थे। इस पर कोई मतदान कराने की जरूरत नहीं पड़ी। इसे बिना मतदान के ही मंजूर मान लिया गया। गांधीजी की स्वीकार्यता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि उनकी जयंती को अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस घोषित किये जाने के भारत के प्रस्ताव में संयुक्त राष्ट्र के एक-तिहाई से अधिक सदस्य देश सहभागी बन गये। अर्थात् संयुक्त राष्ट्र में इस पेशकश को हाथोंहाथ लिया गया।

गांधीजी के जन्मदिवस को अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस के तौर पर मनाये जाने के संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि आज से करीब साढ़े तीन वर्ष पहले पेरिस (फ्रांस) के इंटरनेशनल स्कूल के बच्चों ने एक प्रस्ताव पारित किया था। इसमें यह कहा गया था कि गांधीजी के जन्मदिवस को अहिंसा दिवस के रूप में मनाया जाये। उस वक्त पेरिस के इंटरनेशनल स्कूल के विद्यार्थियों ने इस प्रस्ताव को बाकायदा एक बयान का रूप दिया। इस बयान और प्रस्ताव को लेकर उनके अध्यापक अक्षय्य बकाया 2004 के वर्ल्ड सोशल फोरम में मुंबई पहुंचे। वहां ईरान की मानवाधिकार कार्यकर्ता शीरीं इबादी ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। उधर पेरिस के उन बच्चों ने 30 जनवरी, 2004 को पेरिस में अपने ढंग से विश्व अहिंसा दिवस मनाया, जिसमें छोटे-छोटे कार्यक्रम और प्रतीकात्मक गतिविधियां शामिल थीं। शीरीं इबादी ने पेरिस के इन बच्चों और उनके अध्यापक अक्षय्य बकाया का यह निमंत्रण कि विश्व अहिंसा दिवस तीस जनवरी को मनाया जाये, स्वीकार करने की अपील की।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा बापू के जन्मदिन को अहिंसा दिवस के रूप में मनाये जाने की घोषणा उनकी प्रासंगिकता पर उठाये जा रहे सवालों पर पूर्ण विराम है। अब सारे लोग महसूस कर रहे हैं कि उनकी विचारधारा ही हमारे दौर में शांति हासिल करने का सबसे बेहतर विकल्प है। वैसे ऐसा नहीं है कि कल कोई बापू को प्रासंगिक नहीं मानता था, लेकिन संयुक्त राष्ट्र के नये कदम से ऐसा लग रहा है कि विश्व आधिकारिक रूप से उनकी सोच को मान्यता दे रहा है। आज हम आतंकवाद, युद्ध के खतरे, शक्तिशाली देशों की धाक, धार्मिक कट्टरतावाद, पर्यावरण असंतुलन व ऐसी आर्थिक व्यवस्था में जी रहे हैं, जिसमें आर्थिक-सामाजिक असमानता बढ़ रही है। विश्व की आबादी का एक बड़ा हिस्सा या तो गरीबी व तंगहाली में है या हिंसा से ग्रस्त। ऐसी स्थिति से बच निकलने के लिए गांधी के विचार को मशाल बनाने की जरूरत है। जो लोग अब तक इस भ्रम में थे कि गांधी की इकोनॉमिक पॉलिसी या अहिंसा विश्व को सही रास्ता दिखाने के काबिल नहीं हैं, उन्हें फिर से विचार करना चाहिए। समस्या के समाधान के लिए अक्सर अहिंसक और उग्र प्रतिक्रियावादी रास्ते पर चलने की बात करने वाले विश्व नेताओं को अब उनके दर्शन से सीख लेने की जरूरत है। 2 अक्टूबर को सिर्फ प्रतीकात्मक रूप से अहिंसा दिवस मनाने से काम नहीं चलेगा, बल्कि हिंसा की काट प्रतिहिंसा नहीं, प्रेम है इसे शिद्धत से समझना होगा। प्रेम के कठिन व्रत पर टिका उनका जीवन अनुकरणीय है। फिर विचार व कर्म के बीच कोई दूरी न हो, यह हमें उनसे सीखना होगा। सरकारी दमन के बीच जो तरीका गांधी ने अपनाया था,

वह तमाम प्रतिक्रियावादियों के लिए बेहतर रास्ता हो सकता है। अगर चाहें तो उनके दर्शन का लाभ शक्ति के मद में चूर देश भी उठा सकते हैं।

अहिंसा गांधीजी के लिए हिंसा का निषेध मात्र नहीं था, वह एक जीवन पद्धति थी। एक ऐसी जीवन पद्धति जीवन को सुखमय व सचमुच का जीवन बना सके। वे अहिंसा को किसी कमजोरी से पैदा हुई विवशता नहीं मानते थे, बल्कि मनुष्य होने की आवश्यकता व पहचान के रूप में लेते थे। चीजों को देखने के उनके तरीके अलग थे। वे कहा करते थे कि अस्पतालों का खुलना अच्छी व्यवस्था या उत्तम स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है, बल्कि अच्छी व्यवस्था यह है कि किसी को अस्पताल जाने की जरूरत ही न पड़े। जाहिर है, ऐसी सोच आज पूरे विश्व में कहीं के भी नीति निर्धारकों के पास नहीं है और शायद इसलिए हम कह सकते हैं कि आज विश्व बेहतर माहौल में नहीं है।

गांधीजी के जन्मदिन को विश्व अहिंसा दिवस के रूप में मनाते समय याद रखना चाहिए कि गांधीजी के लिए अहिंसा अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने का बहाना नहीं था। उनके अनुसार अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था 'आसुरी व्यवस्था' है, जिसे बदला जाना चाहिए। ऐसे बदलाव और बदले के बीच, परिवर्तन और प्रतिशोध के बीच फर्क करना गांधीजी के विचार और कर्म का मूल प्रस्थान था। इसी प्रस्थान से वे जनरल डायर का नागरिक अभिनंदन करने वाले अंग्रेजों को संबोधित करते हुये लिख सकते थे कि 'यदि जनरल डायर बीमार पड़ जाये तो मैं एक नर्स की तरह उनकी सेवा करने को प्रस्तुत हूँ। लेकिन, जो उन्होंने अमृतसर में किया, उस पर मोहर लगाने वाले न तो सच्चे इसाइयों की तरह व्यवहार कर रहे हैं, न सच्चे लोकतांत्रिक नागरिकों की तरह।' अन्याय के नकार के प्रस्थान से ही गांधीजी कह सकते थे कि यदि चुनाव कायरता और हिंस के ही बीच तक सीमित रह जाये, तो हिंस का वर्ण श्रेयस्कर है।

असल में, गांधीजी की अहिंसा दृष्टि का सबसे विचारोत्तेजक और प्रेरक पक्ष यही है कि वह कायरता और हिंसा तक सीमित कर दिये गये चुनाव के परे जाने के साहस और संभावना को व्यक्त करती है। अन्याय से प्रतिवाद की इच्छा और मनुष्यों के प्रति प्रतिशोध की भावना के बीच बुनियादी फर्क करती है। अन्यायपूर्ण स्थितियों का तात्कालिक प्रतिवाद करते हुए ही गांधीजी अन्यायपूर्ण व्यवस्था के मूल तत्वों को समझाने का प्रयास करते हैं। 'कांपिलक्ट रिजोल्यूशन' गांधीजी का भी एजेंडा है। बल्कि, बहुत गहरे में यही उनका एजेंडा है। फर्क यह है कि गांधीजी समझते और समझाते हैं कि 'कांपिलक्ट' रोग नहीं, रोग का लक्षण मात्र है। लक्षणपरक उपचार की अपनी महत्ता है, लेकिन रोगमुक्त तो ऐसे उपचार तक ही सीमित रहकर संभव नहीं है। गांधीजी अन्याय रोग का जो निदान करते हैं, उस निदान से, औद्योगीकरण मात्रा की मूलभूत आलोचना से सहमत हुए बिना भी यह तो माना ही जा सकता है कि जरूरत एक वैकल्पिक विश्व व्यवस्था की है। इस अंधविश्वास से तो मुक्ति पायी ही जा सकती है कि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद पर आधारित विश्व व्यवस्था के पहले कोई विश्व व्यवस्था थी ही नहीं। इस बात पर ध्यान तो दिया ही जा सकता है कि पूंजीवाद के पहले भी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक-राजनीतिक संबंधों का अनुशासन करने वाली विश्व व्यवस्थाएं रही हैं। और इन बातों को ध्यान में रखते हुए भविष्य के लिए वैकल्पिक विश्व व्यवस्था की कल्पना भी की जा सकती है।

विश्व अहिंसा दिवस मनाते समय उपरोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, ताकि गांधीजी की मूलगामी दृष्टि की भावना सुरक्षित रह सके। उन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अहिंसा-बोध के प्रतीक के रूप में रेखांकित और जीवंत प्रतिमा बनें, निर्जीव और जड़ प्रतीक नहीं।

गांधीजी के हवाले से विश्व अहिंसा दिवस मनाते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि गांधीजी हमारा ध्यान केवल 'बुरी', 'अनैतिक और अस्वीकार्य' हिंसा की ओर नहीं ले जाते। जो हिंसा हमारे पक्ष की ओर से नहीं है, इसीलिए 'अस्वीकार्य' है, ऐसी हिंसा पर आपत्ति करने के कारण गांधीजी महत्त्वपूर्ण नहीं हो गये हैं। ऐसी हिंसा को तो राष्ट्र नेताओं से दार्शनिकों तक, साधारण नागरिकों से लेकर अपराधियों तक सभी लोग बुरी ही कहते आये हैं। मेरे अलावा, मेरे देश, सिद्धांत या विचार के अलावा, किसी अन्य द्वारा की गयी हिंसा अस्वीकार्य है—यह तो सब मानते हैं। हिंसा की ऐसी सुविधापूर्ण अस्वीकृति और गांधीजी की अहिंसा दृष्टि में मूलभूत अंतर है।

गांधीजी कहा करते थे कि 'मैं कोई नयी बात नहीं कह रहा, सत्य और अहिंसा तो शाश्वत हैं।' उनके इस कथन को उनकी विनम्रता का ही प्रमाण मानना चाहिए। सत्य और अहिंसा— ये शब्द शाश्वत

हैं, जैसे और भी बहुत से शब्द शाश्वत हैं। लेकिन बतौर अवधारणा के, गांधीजी की 'अहिंसा' उनकी अपनी अभूतपूर्व मौलिक देन है। यह मौलिकता तब समझ में आती है जब हम देखें कि मानवीय इतिहास में स्वार्थ या तुच्छ कारणों से हुई हिंसा उस हिंसा के पासंग बराबर भी नहीं है, जो धर्म, नैतिकता, राष्ट्र और सामाजिक परिवर्तन के नाम पर हुई है। हिंसा को ही नहीं, क्रूरता को भी हम तब उचित या कम से कम सभ्य मानने लगते हैं, जब वह हमारे पक्ष से की गयी हो। गांधीजी की अहिंसा दृष्टि की विशेषता यह है कि वह ऐसा नैतिक लक्ष्य नहीं है जिसे आप हासिल कर सकें तो अच्छा, न भी कर सकें तो कोई हर्ज नहीं। गांधीजी की अहिंसा ऐसे सुदूरवर्ती लक्ष्य के विपरीत आपके दैनिक जीवन का प्रतिमान है। वह ऐसा मूल्य है जिसे आपको अपने दिन-प्रतिदिन के व्यक्तिगत और सामूहिक आचरण में स्थापित करना है। और यह भी ध्यान रखना है कि गांधीजी की अहिंसा इन दिनों लोकप्रिय हो रही शाकाहारवाद से सर्वथा भिन्न प्रकार की वस्तु है। उनके मन में यह स्पष्ट है कि 'जीवैजीव आहारा' एक प्राकृतिक तथ्य है, इसलिए कुछ न कुछ हिंसा तो हमारे जीवन से लगी हुई है।

गांधीजी जो सवाल उठाते हैं वह यह है कि क्या मानवीय संस्कृति और मूल्यचेतना और प्राकृतिक तथ्य एक ही चीज हैं? क्या संस्कृति प्राकृतिक तथ्यों पर आधारित भर है? हिंसा की तरह ही लालच भी मानवीय प्रकृति का एक तथ्य है, तो क्या हमारे आचरण और समाज संगठन का आधार भी हिंसा और लालच को ही होना चाहिए? हिंसा यदि प्राकृतिक तथ्य है तो क्या करुणा भी एक प्राकृतिक तथ्य नहीं है? लालच यदि मानवीय प्रकृति का अनिवार्य पक्ष है तो क्या संयम भी इसी मानवीय प्रकृति का एक तथ्य नहीं है? क्या लालच को संयम से अनुशासित करना मनुष्य की प्राकृतिक विशेषता और समाज संगठन की स्वाभाविक मांग नहीं है?

सवाल उठता है कि मनुष्यता के पतन की बड़ी-बड़ी दास्तानों के बीच आदमी के हृदय परिवर्तन के प्रति विश्वास का क्या मतलब है, जब हथियार ही व्यवस्थाओं के नियामक बन गये हों तब अहिंसा की आवाज कितना असर डाल पायेगी? लेकिन इन्हीं मुश्किलों में गांधीजी सबसे ज्यादा याद आते हैं। एक वैकल्पिक व्यवस्था और जीवन की तलाश में सक्रिय लोगों को गांधीवाद से ज्यादा मदद मिल रही है। आज भारत समेत दुनिया के कई कोनों में संघर्षरत जनसमुदाय को सत्याग्रह ही सबसे माकूल हथियार नजर आ रहा है। पर्यावरणवादी हों या अपने विस्थापन के विरुद्ध लड़ रहे लोग, सबको गांधीजी से ही रोशनी मिलती है। गांधीजी का जीवन पूरी दुनिया को प्रेरित कर सकता है।

महात्मा गांधी का जीवन एक अच्छा वृत्तचित्र है। उनके चुनिन्दा कामों पर सौ से अधिक ग्रंथ हैं। उनके जीवन और संदेश पर पांच हजार से अधिक पुस्तकें लिखी गयी हैं। यह सभी केवल बड़े लोगों द्वारा नहीं किया गया। इनमें वे विचार भी शामिल हैं जो उन्होंने समय-समय पर जीवन और समुदाय को लेकर व्यक्त किये हैं। उन्होंने अपने कार्यक्रमों को बढ़ाने के लिए निष्ठावान व्यक्तियों को चुना था। यही निष्ठावान व्यक्ति उनके संदेशवाहक बने। इनमें सबसे अधिक चमकीले, बौद्धिक और विवेकी लुईस फिशर का नाम है। 1942 में सेवाग्राम में गांधीजी के साथ वह एक सप्ताह रहे थे। 1951 में उन्होंने 'दि लाइफ ऑफ महात्मा गांधी' लिखी। फिशर ने हमेशा गांधीजी को सही पाया। कोई भी सिद्धान्त बनाने से पहले गांधीजी पहले खुद पर अमल करते थे। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने सब कुछ सहा था। उनके ब्रिटेन में जन्मे दक्षिण अफ्रीकी मित्र एच.एस.एल. पोलक ने गांधीजी को यह कहते हुए उद्धृत किया है 'मुझे संत कहने वाले लोग राजनीति में मेरी महत्ता कम कर रहे हैं। वास्तव में मैं एक राजनीतिज्ञ हूँ और संत बनने की कोशिश में हूँ।'

गांधीजी हमेशा एक जैसे रहे। चाहे वे दिल्ली की दलित कॉलोनी में हों या 1931 में बर्मिंघम पैलेस के स्वागत कक्ष में। परिस्थितियों के साथ गांधीजी की यही एकरूपता उन्हें एक अदभुत नेतृत्वकर्ता के रूप में स्थापित कर गयी। गांधीजी यह विलक्षण नेतृत्व इसलिए दे पाये, क्योंकि लोगों को भरोसा हो चला था कि गांधीजी सत्य के लिए आग्रह कर रहे हैं, कोई सस्ती राजनीति नहीं कर रहे हैं और उनका हर आंदोलन अहिंसा के साथ बंधा है।

एक निरंकुश और पाशविक रूप से हिंसक हुकूमत का मुकाबला हिंसा से नहीं, बल्कि अहिंसा के नैतिक बल से ही हो सकता था, और दूसरे देश को गुलाम बनाने की धूर्तता का मुकाबला सत्य के लिए निर्द्वन्द्व आग्रह से ही हो सकता था। गांधी के ये दोनों संदेश लोगों के दिलों पर तब भी राज करते थे और आज भी कर रहे हैं, तो कारण यही है कि गांधी आपादमस्तक सच्चे भारतीय थे, जिन्होंने सत्य

और अहिंसा के दो मोती भारतीय दर्शन समुद्र में से गोता खाकर निकाले थे, जिस समुद्र में हर भारतीय चौबीसों घंटे नहाता और तृप्त होता रहता है। सत्य के लिए आग्रह भारत भारत के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों में ही शुरू हो जाता है, तो अहिंसा को धर्म बनाने का जो विचार पहली बार वेद व्यास ने महाभारत में 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर दिया, उसे महात्मा बुद्ध के विचार के स्तर पर और महावीर स्वामी ने कर्म के स्तर पर पुष्पित-पल्लवित कर भारतवासियों के स्वभाव और चरित्र का अविभाज्य हिस्सा बना दिया। सत्य और अहिंसा के लिए आग्रह के आधार पर युद्ध करने वाले, वेद व्यास, बुद्ध और महावीर की इस महान संतति को देश ने बेशक राजनीतिक दांवपेच का हिस्सा बनाने का पाप किया हो, पर संयुक्त राष्ट्र संघ अगर गांधी के जन्म दिवस 2 अक्टूबर को अब 'अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस' के रूप में मनाने का निर्णय ले चुका है, तो जाहिर है दुनिया गांधी के दर्शन को ठीक से समझ रही है।

2. सत्य की अवधारणा

विचार द्वारा जब किसी भी अतिन्द्रिय तत्व की स्थापना का प्रयास किया जाता है तब इन्द्रियानुभव तथा तर्कबुद्धि की अपेक्षा आस्था अधिक अपेक्षित होती है। जीव, ईश्वर, आत्मा, मूल्य आदि ऐसे ही विषय हैं जिनकी स्थापना हेतु तर्कबुद्धि की अपेक्षा आस्था को अधिक महत्व दिया जाता है। वस्तुतः आस्था के आधार पर स्थापित करके ही उन्हें तर्क व प्रमाण की कसौटी पर कसा जाता है। सत्य भी एक ऐसा प्रत्यय है जिसकी स्थापना व विवेचना के लिये विश्वास होना अत्यावश्यक है। महात्मा गांधी का भी सत्य पर पूर्ण विश्वास था तथा इसी आधार पर वे सत्य की स्थापना करते थे। वास्तव में सत्य गांधी के जीवन दर्शन का ध्रुव तारा था जिस पर उन्होंने अपने सभी विचारों तथा सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित कर रखा था।

'सत्य' गांधी जी के संपूर्ण चिन्त की एक अति महत्वपूर्ण धारणा थी और यदि हम सत्य में ईश्वर एवं अहिंसा का निवास मान लें, जैसाकि गांधी जी का अनेक बार आग्रह है, तो यह कहना उचित होगा कि 'सत्य' गांधी जी के चिन्तन का एकमात्र केन्द्रीय विषय है।

2.1 'सत्य' का अर्थ

'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'सत्' धातु से हुई है जिसके प्रमुख अर्थ हैं— (i) जिसकी सत्ता है, (ii) जिसका अस्तित्व है, (iii) जो स्वयं अपना प्रमाण है, (iv) अनश्वर तथा (v) सद्गुण सम्पन्न। गांधी जी ने अपने सम्पूर्ण चिन्तन में 'सत्य' शब्द का प्रयोग इन सभी अर्थों में किया। यह उल्लेखनीय है कि सत्य के ये सभी लक्षण अपनी सम्पूर्णता के साथ ईश्वर में पाये जाते हैं और इसलिए गांधी जी ने सत्य का एक प्रमुख अर्थ 'ईश्वर' माना है उनके अनुसार— "सत्य ही ईश्वर है।" उन्होंने सत्य को सृष्टि का कारण माना है। उनके शब्दों में "सम्पूर्ण सृष्टि में सत्य की ही सत्ता है।" वे मानते थे कि सत्य पर व्यक्ति का लौकिक जीवन टिका है। यह मानवीय सिद्धान्तों एवं नियमों का आधार है और यह अन्तःकरण की आवाज है। गांधी जी ने सत्य को सभी गुणों का आश्रय माना है।

2.2 सत्य के प्रकार एवं उनका पारस्परिक संबंध

गांधी जी ने सत्य के दो प्रकार स्वीकार किये हैं— (अ) निरपेक्ष (शाश्वत) सत्य, तथा (ब) सापेक्ष सत्य। निरपेक्ष सत्य के लक्षण हैं— (अ) यह स्वयं अपना प्रमाण है, (ब) यह सृष्टि का मूल अनश्वर प्रत्यय (तत्त्व एवं विचार) है, जिसका आदि (प्रारम्भ) तथा अन्त नहीं है, तथा (स) यह सृष्टि की सभी अवस्थाओं (प्रारम्भ, मध्य व अन्त) का एकमात्र कारण है। संक्षेप में, इस निरपेक्ष सत्य को ही ईश्वर बताते हुए गांधी जी ने कहा है, "सत्य ही ईश्वर है।" सापेक्ष सत्य मानव के लौकिक जीवन से संबंधित सत्य है। अन्य शब्दों में, यह मानव-जीवन के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन से संबंधित सत्य है।

(I) दोनों सत्यों का पारस्परिक संबंध

(अ) सापेक्ष सत्य निरपेक्ष सत्य का एक अंग है,

(ब) व्यक्ति सापेक्ष सत्य (लौकिक सत्य) का अनुकरण करके निरपेक्ष सत्य तक पहुंच सकता है, उसे समझ सकता है।

गांधी के सत्य की अवधारणा पर विचार करने के साथ-साथ सत्य के प्रचलित अर्थ को जानना भी आवश्यक है। हमारे लिये सत्य वही है जो दूसरे से पृथक किया जा सके तथा उस पर विचार किया

जा सके। अर्थात् सत्य तार्किक दृष्टि से सोचा जा सकता है, वह प्रमाणित और अप्रमाणित हो सकता है। यदि हम विशेष समय में कोई विशेष अर्थ रखते हुए कोई कथन करते हैं, तथा फिर दूसरे कथन में पहले कथन का अर्थ रखते हुए कुछ कहते हैं तो ऐसे संगत वाक्यों को सत्य से विभूषित किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि हम हर क्षण कथनों का अर्थ बदलते रहे तो इन असंगत वाक्यों को असत्य कहा जाता है। परन्तु यह अर्थ प्रचलित अर्थ है पूर्ण अर्थ नहीं है। वास्तव में सत्यता व असत्यता या यथार्थता और यथार्थता दोनों किसी भी वाक्य या तक प्रणाली के धर्म है। इस अर्थ में सत्य ज्ञान का धर्म हो जाता है। यह सत्य की ज्ञानी मीमांसीय परिभाषा है।

सत्य का दूसरा अर्थ है— वास्तविक सत्ता अर्थात् जिसका अस्तित्व है, वह सत्य है। यह सत्य की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या है। इस प्रकार सत्य सभी की सत्ता के मध्य विद्यमान निरपेक्ष सत्ता का सूचक है। इसके अन्तर्गत सभी सापेक्ष सत्य भी जाते हैं। इसके अतिरिक्त सत्य का एक मूल्यात्मक अर्थ भी है जिसकी दृष्टि से सत्य एक सर्वोच्च नैतिक मूल्य है।

महात्मा गांधी भी सत्य की अवधारणा को तीन अर्थों में व्यक्त करते हैं। सत्य शब्द की उत्पत्ति 'सत्य' शब्द से मानते हुए इसका अर्थ निरपेक्ष सत्ता करते हैं। यहां सत्य का तात्पर्य है, जिसकी सत्ता है, जो अस्तित्व में है। यह निरपेक्ष सत्य है जिसमें सभी सापेक्ष सत्य भी सम्मिलित है। यहां वे सत्य की तत्त्वमीमांसाय व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। चरम तत्त्व ज्ञान स्वरूप होता है। सत्य की चरम सत्ता होने से ज्ञान स्वरूप हो जाता है। इस अर्थ में गांधी सत्य की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या करते हैं। इन सबसे ऊपर गांधी सत्य को नैतिक मूल्य के रूप प्रतिस्थापित कर उसे अन्तरात्मा में स्थित ईश्वर की वाणी मानते हैं। यहां वे सत्य को मूल्यमीमांसीय अर्थ में प्रस्तुत करते हैं। इन तीनों अर्थों में सत्य को प्रतिपादित करके भी गांधी ने अपने चिन्तन में इन तीनों दृष्टियों को विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत न कर समग्रतात्मक ढंग से ही प्रस्तुत किया है। सत्य के प्रति उनके विचार वास्तव में उनकी आस्था पर ही आधारित थे। उनकी आस्था ही इतनी अविचल व दृढ़ थी जिसने उन्हें सत्य के तत्त्व, ज्ञान व मूल्य मीमांसीय अर्थापन के लिये प्रेरित किया।

गांधी सत्य की सत्ता को ही स्थायी मानते थे। उनके अनुसार सत्य के अलावा और कुछ भी स्थायी नहीं है। सत्य केवल वाणी तक ही सीमित नहीं है वरन् उसमें क्रिया, विचार, चिन्तन का भी सत्य सम्मिलित है। उनके अनुसार हमारी समस्त क्रियाएं सत्य के चारों तरफ केन्द्रित रहनी चाहिए। अर्थात् सत्य इतना व्यापक है कि समस्त क्रियाएं उसके द्वारा ही संचालित होनी चाहिये। सत्य की बात करते समय गांधी सत्य की पूर्णता के लिये उसे शुद्ध सत्य की संज्ञा देते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि में अपूर्ण सत्य का भी अस्तित्व था। अपूर्ण सत्य में गांधी के अनुसार राग-द्वेष सम्मिलित होता है। राग-द्वेष से भरा हुआ मनुष्य सरल हो सकता है, वाचिक सत्य बोल सकता है, लेकिन शुद्ध सत्य से प्राप्त नहीं कर सकता है। शुद्ध व निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति के लिये राग-द्वेष आदि से सर्वथा मुक्ति प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

गांधी की आस्था थी कि सत्य अन्तरात्मा की वाणी है। परिस्थिति विशेष में मनुष्य की अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है मनुष्य के लिये वही सत्य है। उसे उसके अनुसार ही आचरण करना चाहिये। यहां मनुष्य एक दूसरे से भिन्न सत्य की कल्पना कर सकता है। क्योंकि जो एक मनुष्य के लिये सत्य है वहीं सत्य दूसरे मनुष्य के लिये भिन्न अर्थ वाला हो सकता है। इस संबंध में गांधी जैनदर्शन के अनेकांत सिद्धान्त को स्वीकारते हुए कहते हैं कि हम सभी सामान्यतः जिस सत्य को स्वीकारते हैं वह सापेक्ष होता है। किसी की दृष्टि कुछ सत्य हो सकता है व किसी और की दृष्टि से वह सत्य न होकर दूसरा सत्य हो सकता है। उस समय हमें जो हमारी अन्तरात्मा अनुभव करती है, उसे सत्य मानकर उस पर अडिग रहना चाहिए। लेकिन साथ ही दूसरे के दृष्टिकोण के साथ ही सहिष्णु रहना चाहिए क्योंकि करुणा व आग्रह हमें निरपेक्ष सत्य से दूर ले जाती है।

गांधी का सत्य मनुष्य के व्यवहार तथा मनोवृत्ति को अंकुश में रखने का श्रेष्ठ साधन है। उसमें मनोवृत्तियों को नियंत्रित रखने की अपार क्षमता है। जिसमें सत्य नहीं है वह सच्चाई के साथ मनोवृत्तियों पर नियंत्रण नहीं पा सकता है। किन्तु जो सत्य का आचरण करने वाला है वह अपनी मनोवृत्तियों पर सरलता से नियंत्रण पा सकता है और सत्य का आचरण करते समय मनोवृत्तियां नियंत्रण में रखना अनिवार्य हो जाता है।

गांधी जिस सत्य की चर्चा करते हैं उसमें सफलता असफलता के द्वन्द्व का सवाल ही उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि उस मार्ग पर सफलता निश्चित है। यदि कहीं असफलता मिलती है तो वह कर्ता के अपने व्यक्तिगत दोष के कारण होती है। संभव है कि सत्य की साधना में साधक से कहीं भूल हो गई हो। यदि सामान्य श्रेणी का सत्य धारण करके हम परिणाम पर पहुंचने का प्रयत्न करे और सफल न हो तो उसमें दोष सत्य का नहीं, वरन् साधक का अपना होता है। गांधी के अनुसार मनुष्य में थोड़े परिश्रम के द्वारा ही परिणाम चाहने की प्रवृत्ति होती है, जबकि सत्य की साधना में कठोर साधना की आवश्यकता होती है। गांधी का मत था कि सत्य के पालन में कभी भी दुराग्रह तथा अंधानुकरण नहीं होता है। सत्य पालन की साधना में वह स्वयं कष्ट सहन करता है, दूसरों के विश्वासघात को भी सहन करता है, किन्तु विपरीत परिस्थितियों में कभी भी अपने पथ से विचलित नहीं होता है। निर्मल अन्तःकरण वाला व्यक्ति अपने सत्य पर अडिग रहकर अंत में शुद्ध सत्य को प्राप्त कर लेता है।

गांधी की सत्य के प्रति आस्था इतनी गहरी थी कि वे कदम-कदम पर सत्य की सत्ता को स्वीकारते थे। उनकी मान्यता थी कि सत्य के पथ पर चलने हेतु दूसरे के सहारे की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सत्य स्वयं में स्वावलम्बी तथा पूर्ण है। गांधी मानते थे कि सत्य से लाभ ही लाभ है। उसके तिरस्कार से हानि की संभावना बनी रहती है। इसी कारण गांधी सत्य को एक विशाल वृक्ष के रूप में स्वीकारते थे जिसमें ज्यों-ज्यों देखा जाए त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते जाते हैं। उनका अन्त ही नहीं होता है। वैचारिक क्षेत्र में गांधी के लिये सत्य का अभिप्राय सभी सापेक्ष सत्य के लिये आदर भाव था। वे सापेक्ष सत्य को स्वीकारते थे, इसलिये किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले वे उसके सभी पक्षों पर पूर्ण रूप से विचार करते थे। इसी कारण उन्होंने अपने पूरे जीवन को अपने सत्य के प्रयोग की संज्ञा दे डाली, जिसमें वे नित नये सत्यों से परिचित होते रहे तथा उन्हें अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रयोग करते रहे। सत्यान्वेषण करते समय उन्होंने सावधान व सचेष्ट रहकर तर्क और निरीक्षण का निष्पक्ष प्रयोग किया। गांधी की मान्यता थी कि सत्य स्वयं प्रकाशमान है और जैसे ही अविद्या रूपी आवरण हटता है, वैसे ही सत्य पुनः प्रकाशित हो उठता है।

2.3 सत्य की खोज

गांधी जी के अनुसार मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म अर्थात् निरपेक्ष सत्य को जानना है। किन्तु पार्थिव शरीर में रहते हुये आत्मा के लिए सम्पूर्ण निरपेक्ष सत्य का ज्ञान संभव नहीं होता है, क्योंकि सशरीर आत्मा ज्ञान के लिए बुद्धि एवं इन्द्रियों के साधन पर निर्भर होती है। वस्तुतः सशरीर आत्मा अल्पक्ष (सीमित ज्ञान वाली) होती है। जबकि निरपेक्ष सत्य अपनी प्रकृति से अलौकिक (इन्द्रियों व बुद्धि से परे) तथा असीम होता है। किन्तु सशरीर आत्मा, उचित साधनों को अपनाकर, निरपेक्ष सत्य का पर्याप्त आभास प्राप्त कर सकती है। मानव के लिए निरपेक्ष सत्य की तुलना में सापेक्ष सत्य का ज्ञान प्राप्त करना अधिक सरल है। सापेक्ष सत्य अपनी प्रकृति से लौकिक एवं सीमित है और उसे इन्द्रियों व बुद्धि की मदद से समझा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि लौकिक सत्य को समझने में अहिंसा का साधन बहुत उपयोगी है। गांधी जी का यह भी मत है कि सापेक्ष सत्य की मदद से निरपेक्ष सत्य का उतना आभासी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जितना कि एक सशरीर आत्मा के लिए संभव है। जब मानव मन, वाणी व कर्म से लौकिक सत्य का पालन करता है, तो उसकी आत्मिक शुद्धि होती है और उसे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है। आत्म-ज्ञान ही निरपेक्ष सत्य को समझने की कुंजी है। गांधी का विचार था कि सत्य के अन्वेषण के लिए आत्मबल तथा आत्म शुद्धि आवश्यक है। व्यक्ति का अन्तःकरण निर्मल वह अहंकार रहित होगा तभी वह शुद्ध सत्य तक पहुंचने के मार्ग पर अग्रसर होगा। जो व्यक्ति नैतिक रूप शक्तिमय होगा वह कठिन विपरीत परिस्थितियों में सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों के लोक व्यवहार में सत्य को जान सकेगा। गांधी प्रचीन हिन्दू नीति शास्त्र का आश्रय लेकर कहते हैं कि व्यक्ति जब तक काम, क्रोध, मोह माया के लोभ में रहेगा तब तक वह सत्य का दर्शन नहीं करता। गांधी के अनुसार ये शत्रु व्यक्ति को बंधन में डालते हैं। जब तक व्यक्ति इन बंधनों से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उसे सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त गांधी ने कहा कि सत्य की खोज का मार्ग है— सबकी सेवा, और उसका अर्थ है जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुनर्निर्माण के लिये निरन्तर प्रयत्न और जो प्रयोजन मनुष्य को सत्य लगे उसकी सिद्धि के लिये सब कुछ संकट में डालने के लिये तैयार रहना। अगन मनुष्य ऐसा नहीं करता है तो वह सत्य के रास्ते से विमुख हो जाता है और स्वयं अपनी आत्मा का निषेध कर देता है। सत्य को सर्वोच्च नैतिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए

गांधी कहते हैं कि निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति के लिये सत्य को अपने आचरण के उतारना आवश्यक है। सत्य का आचरण करना अर्थात् सत्य बोलना व सत्य को व्यवहार में लाना। मन, कर्म, वचन तीनों से सत्य को स्थापित करना ही सत्य का आचरण करना है। गांधी के अनुसार व्यक्ति को सत्य की प्राप्ति के लिये सत्य का अनुकरण तथा असत्य का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि सत्य ही वरणीय व करणीय है। व्यक्तिगत आचार के लिये सत्य सच्चा पथप्रदर्शक है। इसके विपरीत असत्य हमारी दृष्टि को धुंधला कर देता है जिससे हम सीमित सत्य को देखने में भी असमर्थ हो जाते हैं।

गांधी ने अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में सत्य की खोज के लिये अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया था। उनका मत था कि सत्य के खोज की पद्धति वैज्ञानिक होनी चाहिये। जब यह सत्य पूर्ण अवस्था प्राप्त कर लेता है तब मनुष्य का परिमित अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक मात्र सत् ईश्वर रह जाता है। अर्थात् जीवात्मा व ईश्वर के एकाकार हो जाने पर पूर्ण सत् की प्राप्ति हो जाती है। गांधी ने सत्य बोलने वाले, उसका पालन करने वाले का समय पाबंदी व मौन व्रत की सलाह दी। इससे जाने-अनजाने में अतिशयोक्ति के रूप में वह असत्य सेवन से बच जाता है।

सत्य की गोपनीयता के संबंध में गांधी ने कहा कि कुछ लोग सत्य को गोपनीय रखने के प्रयास करते हैं लेकिन सत्य कभी न कभी वह प्रकट हो ही जाता है। क्योंकि सत्य निरपेक्ष व सार्वभौम होता है जिसमें गोपनीयता का कोई स्थान नहीं होता स्वाभाविक ही होती है। उसे किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। फूल की सुगंध के समान सत्य में भी फैलने की शक्ति है, जो अनन्त गति से फैलती रहती है। सत्य के संदर्भ में किसी प्रकार की गोपनीयता स्वीकारी नहीं जा सकती है। गांधी का मत है कि सत्य की आराधना से हृदय परिवर्तन होता है। यदि सत्य हृदय में धारण किया गया हो, उसका आचरण किया गया हो तो निश्चित रूप से दूसरे व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन ला सकता है।

2.4 सत्य और अहिंसा में संबंध

गांधी सत्य की अनुभूति के लिये अहिंसा को आवश्यक मानते थे। अहिंसा को वे साधन तथा सत्य को साध्य के रूप में स्वीकारते थे। उनके अनुसार हिंसा की जड़ क्रोध, स्वार्थपरता, वासना आदि प्रवृत्तियों में है इसलिये हम हिंसा द्वारा सत्य तक नहीं पहुँच सकते हैं। हिंसा असत्य है और असत्य का अर्थ होता है जिसका अस्तित्व नहीं है। यदि असत्य ही स्थायी होता है और भी वस्तु अपने प्रति तथा दूसरों के प्रति स्थायी नहीं होती तो जीवन और प्रकृति के सभी नियम अनिश्चित होते और यह विश्व अव्यवस्थित हो जाता। अतः स्पष्ट है कि अहिंसा ही एक मात्र सत्य का साधन हो सकता है। सत्य की अपेक्षा अहिंसा साधन मूल्य है, किन्तु ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि के लिये अहिंसा साध्य और वे उसके साधन हैं। इस प्रकार गांधी सभी मूल्यों में साध्य साधन संबंध मानते थे, तथापि सत्य उनके अनुसार सर्वोच्च मूल्य है तथा सभी मूल्य उसमें ही अन्तर्नीहित हैं।

2.5 सत्य का महत्व

गांधी जी ने सम्पूर्ण सृष्टि एवं मानव-जीवन के प्रसंग में सत्य के महत्व को स्वीकारा है। सत्य अपनी प्रकृति से सत्तावान है, जड़-चेतन सृष्टि का आदि कारण है और 'सत्य ही ईश्वर' है। गांधी जी का मत है कि मानव-जीवन में सत्य का विशिष्ट महत्व है, और इसलिए मानव को सत्य-परायण बनना चाहिए। सत्यपरायण व्यक्ति मन, वाणी, कर्म से सत्य का पालन करता है, जिससे उसे इन तीनों स्तरों पर शुचिता (पवित्रता) प्राप्त होती है और उसे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो आत्म-साक्षात्कार (ब्रह्म की अनुभूति) में सहायक होती है। गांधी जी ने लौकिक जीवन में सत्य के महत्व को बताते हुए कहा है कि सत्य का अनुसरण कर मानव-जाति अपने कष्टों से मुक्ति पा सकती है। सत्य धर्म व नीति का मूल है और उसकी मदद से मानव अपने लौकिक जीवन के सभी पक्षों का आध्यात्मीकरण व नैतिकीकरण कर सकता है और इस प्रकार एक आदर्श सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना में सफल हो सकता है। गांधी जी ने सत्य का महत्व बताते हुये कहा है, "सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों-ज्यों सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुये दिखाई देते हैं।

सत्य के प्रति गांधी की इतनी गहरी आस्था थी कि उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों में सत्य को लागू किया। उनका पूरा जीवन सत्य के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग को ही समर्पित था। इसलिये उन्होंने अपनी आत्मकथा को 'सत्य के प्रयोग' की संज्ञा दी। उनके अनुसार जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं

है जिसमें सत्य अपेक्षित न हो। राजनीति में प्रायः नैतिकता को महत्व नहीं दिया जाता है। वहां साम-दाम-दण्ड-भेद द्वारा ही प्रत्येक कार्य सम्पादित किया जाता है। गांधी ने राजनीतिक क्षेत्र में सत्य का प्रयोग 'सत्याग्रह' नामक राजनैतिक अस्त्र की स्थापना के द्वारा किया। सत्याग्रह का अर्थ है- सत्य के प्रति आग्रह। सत्याग्रह के द्वारा व्यक्ति अपनी सभी समस्याओं का समाधान सत्य अहिंसा के पथ पर चलते हुए कर सकता है। सामाजिक क्षेत्र में सत्य का साक्षात्कार करने के लिये गांधी ने सत्य अहिंसा के आधार पर एक ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें वर्ग व जाति विहीन समाज का अस्तित्व हो। गांधी ने इसे सर्वोदय समाज की संज्ञा दी। आर्थिक क्षेत्र में सत्य का प्रतिस्थापित करने हेतु गांधी ने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके आधार पर समता व स्वतंत्रता पर आधारित एक ऐसे समाज की रचना होगी जिसमें आर्थिक रूप से कोई शोषित न होगा तथा सभी समान रूप से सामुहिक आर्थिक प्रगति की ओर अग्रसर होंगे। समग्र रूप से गांधी अपने चरम लक्ष्य रामराज्य की स्थापना का आदर्श रखते हैं जिसमें वे सत्याग्रह, सर्वोदय, ट्रस्टीशिप के साथ-साथ समन्वय, समानता, सद्भाव, आत्मीयता को समाहित करके सत्य के प्रति अपनी उदात्त भावनाओं को व्यावहारिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न करते हैं।

3. साधन साध्य का सिद्धान्त

मनुष्य जीवन इच्छाओं, आकांक्षाओं का महासागर है। 'आकांक्षाएं व उनकी पूर्ति हेतु प्रयत्न' मनुष्य की विकास यात्रा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारणभूत तत्त्व रहा है जिसने मनुष्य को निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसारित किया। समाज में रहकर जीवन-यापन करने के कारण मानव से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी इच्छापूर्ति व कार्यों का संपादन समाज व नैतिकता के नियमों के दायरे में रहकर करेगा। लेकिन बहुधा वह अपनी अनियंत्रित इच्छाओं की पूर्ति हेतु ऐसे साधनों का प्रयोग करता है जो नैतिकता व समाज की गरिमा के प्रतिकूल होते हैं। इसलिये इच्छापूर्ति के साधन कैसे होने चाहिए? लक्ष्य व लक्ष्य प्राप्ति के मध्य क्या संबंध है? शुद्ध साध्यों की प्राप्ति के साधन शुद्ध होने आवश्यक है अथवा नहीं? इस संबंध में प्रारंभ में विभिन्न विचारधाराओं की विवेचना से पूर्व यह जानना अपेक्षित है कि साध्य क्या है? साधन किसे कहते हैं? सामान्यतः जिसे सिद्ध किया जाता है वह साध्य कहलाता है और जिसके द्वारा साध्य सिद्ध हो वह साधन कहलाता है। दूसरे शब्दों में, किसी क्रिया के प्रयोजन, किसी इच्छित वस्तु या उद्देश्य को साध्य कहा जाता है तथा उसकी प्राप्ति हेतु जो उपक्रम किये जाते हैं, जिनके सहारे उस लक्ष्य की प्राप्ति होती है, वे उपक्रम या प्रयत्न साधन कहलाते हैं। साध्य-साधन के संबंध में मुख्यतः दो दृष्टियां प्रयोग में आती हैं।

- साध्य साधनों के औचित्य को निर्धारित करते हैं।
- साधन साध्य के औचित्य को निर्धारित करते हैं।

पहली दृष्टि के अनुसार साध्य महत्वपूर्ण है, साधन गौण है। सामान्यतः यही माना जाता है कि यदि साध्य या लक्ष्य न्यायपूर्ण, संगत व शुद्ध है तो उसकी प्राप्ति के लिये किसी भी प्रकार के साधनों का प्रयोग वांछनीय है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि यदि किसी न्यायसंगत साध्य की प्राप्ति शुद्ध व न्यायपूर्ण साधनों द्वारा असंभव हो, तो लक्ष्यपूर्ति के लिए छल-कपट व अन्यायपूर्ण साधनों का सहारा लिया जा सकता है, क्योंकि साधनों का औचित्य साध्य निर्धारित करते हैं। यदि साध्य शुद्ध हो तो किसी भी प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। साध्य की नैतिकता महत्वपूर्ण है, साधनों की नहीं। इस विचारधारा के समर्थकों में कौटिल्य, मैकियावली, बेंथम, स्टालिन, लेनिन आदि आते हैं।

साध्य-साधन के संबंध में प्रस्तुत विचार को कई दार्शनिकों ने अस्वीकार करते हुए कहा कि साधन यदि औचित्यपूर्ण है तो साध्य स्वतः औचित्यपूर्ण हो जाएगा। इन विचारकों के अनुसार शुद्ध लक्ष्य की प्राप्ति के लिये शुद्ध साधनों का होना आवश्यक है, क्योंकि जितना महत्व साध्य का है उतना ही साधनों का। उचित साधनों से ही उचित लक्ष्य की प्राप्ति संभव है। इस दृष्टिकोण के विचारकों में मुख्यतः महावीर, बुद्ध आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

महात्मा गांधी नैतिक आदर्शवादी विचारक थे। उन्होंने भी साध्य-साधन विवेक के संबंध में अपने विचार प्रकट किये थे। उनके साध्य-साधन विचारों का बीजतत्त्व गीता की 'निष्काम कर्म' की अवधारणा

थी जिसमें फल की अपेक्षा कर्तव्य पर बल दिया गया है। इसी आधार पर वे साधनों की पवित्रता में आस्था रखते थे। उन्होंने इस विचार को स्वीकार नहीं किया कि साधनों की शुद्धता का विवेक रखने की बजाय साध्य प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिये तथा साध्य की पवित्रता साधनों को भी पवित्र बना देती है। वस्तुतः दोनों ही शुद्ध होने चाहिये। साधनों की श्रेष्ठता को निरूपित करने के लिए गांधी कई प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—

3.1 अशुद्ध साधन का परिणाम भी अशुद्ध

गांधी कहते हैं जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य होगा। अशुद्ध साधनों का परिणाम भी अशुद्ध होगा। असत्य आचरण के आधार पर कोई सत्य तक नहीं पहुँच सकता है। सत्य तक सत्य-अहिंसा के आचरण द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। कोई कहता है साधन तो साधन है, लेकिन गांधी कहते हैं कि साधन ही सबकुछ है। जैसा साधन होगा वैसा साध्य प्राप्त होगा। गांधी कहते हैं कि दो विश्व युद्धों का दुखद इतिहास और वर्तमान जीवन का अनुभव भी यही बताता है कि हिंसा से अधिक हिंसा, घृणा से अधिक घृणा, प्रतिस्पर्धा से प्रतिस्पर्धा का ही जन्म होता है। इसलिये यदि शुद्ध व सही साध्य की प्राप्ति करनी है तो साधनों की पवित्रता को नजर अंदाज करना औचित्यपूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि कोई अशुद्ध साधनों द्वारा शुद्ध साध्य की प्राप्ति का प्रयास करता भी है तो इसका प्रभाव विधायक नहीं रहेगा। कभी-कभी ऐसा लगता है कि हिंसा, धूर्त, कुटिल नीतियों की सत्य-प्रेम-न्याय पर विजय हो गई, लेकिन यह जीत आशिक व क्षणिक ही होती है व इसके लाभ दिखावे भर के होते हैं। सत्य पर जीत असत्य के माध्यम से नहीं, सत्य के माध्यम से ही पाई जा सकती है।

गांधी ने कहा कि मनुष्य का अधिकार केवल साधनों पर है साध्य पर नहीं। ईश्वर ने हमें साधनों पर ही नियंत्रण दिया है, वह भी सीमित मात्रा में। साध्य पर तो हमारा अधिकार है ही नहीं। लक्ष्य की प्राप्ति भी ठीक उसी अनुपात में होगी जिस अनुपात में हमारा साधन होता है। इसका समर्थन गीता के 'कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' से भी होता है जिसके अनुसार हमें कर्म करने का अधिकार है, फल पर हमारा अधिकार नहीं है। यहां कर्म साधन है व फल साध्य। गांधी के अनुसार हम ईश्वर की वीणा के तार हैं, वह जैसा चाहे हमें आगे-पीछे कर सकता है। हमें केवल साधनों के ज्ञान से ही संतुष्ट होना पड़ता है। और यदि वे शुद्ध हैं तो हमें साध्य का ख्याल छोड़ देना चाहिये। यदि हम साधनों का ख्याल रखेंगे तो लक्ष्य की सिद्धि निश्चित है। गांधी के शब्दों में, "तर्क के लिये यह कहा जा सकता है कि साध्य प्राप्ति की यह आवश्यकता से भी अधिक लम्बी राह है परंतु मेरे लिये यह सबसे छोटी राह है।"

3.2 साध्य और साधन में अन्योन्याश्रय संबंध

गांधी साध्य और साधन में अन्योन्याश्रय संबंध स्वीकारते हुए कहते हैं कि साध्य और साधन एक ही है। वास्तव में ये दोनों सापेक्ष पद हैं अतः कभी साधन साध्य और कभी साध्य साधन बन जाते हैं। इनकी तुलना वृक्ष और बीज से की जा सकती है। साधन बीज है व साध्य वृक्ष। उत्तम बीज के बिना उत्तम वृक्ष का होना असंभव है। अतः उत्तम साधनों के बिना उत्तम साध्य की कल्पना करना व्यर्थ है। नैतिक कर्मवाद भी यही शिक्षा देता है कि अच्छे कर्मों से ही अच्छे फल प्राप्त होते हैं। चूंकि साधन और साध्य परस्पर संबंधित हैं व उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है, इसलिये वास्तविक व स्थायी सफलता के लिये साधनों का शुद्ध होना अत्यावश्यक है। स्वामी विवेकानन्द ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा था कि "साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाते हैं।"

प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रैडले के अनुसार, नैतिकता के निर्धारण में साधन का अपना स्वाभाविक मूल्य है। इसी प्रकार साधन का विचार साध्य के मूल्यांकन का भी आवश्यक अंग है क्योंकि साधन द्वारा स्वयं ही वास्तविक मूल्यांकन हो जाता है। यदि साधन न्यायपूर्ण शुद्ध व पवित्र है तो साध्य निश्चित ही सत्यपूर्ण, न्यायसंगत व शुद्ध होगा।

3.3 साधनों की पवित्रता

साधनों की पवित्रता का समर्थन प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। मनु ने कहा है कि 'अधर्म से प्राप्त समृद्धि और सौरभ प्रकट रूप में जो भी हो उसका अंत में समूल विनाश निश्चित है।' महाभारत भी धर्म के विनाश में सबका विनाश देखता है। आधुनिक विचारकों में पं. नेहरू ने कहा था कि "यदि

साध्य ठीक भी हो परंतु साधन गलत है तो वह साध्य को बिगाड़ देगा और गलत दिशा में मोड़ देगा।' प्रो. रामजी सिंह भी कहते हैं कि "अनैतिक साधनों के आधार पर प्राप्त सफलता सच्ची नहीं, क्योंकि इसमें तो हम पहली ही अनैतिकता की विजय और नैतिकता की पराजय स्वीकार कर लेते हैं। गांधी कहते हैं कि व्यवहारिक दृष्टि से साध्य की तुलना में साधन अधिक महत्त्व रखते हैं। सामान्यतः साध्यों के संबंध में सभी मतैक्य होते हैं। सभी चाहते हैं कि विश्वशांति, विश्वबंधुत्व, प्रजातंत्र, स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व प्रेम, कल्याण सर्वत्र व्याप्त हो। लेकिन वास्तविक भेद तब उभरता है जब साधनों की बात आती है। कुछ लोग शांति, प्रेम से प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं, और कुछ लोग शांति व प्रजातंत्र के लिये तानाशाही को स्वीकारने में भी नहीं हिचकते। इस प्रसार साध्य की अपेक्षा साधन अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। साध्य इसी बात पर निर्भर करता है कि आपने उसकी प्राप्ति के लिये कैसा कदम व साधन अपनाए हैं। डॉ. रामजी सिंह भी इसी संदर्भ में कहते हैं "आज साधनों की समस्या इतनी प्रधान हो गई है कि बीसवीं सदी की मानवीय सभ्यता का इतिहास साध्य की सिद्धि के लिये साधनों के उपयोग का इतिहास होगा।"

गांधी कहते हैं कि साधनों की पवित्रता केवल साध्य को ही अपवित्र नहीं करती वरन् साधक को भी भ्रष्ट बना देती है। समाजशास्त्री भी इस बात को स्वीकारते हुए कहते हैं कि जब हिंसा, अनीति, मनुष्य के जीवन व अधिकार की उपेक्षा को उचित मान लिया जाता है तो हम उन्हें केवल उनके साध्य विशेष तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। वे जीवन के अन्य साध्यों व क्षेत्रों को भी प्रभावित करते हैं। वे अंततः साध्य के अनिवार्य अंग बन जाते हैं और इनके परिणामों को सहन करना ही पड़ता है। इस संदर्भ में मार्क्सवाद का निरूपण भी आवश्यक है। सामान्यतः मार्क्सवाद के संबंध में आम धारणा है कि वे स्वीकारते हैं कि साध्य साधनों को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं। किंतु मार्क्सवाद अनिवार्यतः अनुचित साधनों के उपयोग को अपना सिद्धांत नहीं मानते हैं। अपने उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए न्याय, सत्य, दया, बंधुत्व, मैत्री जैसे भावों को मार्क्स गलत नहीं मानता था केवल इनका उपयोग समय, स्थान और अवसर के अनुकूल करने पर बल देता था ताकि मानव को स्वतंत्र, पूर्ण विकसित तथा प्रतिष्ठित रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर किया जा सके। किंतु कालांतर में मार्क्सवाद के प्रयोगों में विकृति आने के कारण मार्क्स का राज्यविहीन राज्य का स्वप्न यथार्थ न हो सका, क्योंकि निश्चित रूप से इनके साधनों में विकृति का समावेश हो चुका था। वास्तव में, विकृति मार्क्सवाद में न होकर उसके प्रयोगों में थी। इसलिये यथार्थ में मानव कल्याण इसी में है कि वे हिंसा को अहिंसा से, घृणा को प्रेम से, शत्रुता को मैत्री से तथा युद्ध व संघर्ष को शांति से पराजित करना सीखें, तभी हम अपने सर्वोच्च साध्य की प्राप्ति में सफल हो सकते हैं।

गांधी ने सदैव इन विचारों का समर्थन किया क्योंकि यही मानव जाति की उन्नति का मार्ग है। उदाहरणतः भारतीय शास्त्र परम्परा के अनुरूप गांधी भी मानव का लक्ष्य मोक्ष को मानते थे। इस संदर्भ में उनका मानना था कि अपने देश की सेवा तथा इसके माध्यम से सम्पूर्ण मानवता की सेवा के लिये निरन्तर प्रयासरत रहना ही मुक्ति का मार्ग है। मनुष्य में साधन शुद्धि का विवेक जागृत हो सके इस हेतु गांधी ने एकादश व्रत का निरूपण किया। इन व्रतों में पहले पांच व्रत शाश्वत व सार्वभौमिक हैं, जिनकी सार्थकता हर काल में समान हैं तथा अन्य छः गांधी ने तात्कालिक परिस्थिति के संदर्भ में अपने अनुभव के आधार पर निर्धारित किये हैं। गांधी ने अपने साध्य-साधन संबंधी मान्यता को जीवन के हर क्षेत्र में प्रयुक्त किया है। वे मानते थे कि मनुष्य का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में बंटा हुआ है, लेकिन वह अपनी मान्यताओं को यदि सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त कर सके तो यह उसके सिद्धांतों की सार्वभौमिकता व सत्यता के संबंध में संदेह उत्पन्न करता है। इसलिये गांधी ने शुद्ध साधन अर्थात् सत्य अहिंसा के प्रयोग के द्वारा जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त की। आज के युग में यद्यपि दोनों ही मान्यता प्रचलित है लेकिन जनमानस का झुकाव इसी तरफ है कि साध्य प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के साधनों के प्रयोग वांछनीय है। लेकिन यह मान्यता क्षणिक व अस्थायी है। वृहद् व दीर्घ लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि साधनों की शुद्धता का विवेक रखा जाए, क्योंकि तभी हम स्थायी, शुद्ध व पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो पायेंगे।

4. सत्याग्रह

गांधी की विशिष्टता सत्य अहिंसा के नये सिद्धांत प्रतिपादन में नहीं, अपितु नवीन व्याख्या प्रदान कर उनके समग्र व्यवहारिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं था। आपसी मतभेद व संघर्ष जीवन का आवश्यक अंग होने के कारण हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं। गांधी विश्व इतिहास से परिचित थे तथा अपने दो विश्व युद्धों के प्रत्यक्ष अनुभवों से इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि हिंसा द्वारा किसी भी समस्या का समाधान संभव नहीं है। यह सिर्फ विनाश को जन्म दे सकती है। गांधी की मान्यता थी कि हिंसा द्वारा प्रतिकार करना अपने आत्मबल व नैतिकबल को कमजोर करना होता है।

‘राजनीति का क्षेत्र छल-छद्म से परिपूर्ण होता है तथा येन केन प्रकारेण सफलता प्राप्त करना ही इसकी प्रक्रिया है’ की प्रतिष्ठित धारणा का स्थानापन्न कर, राजनीति में नैतिकता को प्रतिष्ठित कर क्रांतिकारी परिवर्तन लाना गांधी का उद्देश्य था। इन मान्यताओं के आधार पर राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा के समावेश को सुनिश्चित कर अहिंसक विरोध की नीति (प्रक्रिया) व राजनैतिक अस्त्र के रूप में सत्याग्रह का प्रादुर्भाव हुआ।

यद्यपि अहिंसा की अवधारणा प्राचीन काल से ही विभिन्न रूपों, संदर्भों को लेकर विकसित होती रही है, तथापि व्यवहार में यह संत महात्माओं के आचरण में ही सीमित रही। गांधी की विशेषता यह रही कि उन्होंने अहिंसा को सिद्धांत के धरातल से उठाकर, व्यवहारोपयोगी बनाकर उसकी पुरातन अर्थों की सीमाओं का विस्तार किया। उनके अनुसार अहिंसा का अर्थ है सम्पूर्ण जीवन जगत के साथ प्रेम व एकात्म भाव की अनुभूति। उन्होंने अहिंसा का प्रयोग केवल व्यक्तिगत जीवन सुधार तक ही सीमित न रखकर उसे सामाजिक क्षेत्र तक विस्तृत किया। गांधी ने बताया कि किस प्रकार सामूहिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा का समावेश व प्रयोग कर विभिन्न समस्याओं का समाधान कर आदर्श स्थिति तक पहुंचा जा सकता है और जब समाज में बुराई फैली हो तो अहिंसा वृत्ति द्वारा किस प्रकार प्रतिकार करना चाहिये। विभिन्न क्षेत्र में अहिंसक प्रयोग व प्रतिरोध के संदर्भ में विख्यात अहिंसक शास्त्री रिचर्ड बी.ग्रेग ने कहा है, “आधुनिक युग में गांधी ही ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं जिन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धांत को विकसित किया है। संगठित व सामूहिक रूप से बड़े आंदोलनों में इसका उपयोग किया है और अनेक कठिन परिस्थितियों में वास्तविक सफल लड़ाईयां लड़कर इस सिद्धांत के विस्तार को सिद्ध कर दिखाया।” गांधी के सत्य अहिंसा के उत्कृष्ट चिंतन के फलस्वरूप उत्पन्न इसी अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धांत को सत्याग्रह की संज्ञा दी गई।

गांधी ने इसका प्रयोग सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका में सरकार के रंगभेद पर आधारित भेद-भाव मूलक कानून के निषेध के विरोध में किया। पहले इसे ‘निष्क्रिय प्रतिरोध’ के नाम से जाना गया, लेकिन गांधी को लगा कि यह शब्द उनके विचार का सही रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है। इसलिये उसे परिवर्तित कर कर पहले इसका नाम सदाग्रह व अंत में सत्याग्रह पड़ा।

सत्याग्रह में व्यक्ति व समाज में अंतर्निहित बुराईयों व संघर्षों का प्रतिकार अहिंसक तरीके से किया जाता है। सम्पूर्ण मानव इतिहास में गांधी को छोड़कर किसी अन्य ने सत्याग्रह का प्रयोग इतने व्यापक स्तर पर नहीं किया।

4.1 सत्याग्रह : अर्थ व दर्शन

सत्याग्रह से गांधी का तात्पर्य अहिंसा में आस्था रखने वाले मनुष्य का सत्य के प्रति आग्रह है। इस सिद्धांत में अहिंसा के साथ सत्य का समावेश हो जाने पर नवीन परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। सत्याग्रह में सभी बातें सत्य के संदर्भ में कही जाती हैं जिससे दूसरों को थोड़ा भी कष्ट न हो, यही सत्याग्रह का उच्च आदर्श है। सत्याग्रह सत्य की निरापद खोज है। इसके लिये व्यक्ति जीवनपर्यन्त प्रयास करता हुआ संघर्षरत रहता है। सत्याग्रह में सब कुछ स्वयं सहन किया जाता है इसलिये इसमें वैर-भाव का जन्म नहीं हो पाता है। गांधी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ विरोधी को कष्ट देकर नहीं वरन् स्वयं कष्ट सहन कर सत्य की रक्षा करना है। डॉ. सीतारमैया ने सत्याग्रह के रचनात्मक पक्ष पर बल देते हुए कहा “सत्याग्रह एक विधेयात्मक व अप्रतिहत शक्ति के रूप में कार्य करता है जिसका प्रभाव अनुभव सिद्ध है।” स्पष्ट है कि सत्याग्रह का यह विधेयात्मक स्वरूप सत्य अहिंसा के कारण ही संभव है।

सत्याग्रह सत्य और आग्रह से निर्मित सामाजिक शब्द है जिसका अर्थ है—सत्य का आग्रह। भिन्न-भिन्न व्यक्ति सत्य के भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, इसलिये इसके अर्थ में भी विभिन्नता आ गई है। जयन्तनुजा बंधोपाध्याय ने सत्य के मूल्यात्मक अर्थ पर बल देते हुए सत्य को न्याय का द्योतक कहा है। इसलिये सत्याग्रह का अर्थ होता है न्याय का आग्रह। डॉ. दासगुप्ता ने सत्य को भौतिक धारणा न मानकर इसे सामाजिक व्युत्पन्न वस्तु माना है। उन्होंने कहा कि अहिंसा को मौलिक अवधारणा है जिसका मुख्य अर्थ है—अशोषण। अतः सामाजिक सत्य के रूप में सत्याग्रह अशोषण के रूप में एक अहिंसक प्रक्रिया है। किंतु ये दोनों अर्थ सत्याग्रह के एक-एक पक्ष को उजागर करते हैं। गांधी ने सत्याग्रह को सत्य की शक्ति माना तथा सत्य का अर्थ आत्मा स्वीकार किया। अतः गांधी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ है आत्मशक्ति, प्रेम शक्ति या सत्य शक्ति का आग्रह। सत्याग्रह वह प्रक्रिया है जिसमें आत्मशक्ति तथा प्रेम शक्ति का विकास होता है। न्याय और अशोषण आत्मशक्ति व प्रेम के विकास के लिये आवश्यक है। यही कारण है कि सत्याग्रही को न्याय व अशोषण के प्रति आग्रह रखना पड़ता है। किंतु अंततः न्याय व अशोषण आत्मशक्ति में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि इनकी अपनी सत्ता नहीं होती है। आत्मशक्ति तथा प्रेम शक्ति अपने आप में पूर्ण अर्थ रखती है। ये स्वतः साध्य हैं, अतः सत्याग्रह का अर्थ है आत्मशक्ति व प्रेम शक्ति के प्रति आग्रह रखना।

सत्य अहिंसा पर निष्ठा रखते हुए हृदय के निर्देशानुसार आचरण करने से सत्याग्रह रूपी अस्त्र की तैयारी स्वतः हो जाती है। सत्याग्रह किसी भी नैतिक रूप से वांछनीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जा सकता है। सत्याग्रह का यह विचार गांधी के हाथों में आकर प्रेम का विधान बन गया। यह एक प्रेम का विधान तथा सभी मनुष्यों के लिये प्रेम का मार्ग है जिसमें सभी परिस्थितियों तथा सभी रूपों में सिद्धान्ततः हिंसा का परित्याग करना पड़ता है।

यद्यपि सत्याग्रह व दुराग्रह एक दूसरे के विपरीत हैं, तथापि सत्याग्रह के अर्थ को समझने के लिये दोनों में अंतर करना आवश्यक है। दुराग्रह एक ऐसी धारणा है जिसमें व्यक्ति अपने स्वार्थ के विचार को विशेष महत्त्व देता है और सत्य, न्याय व सदाचार पर अपना एकाधिकार मानता है। वह मानता है कि केवल वही सत्य है तथा उसका विपक्षी गलत। वह दबाव के बल पर अपने पक्ष का समर्थन चाहता है। इसमें हिंसा की संभावना बढ़ जाती है और वह हिंसक साधनों को अपनाने में संकोच तक नहीं करता। किंतु सत्याग्रही इस तथ्य से परिचित होता है कि व्यक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान सापेक्ष सत्य है अर्थात् जो एक के लिये सत्य है वह दूसरे के लिये असत्य हो सकता है। इसलिये वह अपने विपक्षी को नीचा दिखाने का प्रयास नहीं करता। वह सदा ऐसे विकल्पों की खोज करता है जो दोनों पक्ष को स्वीकार्य हो। वह सभी प्रकार की हिंसा व दबाव से मुक्त होता है। वह प्रतिपक्षी का हृदय परिवर्तन कर उसमें बदलाव लाता है। इस प्रकार सत्याग्रही कभी दुराग्रही नहीं हो सकता है।

प्रारंभ में सत्याग्रह 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से जाना गया लेकिन बाद में गांधी ने सत्याग्रह व निष्क्रिय प्रतिरोध में भेद को स्वीकार किया। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों का अस्त्र है अतएव इसमें हिंसा के प्रयोग की संभावना रहती है। इसमें व्यक्ति प्रतिपक्षी को परेशान कर उस पर अपना दबाव बनाना चाहता है। इसके विपरीत सत्याग्रह नैतिक अस्त्र है जिसका आधार है—आत्म शक्ति की श्रेष्ठता। यह वीरों का अस्त्र है जिसमें बिना मारे ही मरने का साहस है। सत्याग्रह हिंसा को कभी स्वीकार नहीं करता, वरन् उसके स्थान पर प्रेम व त्याग को महत्त्व देता है। इसका उद्देश्य प्रतिपक्षी को दबाने का नहीं, अपितु उसमें निहित बुराइयों का अंत कर उसे भी सत्याग्रही बनाने का होता है।

सत्याग्रही किसी भी नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जा सकता है। इसका प्रयोग सत्याग्रही न केवल अपने विपक्षी के प्रति कर सकता है, बल्कि अपने निकटतम व प्रियतम के प्रति भी कर सकता है।

4.2 सत्याग्रह की आधारभूत मान्यताएं

गांधी ने सत्याग्रह के प्रयोग हेतु सत्याग्रही के लिये कुछ मौलिक मान्यताओं, नियमों तथा शर्तों के पालन को अनिवार्य बताया था, जिनके पालन के अभाव में सत्याग्रह अहिंसा से दूषित हो अपना वास्तविक अर्थ खोकर अन्य क्रियाओं में लिप्त हो जाता है। इन मान्यताओं व शर्तों को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

4.2.1 नैतिक मान्यता

गांधी ने सत्याग्रह का प्रयोग एक नैतिक किल्प के रूप में किया था, अतः सत्याग्रही के लिये आवश्यक है कि वह उच्च कोटि की नैतिकता का पालन करे। चूंकि सत्याग्रह एक ऐसा अस्त्र है जिससे मानवता व नैतिकता की रक्षा की जा सकती है, इसलिये नैतिक दृष्टि से विचार करने पर सत्य अहिंसा ही इसके मुख्य अस्त्र के रूप में नजर आते हैं। सत्याग्रही में उच्च कोटि की नैतिकता का विकास करने के लिये गांधी ने एकादश व्रतों के पालन को आवश्यक बताया, ये निम्नलिखित हैं—

- **सत्य**— नैतिक दृष्टिकोण से सत्य का अर्थ केवल सत्य बोलना ही नहीं, अपितु विचार, कर्म, वचन तीनों से सत्य का पालन करना है। गांधी के अनुसार सत्य हमारी अंतरात्मा का सूचक है। अतः सत्य पालन का अर्थ है—अपनी अंतरात्मा के आदर्शों का पालन करना। गांधी सत्याग्रही के लिये सत्य का पालन आवश्यक मानते थे और सत्य की साधना के लिए निस्वार्थ जीवन व्यतीत करना और तपस्या अनिवार्य होता है।
- **अहिंसा**— गांधी ने सत्य की तरह अहिंसा पालन पर भी बल दिया। गांधी की दृष्टि में क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष व स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी भी प्राणी को अपने मन वचन कर्म द्वारा किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाने का विचार न करना अहिंसा है। इस निषेधात्मक अर्थ के साथ-साथ विधेयात्मक रूप में सभी प्राणियों के साथ प्रेम, दया, सहानुभूति रखना अहिंसा है। गांधी के अनुसार सत्याग्रही अहिंसा की शक्ति के आधार पर ही सत्याग्रह कर सकता है।
- **अस्तेय**— अस्तेय का शाब्दिक अर्थ है—चोरी न करना। लेकिन गांधी इसे व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए शारीरिक, मानसिक, वैचारिक या बौद्धिक चोरी से दूर रहने को अस्तेय व्रत की संज्ञा देते हैं। सत्याग्रही के लिए आवश्यक है कि वह अस्तेय व्रत का पालन करे। गांधी का विचार था कि अस्तेय का आचरण किये बिना सत्य-अहिंसा का आचरण करना कठिन है। इसलिए उन्होंने अस्तेय को भी अनिवार्य नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया।
- **अपरिग्रह**—गांधी सत्य, अहिंसा के पालन के लिये अस्तेय के साथ अपरिग्रह का भी निष्ठापूर्वक पालन करना अनिवार्य मानते थे। अपरिग्रह का अर्थ है—सुख भोग के लिये आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संचय न करना और उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति न रखना। सत्याग्रही को अपरिग्रह व्रत का पालन करना चाहिये व धीरे-धीरे अपनी आवश्यकताओं को कम करते हुए पूर्ण अपरिग्रही बनने का प्रयास करते हुए जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।
- **शरीर श्रम**— अपरिग्रह की तरह शरीर श्रम भी अस्तेय से सम्बन्धित है। गांधी का विचार था कि जो व्यक्ति बिना शरीर श्रम किये भोजन करता है, वह चोर है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शरीर श्रम करना चाहिये। सत्याग्रही के लिये भी शरीर श्रम अनिवार्य था। गांधी शरीर श्रम के इस सिद्धान्त के द्वारा समाज में समानता की स्थापना करना चाहते थे।
- **ब्रह्मचर्य**— गांधी ने सत्य अहिंसा के साथ सत्याग्रही के लिये ब्रह्मचर्य के पालन को आवश्यक माना। ब्रह्मचर्य इन्द्रिय निग्रह व आत्म संयम का द्योतक है। इन्द्रिय निग्रह व आत्म संयम के कारण सत्याग्रही में अपने भावों संवेगों के नियंत्रण की क्षमता विकसित होती है। इसके साथ ही ब्रह्मचर्य सार्वभौमिक प्रेम भावना के विकास को भी अवकाश प्रदान करती है।
- **अस्वाद**— गांधी ने अस्वाद को भी अपने व्रतों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए सत्याग्रही के लिये अस्वाद व्रत का पालन आवश्यक माना। अस्वाद का अर्थ है—स्वाद न लेना अर्थात् स्वादेन्द्रिय को वश में करना। गांधी अन्य इन्द्रियों के साथ-साथ स्वादेन्द्रिय को वश में करना आवश्यक मानते थे। स्वादेन्द्रिय पर नियंत्रण रखकर व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन आसानी से कर सकता है।
- **स्वदेशी**— स्वदेशी से गांधी का तात्पर्य है—दूसरे देशों की तुलना में अपने देश की सेवा करना व संकुचित अर्थ में अपने निकटतम की सेवा करना। गांधी के अनुसार व्यक्ति अपने समीप की वस्तुओं के उपयोग व पड़ोसी के सेवा का व्रत लेता है। यदि सभी इस व्रत का संकल्प लें तो सार्वभौम सेवा की प्राप्ति होती है। गांधी सत्याग्रही की संकल्पशक्ति बढ़ाने के लिये व सार्वभौम प्रेम की अनुभूति के लिए इस व्रत के पालन को आवश्यक मानते थे। गांधी के अनुसार इस व्रत के पालन से नैतिक ही नहीं, सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक व आर्थिक विकास भी सुनिश्चित हो जाता है।

- **अस्पृश्यता निवारण**— गांधी अस्पृश्यता को मानव समाज के कलंक के रूप में स्वीकारते थे तथा मानते थे कि यदि सभी मनुष्यों के अंतर्गत आध्यात्मिक एकता स्थापित कर दी जाये तो इस बुराई का निराकरण संभव है। ऐसा तभी संभव है जब व्यक्ति में दूसरों के प्रति समभाव जागे। अस्पृश्यता में अहिंसा धर्म व सर्वभूतात्मकता का निषेध हो जाता है। अतः अहिंसा व पूर्ण सकारात्मक भावों के विकास के लिये सत्याग्रही के लिये इस व्रत का पालन आवश्यक है।
- **सर्वधर्म समभाव**— गांधी मानते थे कि सभी धर्म समान हैं व एक ही वृक्ष की अनन्त शाखाएं हैं, जो व्यक्ति किसी धर्म का अपमान करता है वह ईश्वर के अस्तित्व को नकारता है। सभी धर्मों का सार एक ही है। सत्याग्रही के लिये आवश्यक है कि वह सर्वधर्म समभाव का पालन करे, तभी वह सत्य-अहिंसा की रक्षा कर सकता है।
- **अभय**— सत्य-अहिंसा का पालन अभय के बिना नहीं हो सकता है। जो व्यक्ति अपने मन के विकारों के अतिरिक्त अन्य आपत्तियों का भय रखता है, वह सत्य अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इसलिये दैवीय गुणों में प्राप्त करने योग्य अभय पहला गुण है। अतः उच्च गुणों के विकास हेतु निर्भयता का चिंतन व शिक्षा आवश्यक है।

4.2.2 तात्त्विक मान्यता

तात्त्विक मान्यता के अनुसार प्रत्येक सत्याग्रह का ईश्वर में अटूट विश्वास होना आवश्यक है अर्थात् ईश्वर के नाम पर अपने समस्त सिद्धांतों की पुष्टि करने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। ईश्वर में विश्वास का तात्पर्य यह नहीं कि सभी एक ही ईश्वर या ईश्वर के एक ही स्वरूप में विश्वास करे। प्रत्येक व्यक्ति की ईश्वर की परिभाषा भिन्न-भिन्न हो सकती है, अतः आवश्यक यह है कि सत्याग्रही अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखे। क्योंकि गांधी की मान्यता थी कि सभी प्रकार की पीड़ाओं को बिना किसी प्रतिकार की भावना के बिना सहना असंभव है। ईश्वर विश्वास से ही इन पीड़ाओं को सहने की शक्ति आती है।

गांधी की ईश्वर सम्बन्धी कल्पना इतनी व्यापक थी कि उसमें ईश्वर में विश्वास न करने वाले भी समाहित हो जाते थे। गांधी के अनुसार जो मानवता में विश्वास रखता है, समाज व्यवस्था में विश्वास रखता है वह भी अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकारता है, फलस्वरूप वह भी सत्याग्रही हो सकता है।

4.2.3 मनोवैज्ञानिक मान्यता

सत्याग्रह की मनोवैज्ञानिक मान्यता के अनुसार सत्याग्रही को मानसिक रूप से लोभ, स्वार्थ, घृणा, क्रोध आदि के स्थान पर प्रेम, सहयोग, करुणा, हर्ष त्याग के द्वारा व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन करना होता है। यद्यपि हृदय परिवर्तन के लिये इन मनोवैज्ञानिक उपायों का सहयोग लिया जाता है, किंतु गंभीर रूप से विचार करने पर इन सबका आधार नैतिकता सिद्ध होती है।

गांधी ने सत्याग्रही के लिये निम्न नियमों का पालन करना आवश्यक बताया गया है—

- सत्याग्रही को क्रोध का परित्याग व अक्रोध का पालन करना चाहिये, क्योंकि क्रोधी व्यक्ति से सत्याग्रह पालन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोध में व्यक्ति कोई भी अनैतिक कार्य कर सकता है।
- सत्याग्रही को सहिष्णु होना आवश्यक है। उसमें शत्रु के क्रोध व प्रहार सहन करने की क्षमता होनी चाहिए। और यदि वह प्रतिकार करे भी तो उसे अहिंसक अस्त्र का प्रयोग करना चाहिए।
- राजनैतिक सत्याग्रही को स्वेच्छा से शासन द्वारा बंदी होने के लिये तैयार होना चाहिये और अपनी सम्पत्ति इत्यादि के अपहरण में भी किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये।
- सत्याग्रही को स्वयं को अपमान से दूर रखना चाहिये तथा प्रतिपक्षी को अपमानित नहीं करना चाहिये। यदि संघर्ष की अवधि में कोई प्रतिपक्षी को अपमानित करता है तो उसे प्रतिपक्षी की सुरक्षा में आनी जान की बाजी लगा देनी चाहिए।
- कैद होने पर जेल के सभी नियमों का पालन करना चाहिए।

- बिना किसी हिचकिचाहट के सत्याग्रह के नेता के आदेशों का पालन करना चाहिए।
- सत्याग्रही को जाति, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव से उपर उठकर कार्य करना चाहिए व किसी साम्प्रदायिक दंगे का कारण नहीं बनना चाहिये।
- सत्याग्रही को अपने स्वार्थ से दूर रहना चाहिये तथा अपने आश्रितों के लिये भत्तों की मांग नहीं करनी चाहिये।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि सत्याग्रही को सत्य अहिंसा का पालन धर्म के रूप में करना पड़ता है। मानव की मूलभूत अच्छाइयों में विश्वास रखकर अपने प्रेम व आत्मपीड़ा के द्वारा दूसरों के हृदय को जगाना पड़ता है। सत्याग्रही का अपने उद्देश्यों के लिये अपना सम्पत्ति के साथ-साथ अपने प्राण तक छोड़ने के लिये तैयार रहना पड़ता है। इसके साथ ही सत्याग्रही को यह ध्यान भी देना पड़ता है कि वह स्वयं को समाज का एक आदर्श व्यक्ति व सच्चा सेवक होने का दावा कर सके। इसके लिये गांधी के अनुसार एकादश व्रतों के पालन के अलावा उसे रचनात्मक कार्यक्रमों में भी भाग लेना आवश्यक होता है। इस प्रकार गांधी मानते थे कि सत्याग्रह एक प्रकार की प्रगतिशील शैक्षणिक प्रक्रिया है, जिसका विकास धीरे-धीरे होता है।

4.3 सत्याग्रह की प्रक्रिया

सत्याग्रह की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं—प्रथम आंदोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्याय का प्रतिकार अहिंसक प्रक्रिया के द्वारा करता है। आर.आर. दिवाकर ने इसे "Aggressive Satyagraha" का नाम दिया। दूसरा सोपान है—भावात्मक प्रक्रिया, जिसमें समाज की सेवा रूपी रचनात्मक कार्यक्रम होता है इसे "Constructive Satyagraha" का नाम दिया गया। तीसरी प्रक्रिया है—मूल्य परिवर्तनात्मक प्रक्रिया, जिसमें समाज व सत्याग्रही का मूल्य परिवर्तन होता है।

4.3.1 आंदोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया

यह सत्याग्रह की पहली प्रक्रिया है। अधिकांशतः सत्याग्रह को इसी प्रक्रिया तक सीमित समझ लिया जाता है। लेकिन यह पूर्ण सत्याग्रह न होकर उसका एक भाग है। इस प्रक्रिया के पीछे डॉ. हरिद्वार राय के अनुसार चार विचार हैं—पहला संसार में कुछ गलतियाँ या अव्यवस्थाएँ हैं, दूसरा इन पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है, तीसरा हिंसा के द्वारा इन पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती है। तथा इन पर विजय शुभ संकल्प से प्रेरित होकर ही पाई जा सकती है। इन चारों विचारों से यह स्पष्ट होता है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया समाज में प्रचलित बुराइयों से संघर्ष करने से आरंभ होती है। इन बुराइयों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक या धार्मिक कोई भी बुराई हो सकती है। इस संघर्ष में व्यक्ति, समुदाय, समाज या राष्ट्र कोई भी भाग ले सकता है। इस प्रकार सत्याग्रह यहां पर एक आंदोलन या संघर्ष की अहिंसक प्रक्रिया के रूप में हमारे सामने आता है।

सत्याग्रह किसके द्वारा किया जाये? इस सम्बन्ध में गांधी की मान्यता थी कि संघर्ष किसी भी व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। जो व्यक्ति संघर्ष को अहिंसात्मक प्रक्रिया के आधार पर करता है, सत्याग्रही के रूप में जाना जाता है। यह संघर्ष या सत्याग्रह व्यक्ति, समुदाय, समाज या राष्ट्र किसी के भी द्वारा किया जा सकता है। इस आधार पर सत्याग्रह के विविध रूप बन जाते हैं यथा—

- **व्यक्तिगत सत्याग्रह**— जब सत्याग्रह का प्रयोग किसी व्यक्ति द्वारा उसके जीवन में होने वाले अन्याय के विरुद्ध किया जाता है, वह व्यक्तिगत सत्याग्रह कहलाता है। व्यक्तिगत सत्याग्रह किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी के भी प्रति किया जा सकता है।
- **सामुदायिक सत्याग्रह**— यहां पर एक समुदाय किसी दूसरे समुदाय या अन्यायी व्यक्ति के अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार करता है। जब किसी समुदाय द्वारा किसी व्यक्तिविशेष या राष्ट्र के अत्याचार का अहिंसक तरीके से प्रतिकार किया जाता है वह सामुदायिक सत्याग्रह की श्रेणी में आता है।
- **राष्ट्रीय सत्याग्रह**— सत्याग्रह राष्ट्रीय जीवन में भी शोषण के खिलाफ अहिंसक प्रतिकार की पद्धति है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग स्वयं गांधी ने किया था। जब किसी व्यक्ति या शासन का अन्याय इतना बढ़ जाता है कि उस क्षेत्र में रहने वाले सभी लोग उसका प्रतिकार अहिंसक तरीके से करते हैं तो उसे राष्ट्रीय सत्याग्रह की संज्ञा दी जाती है।

- **अंतर्राष्ट्रीय सत्याग्रह**— जब कोई शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे देश पर अत्याचार करे, तो ऐसी परिस्थिति में विश्व के अनेक राष्ट्र मिलकर उसकी भर्त्सना कर उसका अहिंसात्मक तरीके से प्रतिकार करते हैं, यह अंतर्राष्ट्रीय सत्याग्रह कहलाता है।

4.3.2 संघर्ष विधि

सत्याग्रह में संघर्ष विधि की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। गांधी ने आंदोलनात्मक प्रक्रिया के अंतर्गत प्रतिरोध की विभिन्न क्रियाओं का उल्लेख किया था जिनका प्रयोग किसी भी क्षेत्र में अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध प्रतिकार हेतु किया जा सकता है।

4.3.2.1 असहयोग

अहिंसक प्रतिकार की सबसे सरल विधि है असहयोग। यदि कोई विशेष प्रकार की राजनैतिक, आर्थिक या राजनैतिक व्यवस्था अन्याय व शोषण का बढ़ावा देती है तो इसके उन्मूलन का सबसे सरल उपाय है—असहयोग के आधार पर पुराने सम्बन्धों का समाप्त करना व नई व्यवस्था में सहयोग देना। गांधी की मान्यता थी कि सभी प्रकार के सामाजिक व राजनैतिक सम्बन्ध आपसी सहयोग पर आधारित होते हैं। शोषण के लिये केवल शोषक या उत्पीड़क को ही पूर्णतः दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। शोषित भी शोषण के लिये समान रूप से जिम्मेदार होता है। शोषण शोषित की बाह्य इच्छा व सहयोग पर आधारित होता है। यदि सभी लोग शोषक के साथ सहयोग बंद कर दे या उसकी आज्ञा पालन बंद कर दे, तो शोषण नहीं हो सकता है। इसलिए गांधी बुराई व अन्याय से असहयोग करने के लिये शोषित को प्रेरित करते हैं। असहयोग व्यक्तिगत व राजनैतिक दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि असहयोग सरकार के विरुद्ध करना हो तो सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करना बंद करना होगा। इसके पश्चात् सरकारी नियंत्रण से मुक्त होकर, उसकी सुविधाओं से स्वतंत्र होकर असहयोग होने की भावना से छुटकारा पाना होता है। जब सरकार को जनता का सहयोग मिलना बंद हो जाएगा तो उसका अन्याय अत्याचार स्वतः जड़े छोड़ देगा।

गांधी के अनुसार असहयोग एक तत्त्वतः शोधन प्रक्रिया है। यह रोग के लक्षणों से अधिक कारण का उपचार करती है। यह एक ऐसा आंदोलन है जिसका उद्देश्य ऐसे सामाजिक/राजनीतिक/आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना है जो हमारे आत्मसम्मान व गौरव के अनुकूल हो तथा जिनकी स्थापना व संचालन में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। यह अहिंसा का गतिशील रूप है जिसका अर्थ है सचेत कष्ट वरण। असहयोग की उपयोगिता के संदर्भ में गांधी ने कहा है कि यह वह पद्धति है जिसके द्वारा हम मुक्त जनमत का संवर्धन करते हैं और मत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति में बहुमत को कार्यान्वित करते हैं। इस प्रकार असहयोग एक अन्यायमूलक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध जनमत की अभिव्यक्ति है।

असहयोग के संदर्भ में गांधी इस बात पर ध्यान देना आवश्यक समझते थे कि अपने उद्देश्यों की पूर्ति में किसी व्यक्ति व सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहिये, न ही नुकसान पहुंचाने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। असहयोग के लिये जनता का परस्पर सहयोग आवश्यक है। असहयोग अहिंसक हो इसके लिये यह भी आवश्यक है कि असहयोगी (सत्याग्रही) मतभेदों के प्रति सहिष्णु रहे तथा विभिन्न मतानुयायियों की स्वतंत्रता की भी उसी प्रकार रक्षा की जाए जैसी कि उनसे अपेक्षा की जाती है।

इस सत्याग्रह के क्रांतिकारी रूप की कोई सीमा नहीं है। व्यक्ति, समुदाय और जनसमूह सभी इसका सहारा ले सकते हैं। गांधी मानते थे कि मुट्ठी भर अंग्रेज भारतीयों के सहयोग से ही उन पर शासन कर पाये थे। और अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध 1932 व 1942 में असहयोग आंदोलन का आह्वान किया था व सफलता भी प्राप्त की। असहयोग के सहयोग के लिये अन्य अहिंसक साधनों का सहारा लिया जाता है जैसे हड़ताल, बहिष्कार, धरना आदि।

4.3.2.2 हड़ताल

यह असहयोग का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। अहिंसक प्रतिकार या असहयोग के अंतर्गत अन्यायपूर्ण नीतियों के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिये व्यवसाय को कुछ समय के लिये बंद करने की स्थिति को हड़ताल कहते हैं। इसके अंतर्गत न केवल अपनी निजी नौकरी, व्यवसाय आदि का बंद

करना शामिल है, वरन् विद्यालय, महाविद्यालय आदि बंद करना भी शामिल है। यह प्रायः सांकेतिक होती है। इसका उद्देश्य होता है—जनता व सरकार के मन को प्रभावित करना।

गांधी ने इसका प्रयोग सर्वप्रथम 1918 में अहमदाबाद में श्रमिकों के हितों के लिये किया। उन्होंने मिल के कर्मचारियों को शपथ दिलवाई कि जब तक उनकी शिकायतें दूर नहीं की जाती, तब तक वे काम पर नहीं लौटेंगे। इस हड़ताल में गांधी को उनके समुचित अधिकारों को दिलवाने में सफलता भी मिली थी।

गांधी ने इस साधन का प्रयोग बड़ी सावधानी से करने की सलाह दी थी। उनके अनुसार हड़ताल स्वेच्छा से की जानी चाहिये। इसमें हिंसा का प्रयोग कतई नहीं होना चाहिये। वे न्यायपूर्ण व औचित्यपूर्ण शिकायतों को दूर करने के लिये हड़ताल करने के विरोधी नहीं थे, लेकिन सरकार को परेशान करने के लिये तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों के साथ अपनी नाजायज मांगों को मनवाने के लिये हड़ताल के प्रयोग के विरुद्ध थे। वे मानते थे कि ये बार-बार नहीं होनी चाहिये।

गांधी के अनुसार हड़ताल करने की छूट उन कर्मचारियों को बिलकुल नहीं दी जानी चाहिये जो जन उपयोगी सेवाओं से जुड़े हुए हों, क्योंकि उनके हड़ताल पर जाने से सामान्य जनजीवन पर नकारात्मक असर होगा और उनका जीवन ठप्प हो जाएगा, जैसे रेलवे, बैंक, कारखाने, चिकित्सा सेवाएं, पुलिस आदि कार्यों में लगे कर्मचारी, जिनके काम पर न जाने से न केवल देश को आर्थिक हानि होगी, बल्कि आम आदमी भी परेशानी में पड़ जाएगा। मूलतः हड़ताल का प्रयोग औद्योगिक विवादों में होता है किंतु अब इसका प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी होने लग गया है।

4.3.2.3 बहिष्कार

यह असहयोग का ही रूप है, जिसमें सरकारी नीतियों के विरोधस्वरूप उपाधियों, सम्मानित पदों, सरकारी संस्थाओं में आने-जाने, सरकारी उत्सवों में भाग लेने, अदालतों, सरकारी स्कूलों में जाने, निर्वाचित होने व वोट देने का त्याग किया जाता है। इस प्रकार बहिष्कार कार्यक्रम चलाकर सरकार के विरुद्ध असंतोष व्यक्त कर उस पर दबाव बनाया जाता है ताकि वह अपनी अन्यायपूर्ण नीतियों को न्यायपूर्ण बनाने के लिये बाध्य हो सके।

गांधी का कहना था कि यदि कोई पिता भी अन्याय करता है तो बच्चों का कर्तव्य है कि वह पैतृक छत्रछाया को छोड़ दे। इसी प्रकार यदि सरकार प्रजा के साथ अन्याय करती है तो प्रजा को विरोध स्वरूप उसका बहिष्कार कर उसका असहयोग करना चाहिए। सामान्यतः बहिष्कार के दो रूप प्रकट होते हैं—

- सामाजिक बहिष्कार,
- आर्थिक बहिष्कार।

जो लोग जनमत की अवहेलना करते हैं, उन लोगों का बहिष्कार करना सामाजिक बहिष्कार कहलाता है। गांधी के अनुसार जो लोग अल्पमत या सैद्धान्तिक कारणों से नहीं, अपितु केवल अवज्ञा के कारण या उससे भी अपकृष्ट कारणों से जनमत की अवहेलना करते हैं, उनका सहयोग नहीं करते उनके प्रति सामाजिक बहिष्कार किया जाना चाहिये। इसका प्रयोग बहुत मर्यादित रूप में किया जाना चाहिये। बहिष्कृत व्यक्ति को समाज की आवश्यक सेवाओं से वंचित नहीं किया जाना चाहिये। बहिष्कार तभी उपयोगी हो सकता है जब व्यक्ति उसे दण्ड की तरह नहीं, बल्कि अनुशासनात्मक कार्य की तरह स्वीकार करे और यह तभी संभव जब होगा जब बहिष्कार अहिंसात्मक हो और उसमें अमानवता की गंध न आवे। आर्थिक बहिष्कार में आर्थिक सेवाओं व वस्तुओं का बहिष्कार किया जाता है।

4.3.2.4 धरना

अहिंसक प्रतिरोध के अंतर्गत धरना असहयोग का ही एक रूप है। इस प्रविधि का प्रयोग आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दबाव डालने के लिये किया जाता है। इसका उद्देश्य सरकार पर दबाव डालकर, लोगों के बीच राजनैतिक चेतना व स्वदेशी चेतना को जागृत करना है। गांधी ने धरने के अहिंसक स्वरूप को स्वीकार किया था, जिसमें हिंसात्मक कार्य नहीं किये जाते थे तथा किसी के रास्ते को रोककर दबाव नहीं डाला जाता। अहिंसक धरने पर बैठने वाले लोगों से यह अपेक्षा की जाती है कि

वे जनमत को जगाएँ, उपयुक्त वातावरण का निर्माण करे व हृदय परिवर्तन के द्वारा प्रतिपक्षी को वस्तुस्थिति से अवगत कराये। इस प्रकार के धरने का प्रयोग मुख्यतः आर्थिक बहिष्कार के लिये किया जाता है। इस धरने में धमकाने, बल प्रयोग करने, भूख हड़ताल करने तथा अशिष्टता दिखाने के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिए। धरने में उपवास तभी किया जा सकता है जब करार भंग किया गया हो और दोनों पक्षों में पारस्परिक सम्मान व प्रेम की भावना न हो। गांधी ने इसका प्रयोग 1907 में अफ्रीका में व 1920-22 व 1930 में भारत में किया।

4.3.2.5 प्रदर्शन

सत्याग्रह की विधियों में प्रदर्शन भी एक महत्वपूर्ण विधि है। प्रतिपक्षी सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों के विरोधस्वरूप शिक्षित लोगों या लोगों के समूह को संगठित कर, प्रतिकारात्मक रूप से विरोध का प्रदर्शन करना प्रदर्शन कहलाता है। प्रदर्शन के अंतर्गत मुख्य रूप से जुलूस, नारेबाजी आदि को सम्मिलित किया जाता है। गांधी ने इसका प्रयोग 1908 में दक्षिण अफ्रीका में रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट एक्ट को जलाने के लिये, जलियावालाबाग हत्याकाण्ड के विरोध में, दाण्डी यात्रा के रूप में 1932 में द्वितीय असहयोग आंदोलन व 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के समय किया था।

4.3.2.6 हिजरत

हिजरत का अर्थ है—अपने स्थायी या परम्परागत निवास स्थान को स्वेच्छा से छोड़कर दूसरे स्थान या अन्यत्र कहीं चले जाना। अर्थात् जब किसी स्थान पर आत्मसम्मानपूर्वक नहीं रहा जा सके, तब उस स्थान को त्यागकर अन्य जगह पर चले जाना हिजरत कहलाता है। गांधी ने हिजरत की सिफारिश उन लोगों के लिये की जो यह महसूस करते हैं कि उनके साथ अत्याचार हो रहा है और वे उस स्थान पर आत्मसम्मान के साथ नहीं रह पा रहे हो। जो अन्याय के विरोध में न तो सत्याग्रह का नैतिक बल रखते हो और न ही हिंसा के प्रतिकार का साहस रखते हो, उन लोगों के लिये वह स्थान त्याग देना ही उचित है। ऐसे लोगों के लिये हिजरत का मार्ग अपनाने की सलाह गांधी जी ने दी है। गांधी के अनुसार, हिजरत असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने का अहिंसक मार्ग है, न कि कायरता का।

अतीत में उग्र अत्याचार से पीड़ित इजराइली जनता ने हिजरत का प्रयोग किया था। गांधी ने आत्मसम्मान की रक्षा में 1928 में बारडोली के सत्याग्रहियों को ओर 1939 में लिम्बडी, जूनागढ़ विद्रोहियों की जनता को हिजरत का साधन अपनाने की सलाह दी थी। 1935 में उन्होंने कैथा हरिजनों का अपना घर छोड़ने की सम्मति दी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू नियमित रूप से आतंक फैला रहे थे और इससे उनमें भय उत्पन्न हो गया था।

4.3.2.7 सविनय अवज्ञा

सविनय अवज्ञा का अर्थ है—अनैतिक कानूनों का उल्लंघन करना। इसमें प्रतिरोध कार्य सविनय अर्थात् अहिंसक रूप से कानून की अवज्ञा करके किया जाता है। यह वास्तव में विनय और विनयभंग का समन्वय है। अर्थात् अहिंसा और प्रतिरोध का सामंजस्य है सविनय अवज्ञा। मनुष्य के नैतिक विकास के लिये बुरे कानूनों का विरोध आवश्यक है, लेकिन समाज व्यवस्था के लिये, जिसके बिना मनुष्य का जीवन व विकास संभव नहीं है, विनय भी आवश्यक है। अवज्ञा शब्द स्वतः ही विनाशक व समाज विरोधी है, लेकिन उससे भी निकृष्ट कार्य है—अनैतिक कानूनों का पालन। मनुष्य को उन्हीं कानूनों का पालन करना चाहिये जो नैतिक रूप से करने योग्य हो। जब व्यक्ति वैधानिक साधनों से अनैतिक कानूनों को रद्द नहीं करा सके तो अपनी अंतरात्मा के प्रति निष्ठापूर्ण बने रहने के लिए आवश्यक है कि वह उस कानून की अवज्ञा कर दे। लेकिन इस साधन के प्रयोग में सविनय पर अधिक बल होना चाहिये। और अवज्ञा सविनय तभी हो सकती है जब उसमें सचाई हो, उसके पीछे कोई दुर्भावना या घृणा का भाव न हो और वह नियंत्रित तथा किसी अच्छे सिद्धान्त पर आधारित हो।

सतही तौर पर यह साधन स्पष्ट रूप से कानून की जानबूझकर अवहेलना प्रतीत होता है, लेकिन गांधी के अनुसार इसका उद्देश्य किसी कानून विशेष का सार्वजनिक तथा सामूहिक रूप से उल्लंघन करके उस कानून की कमियों व त्रुटियों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करना था, जिससे उन कानूनों की कमियों को दूर कर उनकी गुणवत्ता बढ़ाई जा सके ताकि लोग उसका पालन

स्वेच्छा से कर सके, न कि दंड के भय से। इस अवज्ञा को इसी अर्थ में सविनय कहते हैं कि वह सापराध नहीं होती।

गांधी ने सविनय अवज्ञा को दो वर्गों में विभाजित किया था व्यक्तिगत तथा सामूहिक। व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में एक व्यक्ति या व्यक्तियों की निश्चित संख्या या समुदाय द्वारा कानूनों की अवज्ञा है। इसलिये वह निषिद्ध सार्वजनिक सभा, जिसमें प्रवेश के लिये टिकट लेना पड़े, व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा का दृष्टांत है। जबकि वह सभा, जिसमें साधारण जनता बिना किसी टिकट या रूकावट के प्रवेश कर सके, सामूहिक सविनय अवज्ञा का दृष्टांत है। इन दोनों के बीच प्रमुख अंतर यह है कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र इकाई है और उसके पतन का दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता। सामूहिक सविनय अवज्ञा में एक का पतन दूसरों पर बुरा प्रभाव डालता है। सामूहिक प्रतिरोध में नेतृत्व आवश्यक है, जबकि व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोध में व्यक्ति स्वयं अपना नेता होता है। सामूहिक सविनय प्रतिरोध में असफलता संभव है, व्यक्तिगत में सफलता निश्चित है। राज्य सामूहिक सविनय अवज्ञा प्रतिरोध का तो सामना कर सकता है लेकिन किसी भी राज्य में व्यक्तिगत प्रतिरोध का सामना करने की क्षमता नहीं है।

गांधीजी ने सविनय अवज्ञा के दो रूपों का वर्णन किया—रक्षणात्मक व आक्रामणात्मक। आक्रामणात्मक सविनय अवज्ञा राज्य के उन कानूनों की स्वेच्छा से अहिंसक अवज्ञा है, जिनका उल्लंघन करना नैतिक भ्रष्टता नहीं है और यह अवज्ञा राज्य के विद्रोहस्वरूप की जाती है। ऐसे कानूनों से कोई कठिनाई नहीं होती न उन्हें बदलने की आवश्यकता है। इसे गांधी ने अत्यधिक खतरनाक अस्त्र के रूप में वर्णित किया है। रक्षणात्मक सविनय अवज्ञा, ऐसे कानूनों का उल्लंघन है जो कि नैतिक दृष्टि से बुरे हैं व जिनको मानना मानवीय सम्मान व आत्मप्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। वास्तव में, रक्षणात्मक अवज्ञा एक ऐसा कर्तव्य है जिसका पालन उस समय भी करना पड़ता है जबकि विरोधी कठिनाई में हो।

इस प्रकार गांधी के अनुसार सविनय अवज्ञा असहयोग का उग्रतम रूप है। असहयोग के दूसरे साधनों की अपेक्षा यह अधिक उग्र व शीघ्रगामी भी है। अतएव इसके प्रयोग में सतर्कता का व्यवहार करना पड़ता है क्योंकि इसमें खतरा होने की आशंका रहती है। गांधी के अनुसार प्रयोग कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही हो सकता है।

4.3.2.8 आत्मपीड़न

सत्याग्रह की विधियों में कुछ विधियां प्रतिरोध के रूप में कार्य करती हैं तथा कुछ प्रक्रियाएं प्रतिपक्षी के हृदय परिवर्तन के द्वारा सत्याग्रह की प्रक्रिया को निष्पन्न करती हैं, जिनमें प्रमुख है—आत्मपीड़न। आत्मपीड़न का सामान्य अर्थ है—आत्मा को कष्ट देना। भारतीय परम्परा में महान उपलब्धियों के लिये साधना और तप के साथ ही आत्मपीड़न को भी आवश्यक समझा जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति किसी भी प्रकार के कष्ट सहन करने की क्षमता विकसित कर सकता है। गांधी ने आत्मपीड़न को साधना के आध्यात्मिक स्तर से उपर उठाकर जीवन के सभी पहलुओं में प्रवेश कराया। व्यक्तिगत मोक्ष के लिये आत्मपीड़न की बात तो भारतीय परम्परा में सामान्य बात है, किंतु सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिये आत्मपीड़न गांधी की समाज को महान् मौलिक देन है।

सत्याग्रह की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में आत्मपीड़न में सत्याग्रही स्वयं को कष्ट देकर विरोधी के प्रति विरोध प्रदर्शित कर उसका हृदय परिवर्तित करने का प्रयास करता है। इसमें विरोधी का नहीं, उसकी अन्यायपूर्ण नीतियों का प्रतिकार किया जाता है। इसमें प्रेम की भावना प्रबल होती है। जब सत्याग्रही आत्मपीड़न करता है तथा दूसरों की पीड़ा में भाग लेता है, तो उसे एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति होती है जो कि बुद्धि से परे की चीज है, इसे गांधी ने हृदयात्मा का ज्ञान कहा है। जब प्रतिपक्षी सत्याग्रही के आत्मपीड़न पर विचार करता है तो उसके हृदय में परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार जब व्यक्ति पीड़ा के द्वारा दूसरे के हृदय में प्रवेश करने की कोशिश करता है तो उसे इस कार्य में काफी सफलता मिलती है। गांधी ने भी जीवन में दक्षिण अफ्रीका में दो बार आत्मपीड़न का प्रयोग किया था।

4.3.2.9 उपवास

सत्याग्रह का सबसे प्रबल शक्तिशाली अस्त्र उपवास है। यह आत्मपीड़न का ही एक रूप है। उपवास में सत्याग्रही स्वयं अहिंसात्मक मार्ग का वरण करके अपने शरीर को कष्ट देकर प्रतिपक्ष का हृदय परिवर्तन करने का प्रयास करता है। उपवास के उद्देश्य भी दो प्रकार हो सकते हैं—दुराग्रह तथा सदाग्रह। दुराग्रहमूलक उपवास में उपवास करने वाला व्यक्ति अन्यायी को सुधारने की दृष्टि से उपवास नहीं करता, अपितु अपनी बातों को स्वीकार कराने के लिये यह धमकी देता है कि यदि उसकी बात नहीं सुनी गई तो भूखे मर जायेंगे। सदाग्रह मूलक उपवास में सद्भावनापूर्वक अन्यायी का हृदय परिवर्तित किया जाता है।

गांधी की दृष्टि में उपवास अन्याय का विरोध तथा अन्यायी के हृदय परिवर्तन का साधन है, किंतु इस अस्त्र का प्रयोग गंभीरता से करना चाहिये। इसका प्रयोग तभी करना चाहिये जब सभी उपलब्ध संवैधानिक तथा सत्याग्रहिक साधन असफल हो जाए और कोई अन्य रास्ता नहीं दिखाई दे। गांधी के अनुसार उपवास के लिये महान आंतरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। जिसमें आंतरिक शक्ति नहीं है उसे इसका नाम भी नहीं लेना चाहिये। इस अस्त्र का प्रयोग उपवास कला में दक्ष व्यक्तियों द्वारा या किसी व्यक्ति विशेष के निरीक्षण में ही हो सकता है। उपवास के लिये शारीरिक क्षमता का कोई महत्त्व नहीं है। उपवास के लिए सत्याग्रही में अंतर्दृष्टि, आध्यात्मिक एकता तथा ईश्वर में जीवित श्रद्धा अनिवार्य है। सत्याग्रही में दृढ़ निश्चय, ध्येय की एकाग्रता, असीम धैर्य तथा शांति का होना भी अत्यावश्यक है। उपवास में सबसे बड़ी बात यह है कि वो सत्याग्रही की त्याग की भावना का प्रतीक है न कि अपने प्रतिपक्षी पर दबाव डालने का। गांधी ने अपने जीवन में कुल सत्रह बार उपवास किया और वे कुल मिलाकर 138 दिन उपवास पर रहे थे। उपवास उन्होंने मुख्यतः आत्मशुद्धि के लिये, हिंसक घटनाओं को रोकने के लिये, साम्प्रदायिक दंगों को रोकने तथा हरिजनों पर होने वाले अत्याचारों पर क्षोभ प्रकट करने के लिये किये और जहां तक उनके तात्कालिक प्रभाव का प्रश्न है, उसमें वह पूरी तरह सफल हुए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गांधी के सत्याग्रह की आंदोलनात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य समाज के दोषों का निवारण करना ही है। गांधी के अनुसार सत्य, अहिंसा, प्रेम, न्याय, स्वतंत्रता आदि की स्थिति में सत्याग्रह की इन विधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु, इसके विपरीत जहां पर अत्याचार, हिंसा, भय, परतंत्रता आदि होते हैं वहां पर व्यक्ति, समूह, समुदाय, राष्ट्र य अंतर्राष्ट्र को सत्याग्रह का सहारा लेना पड़ता है। सत्याग्रह इन संघर्षात्मक प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं है। इन प्रक्रियाओं के बाद भी यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अहिंसा की अवधारणा को समझाते हुए आधुनिक संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सत्य के विभिन्न प्रकारों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
2. सत्याग्रह की आधारभूत मान्यताओं का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट रूप है—
 अ. जागृत अहिंसा ब. व्यवहारिक अहिंसा
 स. कायरों की अहिंसा द. इनमें से कोई नहीं
2. राजनीति के क्षेत्र में गांधी द्वारा किया गया सत्य का प्रयोग था—
 अ. सर्वोदय ब. सत्याग्रह

- M.A. NVP (P)/P-III/136

इकाई 5
गांधी के राजनैतिक विचार

अ. राज्य की अवधारणा

ब. प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण

स. पंचायती राज

द. राजनीति का अध्यात्मीकरण

इ. अधिकार और कर्तव्य

फ. गांधी के राजनैतिक विचारों का मूल्यांकन और प्रासंगिकता
उद्देश्य

1. गांधी के प्रमुख राजनैतिक विचारों का परिचय प्राप्त करना।
2. पंचायती राज व्यवस्था का अध्ययन करना।
3. गांधी के राजनैतिक विचारों की प्रासंगिकता स्पष्ट करना।

संरचना

1. राज्य की अवधारणा
 - 1.1 गांधी का स्वराज्य
 - 1.2 अहिंसक राज्य
 - 1.3 स्वतंत्रता आधारित राज-व्यवस्था
 - 1.3.1 गांधी के दृष्टिकोण में स्वतंत्रता
 - 1.4 राज्य का विकेन्द्रित संगठन
 - 1.5 स्वराज्य की सामाजिक संरचना
2. प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण
 - 2.1 ग्रामीण व्यवस्था : प्रजातंत्र का प्रारूप
 - 2.2 विकेन्द्रीकरण : मानवता की प्रतिष्ठा का साधन
 - 2.3 सत्ता का विकेन्द्रीकरण
 - 2.4 प्रजातंत्र : प्रतिनिधित्व एवं जनमत
 - 2.5 प्रजातंत्र : अहिंसा और दण्ड
 - 2.6 आध्यात्मिक प्रजातंत्र
3. पंचायती राज व्यवस्था
 - 3.1 पंचायती राज की पृष्ठभूमि
 - 3.2 पंचायती राज का स्वरूप
 - 3.3 पंचायती राज अपनाने के सिद्धान्त
 - 3.4 पंचायती राज का व्यावहारिक पक्ष
 - 3.5 पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था

- 3.5.1 करों से प्राप्त आय
- 3.5.2 आय के अन्य स्रोत
- 3.5.3 गैर-कर राजस्व
- 3.5.4 अनुदान द्वारा प्राप्त आमदनी
- 3.6 ग्राम पंचायत : एक परिप्रेक्ष्य
- 4. राजनीति का अध्यात्मीकरण
 - 4.1 धर्म और राज्य का सम्बन्ध
 - 4.2 नैतिक राजनीति
 - 4.3 सत्ता राजनीति बनाम लोकनीति
- 5. अधिकार और कर्तव्य
 - 5.1 गांधी दृष्टि में अधिकार और कर्तव्य
 - 5.2 अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध
- 6. गाँधी के राजनैतिक विचारों का मूल्यांकन और प्रासंगिकता

1. राज्य की अवधारणा

मानव जीवन को समग्रता से प्रभावित करने वाली सामाजिक संस्थाओं में राज्य एक महत्वपूर्ण संस्था है, जिसके सिद्धान्तों व व्यवस्थाओं की श्रेष्ठता व न्यूनता पर मानव जीवन की श्रेष्ठता व न्यूनता काफी सीमा तक आधारित है। राज्य के संबंध में विचारक भिन्न-भिन्न मान्यता प्रस्तुत करते हैं। कुछ विद्वान राज्य को एक प्राकृतिक संस्था मानते हैं, कुछ कृत्रिम संस्था। आदर्शवादी विचारक जैसे अरस्तु, कांट, हीगल राज्य को एक अनिवार्य संस्था मानते हैं तथा मानव कल्याण के लिये राज्य अनिवार्य हैं इसी प्रकार हीगल मानते हैं कि मनुष्य का सारा मूल्य और महत्व उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता राज्य में ही संभव है। ग्रीन, ब्रेडले, भी आदर्शवादियों के इसी मत का समर्थन करते हैं। ये राज्य को साध्य मानते हैं। इसके विपरीत कई ऐसे दार्शनिक भी हैं जो यह मानते हैं कि राज्य व्यक्ति के सर्वोच्च उद्देश्यों व हितों की प्राप्ति का साधन मात्र है जिसकी सहायता से व्यक्ति सर्वोत्तम व आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत कर सके। इसके साथ ही कई दार्शनिक राज्य को एक अनिवार्य बुराई मानते हैं व शोषण व दमन का यंत्र मानते हैं। ऐसे अराजकतावादी में कार्ल मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन का नाम प्रमुख है जो कहते हैं कि राज्य शोषण व हिंसा के संगठन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

महात्मा गांधी भी राज्य के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करते थे। वे अराजकतावादी थे तथा राज्य को व्यक्ति के सर्वोत्तम कल्याण के लिये अनिवार्य नहीं मानते थे, अपितु व्यक्ति के सर्वोत्तम कल्याण के लिये राज्य विहीन शासन को आवश्यक मानते थे। राज्य के संबंध में गांधी के विचार टालस्टॉय की भांति अराजकतावादियों से प्रभावित थे लेकिन वे व्यवहारिक आदर्शवादी अराजकतावादी थे। वे राज्य को हिंसा का संगठन मानते थे। इनके अनुसार व्यक्ति में आत्मा होती है, लेकिन राज्य एक जड़ यंत्र मात्र है, इसलिये उसे हिंसा से कभी छुड़ाया नहीं जा सकता है, क्योंकि हिंसा से ही इसका जन्म होता है। यद्यपि हिंसा तो व्यक्ति के द्वारा भी होती है, लेकिन राज्य की संगठित हिंसा से तो वह कम है। गांधी मानते हैं कि राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास को अवरुद्ध करने वाली हिंसात्मक संस्था है, जो मानव व्यक्तित्व को कुठित कर देती है।

महात्मा गांधी किसी भी रूप में राज्य के अस्तित्व के विरोधी थे। उनके अनुसार प्रत्येक राज्य में सरकार सजा का भय दिखलाकर नागरिकों से थोड़े बहुत काम करवाती है और उनको कानून के अनुसार चलने के लिये मजबूर करती है। सरकारी सत्ता के भय के कारण नागरिकों के काम नीतिपूर्ण नहीं रह जाते। गांधी के शब्दों में "कोई भी कार्य, जब तक वह स्वेच्छापूर्ण न किया गया हो, नैतिक नहीं कहा जा सकता। जब तक हम मशीनों की तरह कार्य करते हैं तक तक नीति का सवाद ही पैदा

नहीं होता। किसी कार्य को नैतिक बनाने या कहने के लिये आवश्यक है कि वह जानबूझकर नैतिक कर्तव्य के रूप में किया गया हो।” गांधी कहते हैं कि “मैं राज्य शक्ति की वृद्धि को अधिक से अधिक डर के साथ देखता हूँ क्योंकि मालूम चाहे यह पड़ता हो कि राज्य शोषण को कम से कम करके लाभ पहुंचा रहा हो पर वह मनुष्य के व्यक्तित्व का, जो समस्त प्रगति का आधार है, विनाश करता है और इस प्रकार मनुष्य जाति को अधिकतम हानि पहुंचाता है। हमें ऐसे बहुत से उदाहरण मालूम हैं जिनमें मनुष्यों ने संरक्षक जैसा बर्ताव किया लेकिन एक भी ऐसा उदाहरण हम नहीं जानते जिसमें राज्य का जीवन निर्धनों के लिये रहा हो।

अन्य सभी राज्य पद्धतियां तो किसी न किसी रूप में दोषपूर्ण मानी जाती हैं लेकिन संसदीय प्रजातंत्र, जो सभी राज्य पद्धतियों में निर्दोष मानी जाती है तथा जो मानव कल्याण का दावा करती है, को भी गांधी दोषपूर्ण मानकर उसकी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार प्रजातंत्र में उपरी तौर पर प्रजा का शासन होता है, उसमें जनता के प्रतिनिधि होते हैं लेकिन वास्तव में उनकी कर्तव्यनिष्ठा या तो अपने परिवार या अपनी पार्टी तक ही सीमित रहती है। जनता के कल्याण के लिये व कुछ नहीं कर पाते हैं। गांधी की राय में यह पद्धति भी हिंसापूर्ण है। इसमें फासिस्टवाद व नाजीवाद छुपे रूप से विद्यमान है। इनकी सभी संस्थाएं अप्रजातांत्रिक व हिंसा से पूर्ण हैं। यहां प्रजातंत्र की आड़ में राजतंत्र और तनाशाही को ही पोषण मिलता है।

सम्प्रभुता व सार्वभौम सत्ता के संबंध में भी गांधी राज्य की अपेक्षा अंतरात्मा की नैतिक शक्ति का प्रधानता देते हैं। गांधी के अनुसार पूर्ण सम्प्रभुता का अनुष्ठान उसी वस्तु में किया जाता है जो स्वयं में एक साध्य हो। परन्तु गांधी के लिये राजनैतिक सत्ता साध्य नहीं है। वह जीवन के प्रत्येक विभाग में लोगों के लिए आपनी हालत सुधारने का एक साधन है। राजनैतिक सत्ता का अर्थ है— राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति। जब राष्ट्रीय जीवन गांधी के अनुसार इतना पूर्ण हो जाए कि वह स्वयं आत्म नियमन कर ले तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय ज्ञान पूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है और हर व्यक्ति स्वयं अपना राजा होता है। और वह इस ढंग से कार्य करता है कि किसी दूसरे के कार्य में बाधक न हो। इसलिये उस आदर्श अवस्था में राजनैतिक सत्ता नहीं होती है न कोई राज्य होता है। इस प्रकार गांधी प्रत्येक व्यक्ति में सार्वभौमिकता को अर्जित करना चाहते थे व राज्य की सार्वभौमिकता का निषेध करते थे।

गांधी मानते हैं कि सत्ता का केन्द्रीकरण सदैव हानिकारक होता है। सत्ता या शक्ति जिस किसी के पास होती है उसे भ्रष्ट बना देती है। राज्य के पास सारी सत्ता व शक्ति केन्द्रित होती है। इसके परिणामस्वरूप कुछ व्यक्ति द्वारा सत्ता पर एकाधिकार कर लिया जाता है और वे मानमाने ढंग से छलकपट द्वारा सत्ता का प्रयोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये करते हैं और जनता का सब तरह से शोषण करते हैं। इन सबको रोकने का एकमात्र उपाय है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए अर्थात् राज्य से सत्ता छीनकर सभी को स्वयं का शासक बना दिया जाए। इस प्रकार गांधी की आदर्श स्थिति उन्हें ऐसी अवस्था में ले जाती है जहां मनुष्य की ही सर्वोत्कृष्ट स्थिति होगी। ऐसी स्थिति में राज्य का पूर्णभाव होगा। गांधी ने अपने इस राजनीतिक आदर्श को राज्याविहीन लोकतंत्र की संज्ञा दी। लेकिन गांधी यह भी स्वीकारते थे कि आदर्श की सिद्धि जीवन में कभी नहीं होती है। आज मनुष्य इतना पूर्ण अवस्था में नहीं पहुंचा है कि वह पूर्ण अहिंसक तरीके से राज्य विहीन शासन में जीव यापन कर सके। जब तक मनुष्य में हिंसा रहेगी तब तक समाज में राज्य का होना भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में गांधी मध्यम मार्ग अपनाते हुए एक सत्य अहिंसा पर आधारित राज्य की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं जिसमें राज्य साध्य न होकर जनता को उसके लक्ष्यपूर्ति में साधन की तरह सहायता प्रदान करेगा। गांधी ने ऐसे राज्य को स्वराज्य या अहिंसक की संज्ञा दी।

1.1 गांधी का स्वराज्य

स्वराज्य शब्द ‘स्व’ तथा ‘राज्य’ इन दो शब्दों से निर्मित है जिसका अर्थ है— अपने उपर शासन करना। स्वराज्य शब्द से बाह्य स्वतंत्रता से अधिक आंतरिक का बोध होता है। इस प्रकार स्वराज्य शब्द का विशेष अर्थ है स्वशासन तथा स्वनियंत्रण, न कि सभी नियंत्रणों से स्वतंत्रता, जो कि प्रायः स्वतंत्रता का अर्थ लगाया जाता है। गांधी मानते थे कि क्योंकि मनुष्य अपने आध्यात्मिक व राजनैतिक स्वभाव के कारण करने की क्षमता रखता है, इसलिये उसे जीवन के हर क्षेत्र में स्वशासन का निर्बाध अवसर

मिलना चाहिए। पूर्ण स्वशासन की अवस्था राज्य की अनपुष्टि में ही संभव है। राज्य विहीन राज्य की स्थिति संभव न हो सकने के कारण गांधी स्वराज का अर्थ ऐसी शासन व्यवस्था में लगाते हैं जो उसके अन्तर्गत रहने वाले लोगों की नैतिक इच्छा के अनुसार हो, जिसका निर्माण सत्य अहिंसा जैसे मूल्यों के आधार पर हो, जिसमें जनता की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भागीदारी हो, जो पूरी तरह उनके प्रति प्रत्यक्ष व्यक्तिगत तथा सामुहिक रूप से उत्तरदायी हो, जो वह सब करे जिसे करने का उसे अधिकार प्रदान किया गया हो, और ऐसा कुछ भी न करे जो जनता के प्रतिकूल हो। गांधी की ऐसी स्वराज की अवधारणा पूरी तरह लोकतंत्रीय थी जैसी अब्राहम लिंकन ने अपने लोकतंत्र की कल्पना में की थी। अर्थात् ऐसी शासन व्यवस्था जो जनता के लिये, जनता के द्वारा, जनता की हो। ऐसी शासन व्यवस्था को ही गांधी ने अहिंसक राज्य या स्वराज्य कहा। गांधी हेनरी डेविड थोरो की इस मान्यता से सहमत थे कि वही शासन व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ होती है जो सबसे कम शासन करती है और जो अपनी पसंद का शासन करने का अधिक से अधिक अवसर देती है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर गांधी ने अपने अहिंसक राज्य या स्वराज्य रूपी महल को खड़ा किया। इस प्रकार अपने नकारात्मक रूप में स्वराज्य से अभिप्राय एक ऐसी सम्प्रभुत्व सम्पन्न शासन व्यवस्था से है जो न केवल जनता द्वारा निर्वाचित तथा अधिकृत हो और उनके जीवन के सभी क्षेत्रों में बिना किसी भेदभाव के कल्याण के लिये कार्यरत हो, बल्कि जो उनके जीवन के सभी क्षेत्रों में बिना किसी भेदभाव के कल्याण के लिये कार्यरत हो, बल्कि जो उनके प्रति संवेदनशील हो तथा प्रत्यक्ष व सामुदायिक रूप से उत्तरदायी भी हो। उस शासन व्यवस्था में जनता द्वारा जनता के लिये शासन की आत्मा बलवती हो, जिसमें चुनौती तथा परिवर्तन की अधिक से अधिक संभावनाएं हो, जो जनता को शासन व्यवस्था में अधिक से अधिक भागीदारी दे, जिसमें सत्ता व संसाधन केन्द्रित न होकर इस प्रकार बंटे हो कि जनता के सबसे करीब के शासन की इकाई के पास अधिकाधिक सत्ता व संसाधन रहे, जिनका प्रयोग वह जनता की प्रत्यक्ष व निरन्तर देख रेख में कर सके, जिससे राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक भ्रष्टाचार की कम से कम संभावनाएं हो। इस प्रकार ऐसे स्वराज्य द्वारा गांधी के विचार में धीरे-धीरे रामराज्य अथवा शासन मुक्त समाज के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

1.2 अहिंसक राज्य

गांधी के अहिंसक राज्य में राज्य का अस्तित्व तो होगा, किन्तु वह एक शक्तिवादी एवं हिंसावादी संस्था के रूप में नहीं होगा। राज्य जनता की सेवा करने वाली संस्था के रूप में कार्य करेगी। सेना, पुलिस, न्यायालय, जेल आदि का प्रयोग जनता में शासन वर्ग का आंतक फैलाने के लिए नहीं किया जायेगा, अपितु राज्य उनका प्रयोग समाज-विरोधी तत्त्वों को सक्रिय होने से रोकने के लिए करेगा। इस बारे में राज्य हिंसात्मक तरीके नहीं अपनायेगा, अपितु सत्याग्रह की भावना का अपनायेगा। वह अपराधी के हृदय परिवर्तन का प्रयास करेगा।

गांधी का अहिंसक राज्य अहिंसा और प्रजातंत्र का संगठन मात्र है। गांधी की राय में हिंसा और प्रजातंत्र साथ-साथ नहीं रह सकते। असत्य और हिंसा द्वारा न तो स्वराज्य की स्थापना की जा सकती है और न सच्चे प्रजातंत्र की। क्योंकि हिंसा के द्वारा विरोधियों का दमन होता है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपमान है। यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रजातंत्र का सार है तो उसकी सुरक्षा व विकास अहिंसा द्वारा ही संभव है। अतः सही अर्थों में प्रजातंत्रवादी बनने के लिए साहसपूर्वक अहिंसा को स्वीकार करना पड़ेगा। गांधी के अनुसार व्यक्ति के समान ही राज्य भी अहिंसा को स्वीकार करना पड़ेगा। गांधी के अनुसार व्यक्ति के समान ही राज्य भी अहिंसा का पालन कर सकता है। अगर राज्य अहिंसक नहीं हो सकता है तो उसके अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं है। शासन का रूप पूर्ण लोकतांत्रिक होगा। सम्पूर्ण जनता के लिए बिना किसी भेद-भाव के वयस्क मताधिकार को स्वीकारा जायेगा। शासन के विभिन्न स्तरों पर जनता की भागीदारी होगी और शासन जनता के प्रति उत्तरदायी होगा। जो प्रतिनिधि अपने दायित्वों को नहीं निबाहेंगे, उन्हें वापस बुलाने का अधिकार जनता के पास होगा। अहिंसक राज्य में दल-विहीन लोकतंत्र होगा और राजनीतिक व आर्थिक सत्ता का पूर्ण विकेन्द्रीकरण किया जायेगा। शासन के सभी स्तरों पर निर्णय का आधार दलगत बहुमत नहीं होगा। अहिंसक राज्य में दल-विहीन लोकतंत्र होगा और राजनीतिक व आर्थिक सत्ता का पूर्ण विकेन्द्रीकरण किया जायेगा। शासन के सभी स्तरों पर निर्णय का आधार दलगत बहुमत नहीं होगा। इस प्रकार अहिंसक राज्य की लोकतांत्रिक शासन प्रणाली आधुनिक पाश्चात्य लोकतंत्र के दोषों से मुक्त होगी और

यह सही मायने में 'जनता का शासन' होगी, जिसे गांधी जी ने सच्चा लोकतंत्र कहा है। इस दृष्टि अहिंसक राज्य की ग्राम गणराज्य व्यवस्था का विशेष महत्त्व है। गांधी के अनुसार सच्चे प्रजातंत्र में पूर्वाग्रह, अज्ञान व अंधविश्वास के लिये कोई स्थान नहीं है। यह पूर्णतः अनुशासन व ज्ञान पर आधारित होता है। इसकी विशेषता है कि सत्ता का अपहरण किये बिना ही राज्यशक्ति को सफलतापूर्वक नियन्त्रित व नियोजित किया जा सकता है।

गांधी धर्म को प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला मानते थे। उसके अनुसार राज्य को धार्मिक मामलों में दखल नहीं देना चाहिए। राज्य की भी अपनी सीमा होता है। वह किसी व्यक्ति पर कोई विचार लाद नहीं सकता है। गांधी के अनुसार अहिंसक राज्य में सभी धर्मों को समान अधिकार प्राप्त होंगे। किसी धर्म को विशेष दर्जा नहीं दिया जाएगा। राज्य का कर्तव्य तो सर्वधर्म समभाव का प्रसार करना होगा तथा सभी धर्मों में निहित नैतिकता का प्रसार व रक्षा करना होगा। इस प्रकार गांधी का स्वराज्य धर्मनिरपेक्षता पर आधारित होगा। गांधी की स्वराज्यवादी राजनैतिक व्यवस्था का उद्देश्य अहिंसक राज्य ईश्वरीय राज्य की स्थापना करना था जिसका तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की कल्याण के लिये समान अवसर उपलब्ध हो, जिसमें सबको न्याय तुरंत, सहजता तथा कम से कम कीमत पर मिले, जिसमें सभी को धर्म पालन, विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिले, और जिसमें नैतिक, सामाजिक व आर्थिक न्याय जनमत के आधार पर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था कायम हो गई तो एक ऐसा माहौल बनेगा जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से कानून का पालन करेगा। गांधी के अनुसार अहिंसक राज्य का उद्देश्य सभी का जीवन के सभी क्षेत्रों में समान रूप से कल्याण होना चाहिए। गांधी ने कहा कि इस कल्याण की शुरुआत जनता के सबसे उपेक्षित व पीड़ित वर्ग से होगी। लेकिन गांधी उत्तरदायित्व राज्य पर नहीं डालते हुए उससे अपेक्षा करते थे कि वह सर्वोदय के आदर्श को समक्ष रखते हुए जीवन के सभी क्षेत्रों में कल्याण के रास्ते में आने वाली बाधाओं एवं रुकावटों को हटाएगा तथा ऐसे समुचित अवसर प्रदान करेगा, जिससे लोग अपने जीवन के मनचाहे क्षेत्रों में अधिकाधिक विकास करते जाएं, लेकिन अंतिम इच्छा व विकल्प चुनने का अधिकार केवल जनता के पास होगा। इससे जनता अधिकाधिक स्वावलंबी व आत्मनिर्भर बनेगी और इस प्रक्रिया में धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ जाएगी जब लोग पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर हो जाएंगे और उन्हें राज्य पर निर्भर रहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इसी अवस्था को गांधी ने रामराज्य का नाम दिया था।

1.3 स्वतंत्रता आधारित राज-व्यवस्था

अहिंसक राज्य की राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था स्वतंत्रता एवं समानता के सिद्धान्तों के आधार पर संगठित की जायेगी। सभी व्यक्तियों को समान रूप से अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होगी। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। किसी को उसके विचारों के लिए दण्डित नहीं किया जायेगा, चाहे उसके विचार हिंसक क्रांति के समर्थक अथवा व्यवस्था विरोधी ही क्यों न हों। ऐसे विचारों का विरोध विचारों की नैतिक शक्ति द्वारा एवं जनमत की शक्ति द्वारा ही किया जायेगा। राज्य की दण्डात्मक शक्ति द्वारा नहीं। व्यक्तियों को समुदायों या संघों के निर्माण का अधिकार होगा। सभी व्यक्तियों को समान सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त होंगे और इस बारे में जाति, धर्म, वर्ण भाषा, लिंग आदि के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जायेगा।

गांधी की मान्यता थी कि बहुमत के लिये अल्पमत की अपेक्षा करना औचित्यपूर्ण व नीतिगत नहीं है। उनके अनुसार अहिंसक राज्य में केवल बहुमत का निर्णय ही पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि इसमें अल्पमत की उपेक्षा भी नहीं की जाएगी। महत्वपूर्ण मामलों में अल्पमत के निर्णय को बहुमत के द्वारा टुकराया नहीं जाएगा, क्योंकि अन्तरात्मा की आवाज के सामने बहुमत के नियम का कोई मूल्य नहीं है। गांधी कहते हैं कि "प्रजातंत्र वैसा राज्य नहीं है जिसमें जनता भेड़ की तरह कार्य करती है। प्रजातंत्र में विचार और कार्य की स्वतंत्रता को उत्सापूर्वक सुरक्षित रखा जाता है।" अतः अल्पमत को बहुमत से भिन्न कार्य करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसके साथ ही गांधी अल्पमत से भी यह अपेक्षा करते थे कि वे बहुमत के निर्णय को तब तक स्वीकार करें जब तक कि वह उसकी नैतिक भावना के विरुद्ध न हो, क्योंकि इसके बिना सामाजिक जीवन व सामूहिक स्वशासन संभव नहीं है।

गांधी के अनुसार राज्य साध्य नहीं, साधन मात्र है। उसका ध्येय है—सबके अधिकतम हित की साधना। लेकिन राज्य हिंसा पर आधारित होने के कारण आवश्यक होने पर जनता को बलप्रयोग द्वारा

मजबूर कर उनके व्यक्तिगत स्वशासन व स्वराज्य के क्षेत्र को सीमित कर देता है। इसलिये गांधी थोरो की इस बात से सहमत थे कि वह सरकार सर्वोत्कृष्ट है जो कम से कम शासन करती है। अहिंसक राज्य में भी व्यक्ति की नैतिकता के विकास के साथ-साथ राज्य अपने कार्य कम करते जाएगा। राज्य के कार्य धीरे-धीरे विकेंद्रित होते जाते हैं और अंत में अराजकता की स्थिति आ जाती है। परन्तु जब तक राज्य की आवश्यकता रहती है, इसका कार्य कम से कम दबाव व शक्ति का प्रयोग कर नागरिक की सेवा करते जाना है तथा विकास के लिये अधिकतम अवसर उपलब्ध करवाना है।

गांधी ने अपने अहिंसक राज्य में सेना, पुलिस, जेल व न्यायालय की आवश्यकता स्वीकार की थी लेकिन उनका प्रारूप अलग था। पुलिस संगठन अहिंसक स्वयं सेवकों के द्वारा होगा जो अपने को जन सेवक समझेंगे। जनता से उन्हें स्वाभाविक रूप में सहयोग मिलेगा। यद्यपि उनके पास अस्त्र रहेंगे, किन्तु इनका प्रयोग वे बहुत कम करेंगे। इनका मुख्य कार्य डकैतों और लुटेरों से रक्षा करना होगा। अहिंसक राज्य में उपराधी होंगे, परन्तु उन्हें अपराधी न समझ कर उनके साथ रोगी के समान व्यवहार किया जाएगा। चूंकि दोषपूर्ण समाज पद्धति के कारण ही अपराध होते हैं अतः हत्यारे को रोगी समझा जाएगा। जेल ऐसे रोगी के लिए ऐसा आरोग्य केन्द्र होगा, जहां उसका मानसिक उपचार होगा। जिसमें भव्य भवन की जरूरत नहीं होगी। जेल पदाधिकारी डॉक्टर की भांति व्यवहार करेंगे, जिन्हें अपराधी अपना मित्र मानेगा। न्याय के लिये गांधी अदालतों के स्थान पर ग्राम पंचायत को स्थान देते हैं जहां पर भी सभी झगड़े का अंत कर दिया जाएगा। गांधी के अनुसार अहिंसक राज्य में सेना की आवश्यकता नहीं रहेगी। उन्होंने कहा “सच्चे प्रजातंत्र को किसी भी प्रयोजन के लिये सेना पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। सैनिक सहायता निर्भर रहने वाला राज्य नाममात्र का जनतंत्र हो जाएगा। सैनिक शक्ति मस्तिष्क के स्वतंत्र विकास में बाधा डालती है। वह मनुष्य की आत्मा का विनाश करती है। अतः विदेशी आक्रमण से सुरक्षा के लिये भी सेना के प्रयोग की अनुमति गांधी नहीं देते हैं। प्रतिरक्षा की समस्या का हल वे विकेंद्रित व्यवस्था से करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक नागरिक तथा गांव में इतनी क्षमता होनी चाहिए जो विश्व के विरुद्ध अपने स्वातंत्र्य की रक्षा कर सके। फिर भी यदि सेना रखने की आवश्यकता हो तो वे अहिंसक सेना की अनुमति प्रदान करते हैं।

गांधी ने कहा कि अहिंसक राज्य के निर्धनों पर कम से कम करों का बोझ डाला जाएगा। उन्होंने राज्य द्वारा चकलों को लाइसेंस देकर कर उगाहने की प्रथा का भी विरोध किया। करों के प्रति गांधी का बहुत उदार व पवित्र दृष्टिकोण था। उन्होंने करों को एक निश्चित सीमा तक बढ़ाने का समर्थन किया जिससे अहिंसक राज्य में निवास करने वाली जनता की नैतिक, मानसिक, आध्यात्मिक प्रगति बाधित न हो। गांधी के रूपों के स्थान पर श्रम के रूप में कर चुकाने का भी समर्थन किया। कर के संबंध में अहिंसक राज्य में मादक वस्तुओं के आधार पर मिलने वाले राजस्व पर गांधी ने पूर्णतया रोग लगा दी।

गांधी के उस अहिंसक राज्य की कल्पना की थी जो दूसरे राष्ट्र के साथ ही समता के सिद्धान्त का पालन करे। गांधी का मत था कि विकेंद्रीकरण पर आधारित जनता की राष्ट्रीयता विनाशक या आक्रमणकारी नहीं हो सकती बल्कि वह तो विधायक तथा मानवतावादी होगी। अहिंसक राष्ट्र के आदर्श के अनुसार प्रत्येक देश को दूसरे देश का शोषण करके नहीं, बल्कि उनकी सेवा करके तथा उनके लिये आत्मबलिदान करके रहना सीखना चाहिए। गांधी के अनुसार इस प्रकार की राष्ट्रीयता स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयता की पूर्व आवश्यक शर्त है। गांधी कहते हैं कि अपने देश की स्वतंत्रता दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए नहीं चाहते बल्कि इसलिये चाहते हैं कि दूसरे देश उनके देश से कुछ सीख सकें तथा हमारे देश की जनता मानवता के काम आ सकें। गांधी की मान्यता है कि सत्य अहिंसा के आधार पर उनके देश की स्वतंत्रता व सफलता मानव जाति की महानतम सेवा है। वह पराधीन जातियों को सम्राज्यवाद से मुक्त कर देगी तथा अहिंसा पर आधारित विश्वशांति व नवीन व्यवस्था की स्थापना होगी।

1.3.1 गांधी के दृष्टिकोण में स्वतंत्रता

व्यक्ति को आत्मानुभूति की उपलब्धि कराना गांधी जी के विचारधारा का प्रमुख उद्देश्य है, जिसके लिए व्यक्ति को समाज से अनेक अधिकारों तथा स्वतंत्रता की अपेक्षा रहती है और उनकी प्राप्ति करता हुआ व्यक्ति समाज की सेवा कर सकता है। स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति समाज के

हित में अपने हितों का उत्सर्ग कर दे। स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता से कदापि नहीं लगाना चाहिए लेकिन स्वतंत्रता प्रतिबंधों का अभाव नहीं है। भिन्न-भिन्न राज्यों में नागरिकों को सावैधानिक कानूनों द्वारा जो स्वतंत्रतायें प्रदान की जाती हैं और उन पर जो प्रतिबंध लगाये जाते हैं उनका औचित्य नैतिकता के आधार पर लगाया जा सकता है। असल में प्रजातंत्र एक निश्चित दिशा में धीमी गति से ही क्यों न हो रोज बढ़ने का साधन है और इसका साध्य है आजादी। ऐसा तो कोई जमाना ही नहीं था, तब आजादी आदमी को प्यारी न रही हो। अमेरिका के इतिहासकार हैनरी कामेगर का कहना है कि प्रजातंत्र में प्रश्न, प्रति-प्रश्न, छानबीन, विरोध, इनकार, मिलना-जुलना, शिक्षण, विज्ञान, राजनीति यानी 'स्वातंत्र्य' को सार्थक और सिद्ध करने वाली जितनी बातें हैं— उन सबकी किसी हवाई अधिकार की शकल में नहीं, एक जबर्दस्त जरूरत के रूप में बढ़ावा दिया जाये।

गांधी के मतानुसार स्वतंत्रता के लिए कर्म, नीति एवं नैतिकता में कोई त्याग्य नहीं है वरन् सभी ग्राह्य है। कर्म के नियम और संकल्प स्वतंत्र्य में कोई विरोध नहीं। वास्तव में कर्म के नियम का अर्थ है स्वतंत्रता, क्योंकि उनके अनुसार स्वयं अपने प्रारब्ध का निर्माता है। जीवन की वास्तविकता में मनुष्य का सृजनशील स्वातंत्र्य अन्तर्निहित है। महात्मा गांधी लगभग तीन दशकों से अधिक सक्रिय भारतीय राजनीति से जुड़े रहे इतना ही नहीं यहां की राजनीति में गति लाने का अधिकांश श्रेय उन्हें ही जाता है। उन्होंने व्यक्ति के लिए जिन प्रमुख स्वतंत्रताओं को आवश्यक बताया है, वे अग्रलिखित हैं—

(क) राजनीतिक स्वतंत्रता

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का कथन 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा' गांधी जी के लिए आदर्श वाक्य था। राजनीतिक स्वतंत्रता मानवों को सर्वप्रथम चाहिए, किन्तु इसके अन्तर्गत केवल वोट का अधिकार और सभी निर्वाचित पदों के लिए खड़े होने की छूट ही पर्याप्त नहीं, वरन् स्वराज्य की प्राप्ति से है।

गांधी की स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा जर्मनी का महान् राजनीतिक चिंतक कांट के विचारों से प्रभावित था। कांट के मतानुसार व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रता के ऊपर दूसरों की वैसी ही स्वतंत्रता का सम्मान करने का मर्यादा लगा है; उसका नियंत्रण सार्वभौम कानून द्वारा होता है। मानव की स्वतंत्रता नैतिक इच्छा का स्त्रोत शुद्ध विवेक है। इसी के द्वारा सत्य की खोज संभव है। कांट के विचार का स्त्रोत शुद्ध विवेक है। इसी के द्वारा सत्य की खोज संभव है। कांट के विचार का स्त्रोत रूसों की 'सामान्य इच्छा' से है। गांधी जी मानते थे कि जो सरकार किसी देश में सामान्य इच्छा की अवहेलना करके शासन भले कर ले एवं जबरन कानून भी बना लें, किन्तु न तो वह सरकार इस देश में अधिक दिनों तक शासन कर सकती है और न ही उस सरकार द्वारा कानून जनता में प्रभावी हो सकता है। उन्होंने कहा है, मेरे..... सपने..... के स्वराज्य में जाति (रेस) या धर्म के भेदों को कोई स्थान नहीं हो सकता। इस पर शिक्षितों या धनवानों का एकाधिकार नहीं होगा। वह स्वराज्य सबके लिए—सबके कल्याण के लिए होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते हैं; किन्तु लूले, लंगड़े, अंधे और भूख से मरने वाले लाखों—करोड़ों मेहनतकश मजदूर भी अवश्य आते हैं।

गांधी जी ने स्वराज्य प्राप्ति के साधनों में कहा है कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है, उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है। उस जमाने में जबकि स्वराज्य की मांग बेहद तीव्र थी गांधी जी ने कहने का साहस रखा कि हिंसा से मिलने वाला भारती का स्वराज्य मुझे नहीं चाहिए। आगे उन्होंने बताया कि जो स्वराज्य हिंसा के जोर से मिलने वाला होगा वह जल्दी ही साबित हो जाएगा कि भीतर से स्वराज्य था ही नहीं। ऐसा स्वराज्य कम से कम भारतीय तो नहीं होगा। अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान न हो तो कोई बात नहीं, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। गांधी जी का विचार था कि राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार की मांग कुछ खास नेताओं के द्वारा नहीं की जा सकती जबकि इसके जगह उन्होंने राष्ट्र के निर्माण करने के लिए समस्त जनता की मांग को उचित ठहराया था। यही वास्तविक राजनीतिक स्वतंत्रता है।

गांधीजी व्यक्ति के आत्म-विकास के लिए उसे अनेक प्रकार की व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं के हिमायती थे। मिल्टन, लॉक, मॉन्टेस्क्यू आदि ने वैयक्तिक स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन करके व्यक्ति के अधिकारों की मर्यादा राज्य की सत्ता पर आरोपित करने की बात कही थी। रूसों तथा कांट भी

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हिमायती थे। वैयक्तिक स्वतंत्रता के विषय में 'व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। मैं क्या पहनता हूँ, किस धर्म का मानता हूँ या किसी धर्म को नहीं मानता, किसी प्रकार जीविकोपार्जन करता हूँ, क्या लिखता-पढ़ता हूँ, आमोद-प्रमोद के क्या तरीके अपनाता हूँ, इस प्रकार के मामलों में समाज अथवा राज्य को रोक-टोक करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए व्यक्तिवादी, अराजकतावादी और बहुसमुदायवादी विचारक इस प्रकार की स्वतंत्रता को बहुत अधिक महत्व देते हैं। इसी प्रकार की स्वतंत्रता के प्रसंग में रूसों ने कहा है कि 'स्वतंत्रता को त्यागना मनुष्यता को त्यागना है।'

जब कोई व्यक्ति अपने आचरण द्वारा हिंसात्मक साधन अपनाकर सार्वजनिक शान्ति भंग करने या दूसरे व्यक्ति को हानि पहुंचाने का दोषी न पाया जाय तब तक किसी व्यक्ति या शासनाधिकारी को उसकी देह छूने का अधिकार नहीं होना चाहिए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व अंग्रेजों के शासन-काल में देशभक्त स्वतंत्रता आन्दोलन में कार्य करने वाले व्यक्तियों को सरकार किसी भी समय बहुत मनमाने ढंग से बन्दी बना लेती थी और भरपूर यातनाएं दिया करती थीं। गांधी जी वैयक्तिक स्वतंत्रता के पोषक थे। जनतांत्रिक देशों में ऐसी वैयक्तिक स्वतंत्रता के पोषक थे। जनतांत्रिक देशों में ऐसी वैयक्तिक स्वतंत्रता मान्य है उनका कहना था कि अंग्रेज वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे, परन्तु वे भारतीय जनता को इस पवित्र अधिकार से वंचित रखना चाहते थे तथा इसके लिए उन लोगों के द्वारा तरह-तरह के जुल्म भारतीयों पर ढाया गया।

(ख) नागरिक स्वतंत्रता

नागरिक स्वतंत्रता के अंतर्गत वे सभी अधिकार आ जाते हैं, जिन्हें किसी भी सभ्य तथा सुव्यवस्थित समाज में मनुष्य के नागरिक जीवन के लिए अनिवार्य माना जाता है। ऐसे अधिकारों को मूल अधिकार भी कहा जाता है और इनका महत्व इतना अधिक समझा जाता है कि राज्य अथवा सरकार को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रहता। जिन देशों में लिखित संविधान विद्यमान हैं वहां इन अधिकारों को संविधान के विशेष भाग में रखकर सुरक्षित कर दिया जाता है। संसद को कोई ऐसा कानून बनाने का अधिकार नहीं रहता जिसमें इससे से किसी अधिकार का व्यतिक्रम होता है। व्यतिक्रम होने की दिशा में पीड़ित नागरिक न्यायालय के सम्मुख जाकर प्रतिकार की याचना कर सकते हैं।

नागरिक स्वतंत्रता की परिधि में जो अधिकार आते हैं उनमें, लोकतंत्र की दृष्टि से, वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य तथा सभा करने या संघ बनाने के अधिकारों का सबसे अधिक महत्व है। गांधी जी नागरिक स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे।

(ग) आर्थिक स्वतंत्रता

आधुनिक आर्थिक विचारधारा पश्चिम की देन है। वहां हुई औद्योगिक क्रांति के बाद अठारवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसकी रूपरेखा बनी। गांधी जी के आर्थिक विचारों को यदि हम ठीक तरह समझना चाहें तो पश्चिम की इस आर्थिक विचारधाराओं से मुक्त रहकर ही ऐसा किया जा सकता है। इन धारणाओं का पूर्ण परित्याग न किया जा सके तो भी कम-से-कम उनमें संशोधन तो करना ही चाहिए।

आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ है बेकारी, बदहाली, अभाव तथा शोषण से मुक्ति। जिस प्रकार राजनीतिक दबाव तथा अत्याचार मनुष्य के व्यक्तित्व विकास में बाधक है। जिस समय राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग का आन्दोलन चल रहा था उस समय लोगों को पूरी आशा थी कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को वोट का और निर्वाचित पदों के लिए उम्मीदवार बनाने का अधिकार मिल जाये तो समस्या हल हो जायेगी। किन्तु जब यह अधिकार मिल गया तो अनुभव हुआ कि जिन लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति अर्थात् भूमि और पूंजी का स्वामित्व केन्द्रित है, उनके मुकाबले में भूमिहीन किसान और पूंजीहीन मजदूर की कोई गिनती नहीं है। औद्योगिक क्रांति के कारण छोटे-छोटे गृह-उद्योग समाप्त हो चुके थे और उनका स्थान ऐसे बड़े-बड़े कल कारखानों ने ले लिया था जिसमें से एक-एक में सैकड़ों हजारों मजदूर काम करते थे। ये मजदूर क्या काम करेंगे, इनका वेतन क्या हो, छुट्टी कब और कितनी मिले, कैसे मकानों में रहे, ये सब बातें उद्योगपतियों की इच्छा और सुविधा पर निर्भर थीं। मजदूरों की हितरक्षा

के लिए कुछ कानून अवश्य बने और मजदूर का संगठन भी शुरू हुआ किन्तु इस सबके बाद भी उनकी असहायता और पराधीनता का अन्त नहीं हुआ।

गांधी जी प्रारंभ से इस महत्वपूर्ण बात पर जोर देते हुए आए कि बिना आर्थिक स्वतंत्रता के राजनीतिक या वैयक्तिक स्वतंत्रताएँ कोई अर्थ नहीं रखती। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परमावश्यक भौतिक आवश्यकताएँ उपलब्ध हों। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार प्राप्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। फलतः भारतीय संविधान निर्माताओं के संविधान निर्माण के समय इसे राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में रखा है। कार्य किए जाने पर उसका समुचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए।

आर्थिक स्वतंत्रता के संबंध में गांधीजी निष्कर्ष के तौर पर उन्होंने कहा कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाते रहने के बजाय उन्हें सीमित रखना चाहिए। ग्रीक दार्शनिक जिसे अच्छा जीवन कहते थे वैसे जीवन के लिए भौतिक पदार्थों की एक सीमा तक तो आवश्यकता होती है, परन्तु उससे अधिक भौतिक पदार्थों का परित्याग व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके सुख में वृद्धि करने के बजाय उसके लिए बंधनकारक और दुःख का कारण ही बनता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपनी आवश्यकताओं को अंधाधुंध बढ़ाते न चले जाएँ बल्कि उन्हें सीमित करें।

1.4 राज्य का विकेन्द्रित संगठन

गांधी के अहिंसक राज्य का संगठन विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के आधारित होगा। विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त राजनैतिक शक्ति व आर्थिक उत्पादन दोनों क्षेत्रों में लागू होगा। गांधी का यह विश्वास था कि केन्द्रित राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था ही शोषण का मूल कारण है जिसमें जनता को अपनी मूल संभावनाओं को विकसित करने का अवसर नहीं मिलता है। केन्द्रित व्यवस्था हिंसात्मक होती है। विकेन्द्रित व्यवस्था ही अहिंसक है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति, गांव और संस्थाओं को पूर्णरूपेण भौतिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक व आर्थिक विकास का सुअवसर मिलता है। इस प्रकार की व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति राज्य के कार्यों में बिना किसी दबाव के सहयोग करता है।

गांधी राज्य को राजनीतिक शक्ति व सत्ता का ढांचा मानते थे। उनकी मान्यता थी कि सत्ता सत्ताधिकारी को भ्रष्ट कर देती है और जिसके पास जितनी अधिक सत्ता होगी उसके भ्रष्ट होने के उतनी ही अधिक अवसर होंगे। इसलिये वे चाहते थे कि शासन के किसी भी स्तर पर किसी भी ईकाई में सत्ता एकत्रित नहीं होनी चाहिए। इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने अहिंसक राज्य का संगठन स्वावलंबी, स्वशासित और सत्याग्रही गांवों के आधार पर निर्धारित किया। राज्य इन गांवों का संघ होगा। इन संघ और समुदायों का संगठन स्वेच्छा से होगा, जो सहयोग, सम्मान व शक्ति से संचालित होगा। प्रत्येक गांव पूरे अधिकारों से सम्पन्न एक जनतंत्र होगा। वह अपने सम्पूर्ण अधिकारों की देखभाल स्वयं करेगा। वह इतना शक्तिशाली होगा कि सत्याग्रह के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में सुरक्षा कर लेगा। इसी तरह संगठन आगे चलकर पंचायत, जिला परिषद, तहसील में बढ़ता जाएगा।

गांधी की मान्यता थी कि जो ईकाई व्यक्ति के जितने नजदीक हो उतनी ही अधिक सत्ता व संसाधन उसके पास होने चाहिये, और शासन की जो इकाई व्यक्ति से जितनी दूर होती जाए, उसकी सत्ता व संसाधन भी उसी अनुपात में कम कर देना चाहिए। इस प्रकार ग्राम सभा व्यक्ति के सबसे करीब की ईकाई होगी जिसमें गांव के सभी वयस्क नागरिक प्रत्यक्ष रूप से भाग लेंगे, क्योंकि यहां इकाई व्यक्ति के सबसे करीब होगी। गांधी ने कहा कि स्वराज्य की रचना लंबरूपी रचना नहीं होगी जिसमें शोषण के लिये आधार पर जरूरत होगी और शक्ति कुछ ही लोगों के हाथ में होगी। वस्तुतः यह रचना क्षैतिज होगी जिसमें कोई भी एक दूसरे पर आश्रित नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति गांव अपनी मामलों में पूर्ण स्वतंत्र होगा। परन्तु अन्य ग्राम समुदायों, संघों तथा राज्य के साथ उनका संबंध सहयोग, सेवा और प्रेम पर आधारित होगा।

गांधी के इस स्वराज्य में जीवन ऐसे पिरामिड की भांति नहीं होगा जिसमें शिखर तल पर आधारित होगा बल्कि यह गोलाकार समुद्री लहरों की तरह होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा, जो अपने गांव के लिये अपना सर्वस्व देने को तैयार होगा और वह गांव समुदायों के वृत्त में खुद को विलीन कर देगा। इसी प्रकार सत्ता भी व्यक्ति से आरंभ होकर ग्राम पंचायत, ब्लॉक पंचायत, फैलती जाएगी, जो व्यक्ति के कल्याण के चरम लक्ष्य के लिये कार्यरत होंगे। इस प्रकार संगठन में सब बराबर रहेंगे व

आपस में संबंधित रहेंगे। सत्ता अनेक स्तरों पर बिखरी होने के कारण उसके दुरुपयोग के अवसर कम से कम होंगे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सत्ता का प्रवाह नीचे से ऊपर को होगा। इस विकेंद्रित व्यवस्था में सत्ता का वास्तविक केन्द्र ग्राम की इकाई होगी। इस प्रकार अहिंसक राज्य अपनी प्रकृति से ग्राम गणराज्य होगा। ग्राम अपने स्तर पर वास्तविक विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायिक शक्तियों का प्रयोग करेंगे और इस प्रकार शासन की दृष्टि से स्वशासी एवं स्वावलम्बी इकाई होंगे। प्रान्तीय व्यवस्थापिका की शक्ति सीमित होगी और वह अपने प्रांत के ग्राम, गणराज्यों के बीच उचित तालमेल स्थापित करने का कार्य करेगी। राष्ट्रीय व्यवस्थापिका विभिन्न प्रान्तीय प्रशासनों के बीच ताल-मेल स्थापित करने का कार्य करेगी और विश्वशांति एवं सद्भाव का संचालन करेगी। गांधी के इन विचारों का समर्थन पश्चिम बहुलवादी विचारकों के द्वारा भी मिलता है जैसे हक्सले, जोड़, लास्की।

1.5 स्वराज्य की सामाजिक संरचना

गांधी ने अपने राज्य की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये थे। गांधी के अहिंसक राज्य में समाज की संरचना निम्नतः होगी—

- अहिंसक राज्य में समाज का संगठन सत्य एवं अहिंसा के नैतिक मूल्यों के आधार पर होगा, गांधी जी ने इसे अहिंसात्मक समाज कहा है।
- समाज का संगठन श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर चार वर्गों वाला होगा। प्राचीन भारतीय चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लगभग समान होंगे। प्रत्येक वर्ग का सदस्य अपनी वंश-परम्परा के अनुसार व्यवसाय अपनायेगा, किन्तु किसी भी स्थिति में एक वर्ग को दूसरे से श्रेष्ठ अथवा निम्न नहीं माना जायेगा तथा सभी को सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक क्षेत्र के समान अधिकार प्राप्त होंगे। इस समाज से अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं होगा।
- इस आदर्श समाज में सर्वधर्म समभाव के सिद्धान्त का पालन होगा और राज्य सभी धर्मों के अनुयायियों के साथ समान व्यवहार करेगा।
- स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त होंगे, फिर भी उनका मुख्य कार्यक्षेत्र परिवार होगा।
- सभी बालकों को प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क मिलेगी और इस उद्देश्य से प्रत्येक ग्राम तथा मोहल्ले में प्राथमिक शिक्षा देने वाली स्वावलम्बी पाठशालायें स्थापित की जायेंगी।
- इस आदर्श समाज में शराब एवं अन्य मादक पदार्थों के उत्पादन, बिक्री एवं भोग पर पाबन्दी होगी।
- इस आदर्श समाज में गौ-हत्या पर पाबन्दी होगी।

यह स्पष्ट है कि राज्य नागरिकों को अधिकतम हित प्रदान करने का एक साधन होगा। अतः अहिंसक राज्य के मुख्य के रूप से दो प्रकार के कार्य होंगे। एक तो यह कि वह राज्य के नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिये अवसर प्रदान करेगा। दूसरा व्यवहारिक रूप से यह वैसे कार्यों को करेगा जो छोटी-छोटी संस्थाओं द्वारा संभव नहीं है, परन्तु जिनका होना जनहित के लिये आवश्यक है। यदि किसी ऐसे भारी उद्योग की आवश्यकता हुई जिसे व्यक्ति ट्रस्टीशिप की भावना से संचालित नहीं कर सकता तो राज्य उसे अपने हाथों में ले लेगा इस प्रकारा राज्य का काम आर्थिक विषमता को कम करना होगा, इसके लिये वह कानून भी बना सकता है परन्तु कम से कम हिंसा व दबाव का प्रयोग करके। इस प्रकार जनकल्याण के लिये वह जंगल, खनिज, शक्ति और यातायात के साधनों का नियंत्रण अपने हाथ में ले लेगा। आर्थिक आत्मनिर्भरता लाने के लिये लघु-कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देगा। परन्तु ये सभी कार्य सेवा भावना से सम्पन्न होंगे, शासन भावना से नहीं। जैसे-जैसे व्यक्ति का नैतिक विकास होता जाएगा और एक दिन ऐसा आएगा जब राज्य की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। राजराज्य अपनी प्रकृति से आधुनिक किस्म का राष्ट्रीय समाज नहीं होगा, अपितु यह विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला नैतिक समाज होगा। अतः अहिंसक राज्य न तो अन्य राज्यों पर आक्रमण करेगा, न सम्राज्यवादी होगा और न यह अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करेगा। वस्तुतः यह राष्ट्रहित

की संकीर्ण मनोवृत्ति से मुक्त होगा और सदैव विश्वहित के पक्ष में त्याग के लिए तत्पर रहेगा। यह अन्य राज्यों के साथ मित्रता, सहयोग, सद्भाव आदि के संबंध स्थापित करेगा और सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहेगा। स्पष्ट है कि सत्य और अहिंसा गांधी से अविच्छिन्न रूप से जुड़े रहे और इसकी प्रतीति उनके राज्य दर्शन में स्पष्टतः होती है। मानव के शुभ संकल्प व नैतिकता में अपने विश्वास के कारण गांधी राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करते हैं तथा उसे मनुष्य के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति में एक साधन मात्र मानते हैं। इसी मान्यता के आधार पर सत्य अहिंसा पर प्रतिष्ठित अहिंसक राज्य की स्थापना के द्वारा शांति व सहअस्तित्व की भावना को वैश्विक स्तर पर साकार करने का प्रयत्न करते हैं।

2. प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण

प्रजातंत्र के विषय में महात्मा गांधी ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा और न ही इसके बारे में विशेष लेख लिखे। तो भी समय-समय पर इस व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार प्रकट किए और ऐसा करते समय कई बार वे इसके विस्तार में भी गए। इसमें महत्वपूर्ण बात यह रही कि भले ही थोड़ा कहा या लिखा हो, लेकिन उन्होंने लोकतंत्र से जुड़े समस्त प्रमुख बिन्दुओं को छुआ अवश्य है। प्रजातंत्र की त्रुटियाँ कैसे दूर हों? वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कैसे हो? वह अहिंसा से कैसे अधिकाधिक जुड़ पाए, और प्रत्येक नारी व नर के लिए स्वतंत्रता तथा न्याय को सुनिश्चित करते हुए, लोकतंत्र किस प्रकार शांति की स्थापना का माध्यम बने? इन सभी मुद्दों पर उन्होंने सारगर्भित व मूल्यवान सुझाव दिए। उन्हें स्वयं अपने जीवनकाल में जितने भी अनुभव लोकतंत्र रखने वाले देशों की कार्यप्रणाली से हुए, उन सभी को सुझाव देते समय उन्होंने ध्यान में रखा। भारतीय परिस्थितियों को वे गहराई से जानते थे। इसीलिए भारत के संदर्भ में उन्होंने विशेष रूप से कहा और लिखा। प्रजातंत्र के बारे में एक स्थान पर गांधीजी ने लिखा है, “सार रूप से प्रजातंत्र वह विज्ञान और कला है, जिसमें जनता के समस्त वर्गों की सारी शारीरिक, आर्थिक और आध्यात्मिक शक्ति सबके सामान्य हित में प्रयुक्त होती है।” एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है, “प्रजातंत्र की भावना ऐसी यंत्रवत चीज नहीं है, जिसे आकारों की समाप्ति द्वारा अनुकूल बनाया जाता हो। इसमें हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता होती है मन में भाईचारे की भावना को बैठाना होता है।”

स्पष्ट है कि महात्मा गांधी का प्रजातंत्र वास्तव में सर्वकल्याण को समर्पित होता है। इसमें सभी क्षेत्रों में—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सहित—सबकी उन्नति का द्वार खुला होता है; सभी जन-साधनों का इसके उपयोग होता है एवं समानता के साथ स्वतंत्रता को इसमें उच्च स्थान प्राप्त रहता है। लेकिन इसके लिए अनुशासन तथा साथ ही विनम्रता का होना भी जरूरी है। स्वयं महात्मा गांधी के शब्दों में, “स्वतंत्रता की उच्च श्रेणी के साथ अनुशासन एवं विनम्रता की उच्चतम मात्रा भी रहती है। अनुशासन और विनम्रता से उत्पन्न स्वतंत्रता को नकारा नहीं जा सकता है, अनियंत्रित स्वेच्छाचारिता गुण्डागर्दी की निशानी है, जो स्वयं के साथ ही पड़ोसी के लिए भी हानिकारक है।” दूसरे शब्दों में, “अनुशासित और जागृत प्रजातंत्र दुनिया की श्रेष्ठ चीज है। जो प्रजातंत्र पक्षपातपूर्ण हो, उदासीन एवं अंधविश्वासी हो, वह अव्यवस्था का शिकार होगा तथा स्वयं ही समाप्त हो जाएगा।” सामान्यतः राजनैतिक व्यवस्था समाज-संगठन का ही एक भेद है, लेकिन चूंकि मानव समाज संगठन में राज्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है और वह निश्चित ही सबसे अधिक शक्तिशाली सामाजिक संगठन बन गया है, जिसकी सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है और जो अन्य राज्यों के मानवों के साथ संबंध रखने का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है तथा राज्यों के आपस के संबंधों पर ही आज युद्ध, शांति, व्यापार, उद्योग, सहयोग आदि निर्भर हैं, अतः किसी भी समाज और अर्थ-संगठन के विचार में राजनैतिक व्यवस्था का विचार अनिवार्यतः आवश्यक है। जब हम सत्य और लोकतंत्र और मानवता को समाज-संगठन के निश्चित मापदंड, तो स्पष्ट है कि राजनैतिक व्यवस्था को भी इन्हीं से नापा जायेगा। लोकतंत्र का सिद्धान्त राजनैतिक संगठन की आंतरिक व्यवस्था का आधार होगा, और मानवता राजनैतिक संगठन के अन्तर्गत मानवों के आपसी संबंधों, राज्यों के पारस्परिक संबंधों और विभिन्न राज्यों के मानवों के पारस्परिक व्यवहार के निश्चय का निर्णायक सिद्धान्त होगा।

महात्मा गांधी के इन कथनों से पुनः स्पष्ट होता है कि वे लोकतंत्र को नैतिक-मूल्यों से सम्पुष्ट करना चाहते हैं। साथ ही वे सदाचार का समावेश इसमें चाहते हैं। अंततः नैतिकता और सदाचार, दानों,

अहिंसा के अभिन्न अंग हैं; वास्तविक स्वतंत्रता और न्याय की संभावना नैतिकता एवं सदाचार से युक्त शासन में ही हो सकती है। इसलिए व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक जीवन में ह्रास का कारण नैतिकता एवं सदाचार जैसे मूल्यों में गिरावट का आ जाना है। प्रजातंत्रात्मक शासन पद्धति वाले कई राष्ट्रों की गतिविधियों को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। इसलिए महात्मा गांधी के शब्दों को हल्के तौर पर नहीं लिया जा सकता। कम-से-कम मेरा अपना तो यही मत है। यह संभव है कि आपको ऐसा लगे कि गांधीजी का नैतिकता और सदाचार पर आवश्यकता से अधिक बल है; अथवा जितनी कल्पना इस सम्बन्ध में गांधीजी करते हैं, वह व्यवहार में संभव नहीं है। या प्रजातंत्र को उस सीमा तक अहिंसा के साथ नहीं बांधा जा सकता है, जितनी इसे बांधने की गांधीजी की इच्छा है। मैं आपके दृष्टिकोण का सम्मान करते हुए एक बार यह मान लेता हूँ कि आज की परिस्थितियों में गांधीजी की इच्छा का प्रजातंत्र संभव नहीं है। कदाचित् नैतिक-मूल्यों के विकास के बिना निकट भविष्य में भी ऐसा संभव न हो। स्वयं महात्मा गांधी मानते थे, “..... कोई सरकार पूर्णतः अहिंसक बनकर सफल नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें समस्त जनता का प्रतिनिधित्व होता है। मैं ऐसे स्वर्ण युग की कल्पना नहीं करता हूँ। लेकिन मेरा दृढ़ विश्वास अहिंसक समाज की संभावना में भी है और इसके लिए मैं कार्य कर रहा हूँ।” लेकिन फिर भी प्रजातंत्र के विभिन्न अंगों की सुदृढ़ता के लिए जो विचार गांधीजी ने हमारे समक्ष प्रस्तुत किए, वे भारत और शेष विश्व के लिए, महत्त्वपूर्ण व प्रासंगिक हैं; उन विचारों से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता है। अतः महात्मा गांधी के विचार श्रेष्ठ या उच्च स्वतंत्रता और न्याय को सबके लिए सुलभ बनाने वाले हैं।

समाज ने जो उत्पादन किया है, उसका उससे जुड़े सभी लोगों में बंटवारा भी होना चाहिए; और यदि ऐसा संभव न हो, तो कम-से-कम सामाजिक रूप से हुए उत्पादन का समान रूप में बंटवारा अवश्य ही होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में, “मेरे मतानुसार भारत का आर्थिक ढांचा, और संसार का भी, ऐसा होना चाहिए कि जिसमें किसी को भी रोटी और वस्त्र के लिए कठिनाई नहीं उठानी पड़े। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक को इतना काम मिलना चाहिए, जिसके करने से वह दोनों समय अपने पेट को भर सके; और इस सिद्धान्त को विश्वव्यापी स्तर पर तभी स्वीकृति मिल सकती है, जब मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं के उत्पादन का नियंत्रण जनता के हाथ में हो। वे उसी तरह सबको उपलब्ध होनी चाहिए, जैसे ईश्वर की ओर से उपहार के रूप में हवा और पानी मिला हुआ है, या मिल सकता है। उन पर किसी देश, राष्ट्र या व्यक्ति-समूह का एकाधिकार अन्यायपूर्ण है। इस साधारण सिद्धान्त की अनदेखी विनाश का कारण है जिसे हम न केवल इस खुशहाल धरती पर महसूस करते हैं, अपितु विश्व के अन्य भागों में भी देखते हैं।”

लोकतंत्र के विकेन्द्रीकरण से महात्मा गांधी का अभिप्राय शासन-संचालन में प्रत्येक की भागीदारी से है। यही वास्तविक लोकतंत्र के लिए कसौटी भी है। इसमें जनता की स्वतंत्रता की अधिकाधिक रक्षा हो सकती है। महात्मा गांधी के शब्दों में, “..... जब जनता के हाथ में राजनीतिक सत्ता आती है, तो जनता की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, जो राष्ट्र अपने मामलों का सुदृढ़ता से और अच्छे ढंग से संचालन करता है और नागरिक स्वतंत्रता में कम-से-कम हस्तक्षेप करता है, वहीं सच्चा लोकतंत्र होता है। लेकिन जहाँ ऐसा नहीं होता है, वहाँ नाममात्र का ही प्रजातंत्र होता है।” महात्मा गांधी का विचार था कि शक्ति का केन्द्रीकरण व्यक्तियों को गूँगा व बहरा बना देता है; अपनी ठीक नाक के नीचे की चीजें भी ऐसे लोगों को दिखाई नहीं देती हैं, और न ही वे कानों से ठीक से सुन पाते हैं। इसी प्रकार की स्थिति सरकारी सत्ता के केन्द्रीकृत रूप की भी है। इसका अच्छा समाधान है सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण हो। ग्रामों से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक परिपक्व राजनीतिक इकाइयाँ सत्ता में भागीदारी करें, प्रत्येक को सत्ता में अपनी भागीदारी का भान हो तथ्या अपने महत्त्व का ज्ञान हो। राजनीतिक सत्ता को गांधीजी साध्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में यह राष्ट्र के प्रतिनिधियों के माध्यम से राष्ट्रीय जीवन को नियंत्रित करने का साधन है। उन्हीं के शब्दों में, “मेरे लिए राजनीतिक सत्ता साध्य नहीं है, अपितु जीवन के हर क्षेत्र में जनता को अपनी स्थिति सुधारने में सहायता करने का एक साधन है। राजनीतिक सत्ता का अर्थ राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन को नियंत्रित करने की क्षमता है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना सक्षम हो जाए कि उसका संचालन स्वयं ही हो सके, तब किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसे एक राज्य में प्रत्येक स्वयं अपना शासक है; वह अपने मामलों का स्वतः ही इस तरह नियमन करता है कि अपने पड़ोसी के

लिए कोई बाधा नहीं बनता है। आदर्श राज्य में, इस प्रकार, राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि वहाँ कोई राज्य ही नहीं होता। लेकिन आदर्श को जीवन में पूर्णतः अनुभव ही नहीं किया गया है। इसलिए थोरो का प्रथागत वक्तव्य कि “वही सरकार अच्छी है, जो कम शासन करती है”, विचारणीय है।

2.1 ग्रामीण व्यवस्था : प्रजातंत्र का प्रारूप

जिस प्रकार परिवार सामाजिक संगठन की सबसे महत्वपूर्ण मूलभूत इकाई है, उसी प्रकार गांव या कस्बा— जहाँ कुछ परिवार एक इकाई बनाकर अपना सामूहिक जीवन यापन करते हों— राजनैतिक व्यवस्था की मूलभूत इकाई है। इसका अपना सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन है। लोकतंत्र की दृष्टि से इसे स्वभावतः अधिक से अधिक सामूहिक जीवन संबंधी स्वाधीनता होनी चाहिये, क्योंकि गांव या कस्बे जैसी छोटी इकाई में ही प्रत्येक वयस्क एक दूसरे को जान सकता है, उसके गुण-दोषों, योग्यता आदि से सही और प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर सकता है और एक दूसरे को व्यावहारिक और प्रत्यक्ष सहयोग दे सकता है। ऐसी इकाई में ही सभी वयस्कों के सीधे मतदान से निर्वाचित गांव-पंचायत या नगर-संस्था वास्तव में प्रतिनिधि संस्था हो सकती है और जनता का सही और सीधा प्रतिनिधित्व कर सकती है, उनकी भावनाओं और कमियों को समझ सकती है, उन्हें नेतृत्व प्रदान कर सकती है, उनकी भावनाओं का आदर कर सकती है और कमियों को दूर करने का स्वयं प्रयत्न कर सकती है या गांव या नगर के नागरिकों को ऐसा करने के लिए प्रेरित कर सकती है। गांव के सामूहिक जीवन को लोकतांत्रिक आधार पर संगठित करने का यह भी अर्थ है कि वह अधिक-से-अधिक स्वावलंबी, स्वाधीन और शक्तिशाली हो। इसके लिए गांव के आर्थिक और औद्योगिक जीवन को बाहर के परावलंबन से अधिकाधिक मुक्त और अपने को सदस्यों की दृष्टि से संगठित करना होगा। गांव-पंचायत केवल गांव के लोकतांत्रिक और सामूहिक जीवन की इकाई होगी बल्कि वह गांव के बाहर के दूसरे बड़े अंगों-जिलों, प्रान्तों या राज्य-के बीच संबंध का माध्यम भी होगी। इस प्रकार के राज्य-संगठन में स्पष्टतः सत्ता का मूलभूत केन्द्र गांव होगा। वही सारी सत्ता का स्रोत होगा। गांव द्वारा कुछ निश्चित सामान्य सत्ता तथा कुछ निश्चित अधिकार जिलों को दिए जायेंगे, जिलों द्वारा कुछ निश्चित अधिकार प्रांत को प्राप्त होंगे और प्रांतों से कुछ निश्चित अधिकार केन्द्रीय शासन को दिय जायेंगे। इस प्रकार सारे अनिर्दिष्ट अधिकार गांवों को प्राप्त होंगे, बाकी ऊपर की सारी संस्थाओं को निर्दिष्ट और निश्चित अधिकार प्राप्त होंगे। इसका अर्थ यह है कि शक्ति और सत्ता का स्रोत गांव से केन्द्र की ओर चलेगा, न कि आज की तरह केन्द्र से गांव की ओर, जहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह सारा स्रोत सूख ही जाता है और गांव-पंचायत या नगर-संस्था आज के लोकतंत्र में सबसे अधिक अशक्त, निष्प्राण, निष्क्रिय और भूखी संस्थाएं बन कर रह गई हैं। सत्ता का यह पुनर्संगठन लोकतंत्र की वास्तविकता के लिए, मानव और मानवता की प्रतिष्ठा के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है। गांवों और कस्बों के पुनर्जीवन और समृद्धि का अर्थ है राष्ट्र के सभी परिवारों और व्यक्तियों की समृद्धि, और यह सत्ता के विकेन्द्रीकरण से सही संभव है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण से ही गांवों और कस्बों का संगठन स्वावलंबन और स्वाधीनता के आधार पर हो सकता है।

सामूहिक जीवन की जो समस्याएं गांव के क्षेत्र और शक्ति से बाहर हैं और जो अनेक गांवों से संबंधित हैं उनके लिए जिले का या समान बोली अथवा सांस्कृतिक आधार पर नव-संगठित जनपदों का संगठन आवश्यक है। जिस प्रकार गांव की निर्मात्रा इकाइयां परिवार हैं, उसी प्रकार जिलों का जनपदों की निर्मात्रा इकाइयां गांव होगी, जिनका प्रतिनिधित्व गांव पंचायतों के मतों से निर्वाचित सदस्यों की जिला पंचायतें करेंगी। जिला पंचायतें जिलों की आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं का हल जिले की समृद्धि की दृष्टि से करेंगी और गांवों के छोटे स्वार्थ जिले के बड़े हित में विलीन करने का प्रयत्न होगा ताकि उसके सामूहिक लाभ में प्रत्येक गांव अपना उचित भाग प्राप्त कर सके। जिलों के क्षेत्र के बाहर की तथा विभिन्न जिलों की समस्याओं का हल प्रांतीय सभाओं द्वारा होगा, जिनकी निर्मात्री इकाइयां जिला पंचायतें होगी। उनके द्वारा निर्वाचित प्रांतीय सभा प्रान्त के सामूहिक जीवन को व्यवस्थित और समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करेगी। इसी प्रकार प्रांतीय सभाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों के द्वारा राष्ट्रीय संसद का निर्माण होगा, जो समग्र राष्ट्र की सामान्य समस्याओं का निर्धारण राष्ट्रहित की दृष्टि से करेगी और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करेगी।

2.2 विकेन्द्रीकरण : मानवता की प्रतिष्ठा का साधन

लोकतंत्र के गलत रूप का एक परिणाम है—बड़े राष्ट्रीय राज्यों का संगठन और उनके संचालन के लिए निश्चित बालिग मताधिकार, प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति। हजारों और लाखों की आबादियों के क्षेत्र और उनमें हजारों लाखों मतदाता और उनके सीधे मतदान पर चुने जाने वाले देश के किसी भी भाग में रखे जाने वाले नेतागण—जो विभिन्न राजनैतिक दलों के किसी भी भाग में रखे जाने वाले नेतागण—जो विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों के रूप में चुनाव के लिए खड़े होते हैं, जिनकी विचारधाराओं और चुनाव-घोषणा पत्रों के अंतर को सामान्य मतदाता कभी समझ नहीं पाता और चुने हुए सत्ता प्राप्त राजनैतिक दल उन घोषणाओं को वादों को न कभी पूरा करते हैं और न पूरा करने के इरादे से उन्हें करते हैं, फिर वे नेतागण स्वयं अपने आपको चुनाव के लिये खड़ा करते हैं, दल-द्वारा अपने आपको पसंद किये जाने के लिये प्रयत्न करते हैं, दल-द्वारा स्वयं पसन्द किये जाने पर स्वयं जनता को सामने अपनी वकालत करते हैं और विज्ञापन तथा प्रचार के धुआंधार साधनों से मत प्राप्त करके चुन लिए जाते हैं और चुने जाने पर अपने और अपने साथियों तथा दल-द्वारा किये गये खर्च की पूर्ति करने में तथा सत्ता को हथियाने में लग जाते हैं—और वह जनता, जिसने उन्हें चुना था, कहां रह जाती है, इसका पता भी नहीं लगता। अतः यदि चुनाव को वास्तविक होना है तो सीधे वयस्क मताधिकार चुनाव उतने ही क्षेत्र में होने चाहियें, जितने क्षेत्र में मतदाता एक दूसरे को भली भांति व्यक्तिगत रूप से जानते हों, इसके आगे चुनाव अपरोक्ष ही रहने चाहियें। उम्मीदवार को स्वयं खड़े होने, अपने को नामजद करने या करवाने या अपना प्रचार स्वयं करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। छोटी और नीचे की सभाओं द्वारा चुने गये व्यक्ति उत्तरोत्तर ऊंची सभाओं में पहुंचने चाहियें। कार्यकारिणी के निर्माण के लिये इंग्लैण्ड की केंबिन्ट प्रणाली तथा अमेरिका की प्रेसीडेंट प्रणाली दोनों ही दूषित हैं, क्योंकि ये सत्ता के केन्द्रीकरण, दलबंदी की भावना और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देती हैं; इसके लिये स्विट्जरलैंड की कालिजियट प्रणाली की उपादेय है। प्रत्येक स्थिति और अवस्था में प्रतिनिधियों को वापिस बुलाने का अधिकार निर्वाचन क्षेत्र को अवश्य होना चाहिये।

गांव पंचायत से लेकर मानव की पार्लियामेंट तक समग्र राजनैतिक संगठनों में भाग लेने वाले व्यक्तियों में एक ही भावना होनी चाहिये और समाज का संगठन और व्यक्ति का शिक्षण इस प्रकार का हो जो उस भावना को बलवान बनाये और वह है त्याग—भावना। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को परिवार के हित में विलीन कर के त्याग—भावना का परिचय दे; परिवार की ओर से चुना गया व्यक्ति पंचायत में परिवार के हित को गांव के हित में विलीन करे पंचायत का प्रतिनिधि अपने गांव के हित को जिले के हित में विलीन कर दे; इसी प्रकार अन्तिम कड़ी में राज्यों के प्रतिनिधि अपने अलग-अलग छोटे-छोटे राज्यों के संकुचित हितों को मानव जाति के हित में विलीन करके त्याग—भावना का परिचय दें तो राजनैतिक संगठन ठीक तरीके पर चल सकते हैं और अपने आदर्श की ओर बढ़ सकते हैं। यह त्याग—भावना पश्चिमी समाज-संगठन की भावना के बिल्कुल विपरीत है, जो व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति को ही समाज-संगठन का कारण मानती है और लोकतंत्र को व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का साधन मान लेती है। चिंतन की इस मौलिक भूल ने पश्चिमी लोकतंत्र के वर्तमान रूप को जन्म दिया है, जो आधुनिक विश्व में सामूहिक शोषण का शायद सबसे बलवान और सबसे भयंकर साधन साबित हुआ है। इस विषय का निराकरण लोकतंत्र का आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किया जाय और त्याग—भावना को मानव के जीवन की मूलभूत प्रेरक शक्ति। इन्हीं की नींव पर सच्चे राजनैतिक संगठन के भवन का निर्माण सम्भव है और ऐसे संगठन के द्वारा ही सर्वोदय की प्राण प्रतिष्ठा संभव है। विश्व शांति और मानवता की प्रतिष्ठा के लिये भी सत्ता का यह विकेन्द्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है। आज के राष्ट्रीय राज्यों में सत्ता का जैसा केन्द्रीकरण हुआ है, वैसा मानव इतिहास में शायद पहले कभी नहीं हुआ और यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में जैसे संहारक विश्वयुद्ध हुये हैं और आज भी जैसे विकट मानव संहार की तैयारियां दुनियां कर रही है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ। आज मानव जितना तुच्छ और नगण्य माना जाता है, मानव जीवन की और मानवता की जितनी भयंकर अप्रतिष्ठा आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। अतः मानव की दृष्टि से, मानवता की दृष्टि से, उसकी समृद्धि और शांति की दृष्टि से—मानव के हित की किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, हम एक ही समाधान पर पहुंचते हैं और वह है सत्ता का विकेन्द्रीकरण, वह है सत्ता-स्रोत को मानव तक, उसकी सबसे छोटी इकाई गांव तक पहुंचा देना, मानव को अपनी सत्ता का प्रत्यक्षतः और सही तरीके पर स्वामी बनने देना। उसे लोकतंत्र और मानवता के नाम से लुभा करके केन्द्रीय सत्ताधारी राष्ट्रीय राज्यों के द्वारा बलि का बकरा बनाने से

न लोकतंत्र की रक्षा हुई है और न मानवता की, और अगर अब भी मानव न चेते तो दोनों का विनाश निश्चित है।

2.3 सत्ता का विकेन्द्रीकरण

जन-शासन में समस्त जनता की भागीदारी हो, इसके लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण सबसे महत्वपूर्ण और अनिवार्य शर्त है। सत्ता का केन्द्रीकरण वास्तव में जनतंत्र के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, क्योंकि केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति हिंसक शक्ति की प्रतीक होती है और हिंसा का सच्चे लोकतंत्र में कोई स्थान नहीं हो सकता। हिंसा पर निर्भर लोकतंत्र के लिए सहमत कोई व्यक्ति सामान्यजन के स्वर का सम्मान नहीं कर सकता। इसीलिए महात्मा गांधी सत्ता के विकेन्द्रीकरण का आह्वान करते हैं। उनका कहना है— “जब तक सत्ता में सबकी भागीदारी नहीं होती है, सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना संभव नहीं है, लेकिन प्रजातंत्र भीड़तंत्र न बने, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए। अछूत या श्रमिक का भी, जो आपकी रोजी में सहायक बनता है, स्वशासन में भाग है। लेकिन आपको उनके जीवन को छूना होगा, उनके पास जाना होगा, उनके उन झोपड़ों को देखना होगा, जिनमें वे बंद रहते हैं। मानवता के इस पक्ष को देखना भी आप पर निर्भर करता है। उनके जीवन को सुधारना या बिगाड़ना आपके लिए संभव है।” महात्मा गांधी जब सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं, तो इससे उनका अभिप्राय राजनीतिक और आर्थिक, दोनों, क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण से होता है। आर्थिक सत्ता में उत्पादन, विनिमय, विभाजन और उपभोग सम्मिलित होते हैं। ये तत्त्व मनुष्य के अस्तित्व के लिए और उसके विकास के लिए आवश्यक होते हैं। यही नहीं, सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना में भी ये तत्त्व महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए महात्मा गांधी समस्त सम्पदा को समज की मानते हैं; किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के उस पर अधिकार को वे नहीं स्वीकारते हैं। जिनके पास सम्पदा है, वे उसके स्वामी नहीं, अपितु न्यासी हैं। गांधीजी का न्यासी का सिद्धान्त इसी अवधारणा पर आधारित है।

नये समाज-संगठन और अर्थव्यवस्था में इसे आमूल बदल देना होगा। सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकना होगा। सत्ता संचालक को भ्रष्ट करती है, और अधिकतम और निरंकुश सत्ता उसे अधिकतम भ्रष्ट करती है, अतः अगर हमें ऐसी व्यवस्था चाहिये जो इस प्रकार के अधिनायकत्व और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न गुलामी और शोषण को रोक सके तो हमें सत्ता के इस केन्द्रीकरण की जड़ पर ही आघात करना होगा। सत्ता का यह विकेन्द्रीकरण राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में करना होगा। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह है कि राजनैतिक जीवन का मूलभूत आधार एक गांव या कस्बा माना जाय, जिसके निवासी एक दूसरे को आपस में जानते-पहचानते हों। गांव के प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष द्वारा सीधे रूप से चुनी हुई पंचायत गांव के समग्र राजनैतिक जीवन की व्यवस्था और संगठन करे और गांव की सुरक्षा और व्यवस्था के लिए जिम्मेदार हो। वह आवश्यक कर लगा सके और आवश्यक व्यय कर सके। अनेक गांवों के सामूहिक और सामान्य मामलों की व्यवस्था का भार जिला पंचायत पर हो, जिसके निश्चित अधिकार और कर्तव्य हों। जिला पंचायत का चुनाव गांवों के पंच मिलकर करें जिससे वे जिला पंचायत के प्रतिनिधियों को वैयक्तिक रूप से जान सकें और उनसे सम्पर्क रख सकें। प्रत्येक जिले की उन्नति और विकास यथासंभव स्वावलंबन के आधार पर हो और जिले की समस्याओं का हल जिला पंचायत द्वारा यथाशक्ति किया जा सके। जो मामले विभिन्न जिलों से संबंधित हों उनके लिए विभिन्न जिला पंचायतों के प्रतिनिधियों द्वारा मिलकर चुनी हुई प्रान्त पंचायत होनी चाहिये। इसी प्रकार प्रांतीय पंचायतों के प्रतिनिधि केन्द्रीय या राष्ट्रीय पंचायत का चुनाव करें। सत्ता का इन विभिन्न इकाइयों में विभाजन का तरीका भी आज से बिल्कुल दूसरी तरह का होना चाहिये। सौर अनिर्दिष्ट अत्याचार अधिकार गांव पंचायतों के माने जाने चाहिये और जिला, प्रांत और केन्द्र के अधिकार निश्चित और सीमित हों और किसी भी नये अधिकार के बारे में मतभेद होने पर राष्ट्र के सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय सर्वमान्य हो।

न्याय का वर्तमान केन्द्रित, पेचीदा और खर्चीला तरीका भी बिल्कुल बदल देना होगा। न्याय जहां तक हो स्थानीय और तत्कालिक होना चाहिये ताकि आजकल के अनावश्यक व्यय और समय की बर्बादी से बचा जा सके। इसके लिए गांव पंचायतों के अधिकारों के अन्तर्गत मामले गांव न्यायालय में ही तय हों और उनकी अन्तिम अपील जिले तक ही जानी चाहिये, आगे नहीं। इसी प्रकार जिले के अधिकारों संबंधी मामले प्रान्तीय न्यायालय में समाप्त हो जाने चाहियें और प्रान्तीय न्यायालय प्रायः सभी मामलों में

अंतिम हों, केवल केन्द्रीय प्रश्नों संबंधी मामलों की अंतिम अपील राष्ट्रीय न्यायालय तक पहुंचनी चाहिये। न्यायालय में जाने वाले मामलों की कमी और उनके निपटाये जाने में शीघ्रता ही उन्नति का मापदंड माना जाना चाहिये। न्यायाधीश अगर वादी, प्रतिवादी, गवाह, वकील सबको अपने स्थान पर इकट्ठा करने और कागजी कार्यवाही को लगातार बढ़ाते रहने के बजाय स्वयं मामले के स्थान पर जाकर उसे समझ लें और तुरन्त निर्णय देने की प्रथा डाली जाय तो न केवल न्याय सस्ता और शीघ्र मिल सकेगा बल्कि वकीलों का शोषण पर आधारित पेशा भी खतम हो जायेगा, वे सब किसी न किसी उत्पादक उद्योग में लग सकेंगे और अपने खाली समय में अथवा अपने नागरिक या मैत्री-कर्तव्य के नाते ही वादी-प्रतिवादी की मदद और सुविधा के लिये काम कर सकेंगे। तब उनकी वृत्ति मामलों को सुलझाने और समझौता कराने की रहेगी, न कि उन्हें लड़ाने और मामलों को उलझाने और लम्बा करने की, जैसी आजकल है।

सत्ता के इस विकेन्द्रीकरण में केवल पंचायतों की स्थापना ही काफी नहीं होगी, क्योंकि सरकारों का निर्माण आज की पार्लियामेंटरी पद्धति से करना भी सत्ता के केन्द्रीकरण में सहायक है। इससे राजनैतिक दलबंदी सत्ता की होड़ में पड़ जाती है। अतः बहुमत के आधार पर कार्यवाहक समिति बनाने के बजाय उसे सब की सम्मति के आधार पर बनाने का प्रयत्न किया जाये और इसके लिए सरकार के किसी प्रश्न पर हान जाने पर त्यागपत्र देने के बजाय उस प्रश्न का ही बहुमत के निर्देशानुसार निर्णय कर लिया जाय और किसी मंत्री पर बहुमत से अविश्वास प्रकट किये जाने पर सारी सरकार के त्यागपत्र देने के बजाय वह मंत्री स्वयं अपने पद से त्यागपत्र दे दे और कार्यवाहक समिति का कार्यकाल पंचायत के कार्यकाल तक रहे तो इससे राजनैतिक दलों का विकास सत्ता के केन्द्रीकरण और उसके लिये होड़ के रूप में नहीं होगा, बल्कि आवश्यक कर्तव्य-निर्वाह के लिये होगा। इस दृष्टि से अमेरिकन और ब्रिटिश लोकतंत्रीय पद्धति के बजाय स्विस् पद्धति की ओर आदर्श रूप में देखना अधिक उचित होगा।

राजनैतिक सत्ता के आंतरिक विकेन्द्रीकरण और आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उक्त राष्ट्र साम्राज्यवाद, उग्र राष्ट्रीयता तथा व्यापारिक अधिकारवाद से मुक्त हो जायेगा और अन्य राष्ट्रों की भी लोभपूर्ण दृष्टि उस पर नहीं पड़ेगी। वह राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय गौरव के स्वार्थ पूर्ण और संदेहजनक सिद्धान्त के बजाय न्याय और स्वावलम्बन का समर्थक बन जायेगा और केवल अपनी अतिरिक्त उत्पादन की वस्तुओं का विनिमय बाहर की अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं से करेगा और इसलिये उसका विदेशों से संबंध धीरे-धीरे कूटनैतिक और व्यापारिक कम और सांस्कृतिक अधिक होता जायेगा। इसका परिणाम अन्य देशों पर भी पड़नेगा और वह राष्ट्र नये अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का जनक होगा और राजनैतिक स्वार्थ के आधार पर संगठित वर्तमान राष्ट्र संगठनों के बजाय सांस्कृतिक आधार पर संठित अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रमुखता मिलेगी केवल अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एक ऐसी संसी होगी जिसमें राष्ट्रों के बीच के आपस के मतभेदों के तय न होने पर अन्तिम निर्णय उस न्यायालय से कराया जा सकेगा और चूंकि मतभेदों में राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा और गौरव के झूठे और हारिकारक सिद्धांत बाधक न होंगे, अतः न्याय और समता के आधार पर न्यायालय के निर्णयों को कार्य रूप में परिणत करने में प्रायः कठिनाई नहीं होगी।

इस प्रकार यह निश्चित प्रतीत होता है कि राष्ट्र में राजनैतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप स्वतः ही राष्ट्रों की आपस की प्रतिस्पर्धा फूट और कूटनीति के खातमे की शुरुआत हो जायेगी और एक राष्ट्र में भी किये गये इस तरह के साहसपूर्ण प्रयोग का गम्भीर प्रभाव सारी दुनिया के राष्ट्रों पर पड़ेगा। इस प्रकार पूंजीवादी और साम्यवादी साम्राज्यवादी के कारण विश्व में जो आज संदेह, आशंका और विनाश की सरपट दौड़ हो रही है वह खतम हो जायेगी, क्योंकि आज मानव में बाहर की ओर बढ़ने की जो राक्षसी पद्धति बल पकड़ रही है उसका स्थान अन्दर की ओर बढ़ने की ईश्वरीय पद्धति ले लेगी।

2.4 प्रजातंत्र : प्रतिनिधित्व एवं जनमत

प्रतिनिधित्व एवं जनमत, दोनों, की लोकतंत्रात्मक शासन के निर्माण में और उसके संचालन में भी अति महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में विश्व के समक्ष अपने विचार रखे। प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में उन्होंने कहा, “यह मेरी समझ से बाहर की बात है कि प्रतिनिधियों की बड़ी संख्या किसी भी रूप में कार्य संचालन के लिए सहायक हो सकती है, अथवा इससे प्रजातंत्र के सिद्धान्त की सुरक्षा हो सकती है। मात्र पन्द्रह सौ जनहित की समझ रखने वाले, सचेत और

सच्चे प्रतिनिधि प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिए छः हजार चुने हुए गैर जिम्मेदार लोगों से अच्छे सिद्ध हो सकते हैं। प्रजातंत्र की रक्षा के लिए जनता को स्वतंत्रता की तीव्रता से समझ होनी चाहिए; आत्म-सम्मान और एकता की प्रबल भावना उसमें रहनी चाहिए। साथ ही उसे चाहिए कि वह उन प्रतिनिधियों का चयन करे, जो अच्छे व सच्चे हों।”

स्पष्ट है कि जनतंत्र में श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व की स्थापना के लिए जनता में चेतना का होना आवश्यक है। फिर लोकतंत्र के अभिप्राय से जनता परिचित हो, और ऐसा करके ही वह अपने सच्चे प्रतिनिधित्व का चयन करे, क्योंकि यदि सच्चे प्रतिनिधि होंगे, तो वे अपना सही कर्तव्य भी निभा सकेंगे, भले ही संख्या में वे कम हों। इसलिए प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त में महात्मा गांधी संख्या को अधिक महत्त्व नहीं देते हैं। वे उन्हीं प्रतिनिधियों को चाहते हैं, कहना न होगा कि वे भले ही संख्या में कम हों, जो जनहित की अधिकाधिक पूर्ति कर सकें। अंततः जनहित ही तो प्रजातंत्र की मूल भावना होती है। स्वस्थ जनतंत्र ही, वास्तव में, राज्य और सरकार को नियंत्रित कर सकता है। यदि समाज को शुद्ध और स्वस्थ रखना हो, तो ऐसा केवल जनमत द्वारा ही संभव हो सकता है, क्योंकि जनमत की अवहेलना कर पाना राज्य या सरकार के लिए सरल नहीं है। महात्मा गांधी के शब्दों में, “कोई लोकप्रिय राज्य जनमत की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है, तो उसका विनाश हो जाएगा।” प्रश्न यह है कि वास्तविक जनमत का निर्माण कैसे किया जाए? इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी का कहना है कि केवल सही शिक्षा ही इस कार्य को कर सकती है। यह आवश्यक भी है, क्योंकि यदि सही शिक्षा न मिले, तो जनमत दूसरी राह पर जा सकता है; और ऐसी स्थिति में इसे सहन कर पाना अत्यन्त ही कठिन होगा। उन्हीं के शब्दों में, “स्वस्थ जनमत ऐसा प्रभावशाली होता है कि जिसकी पूर्ण महत्ता को हमने अनुभव नहीं किया है ... जनमत उस समय असहनीय हो सकता है, जब वह आक्रामक व हिंसक हो जाए।”

निश्चित रूप से बहुमत का सिद्धान्त प्रजातंत्रात्मक शासन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है; अर्थात् लोकतंत्र की स्थापना का पैमाना बहुमत का निर्णय होता है, लेकिन बहुमत जो भी निर्णय कर दे, क्या उसे स्वीकार किया जाए? महात्मा गांधी कहते हैं कि एक सीमा तक बहुसंख्यक दल का निर्णय स्वीकार करना चाहिए, लेकिन प्रजातंत्र में मनमानी को कोई स्थान नहीं हो सकता, भले ही वह बहुमत प्राप्त दल की ही हो। बहुमत के निर्णय को चर्चा के संदर्भ में स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है, ऐसा भी उनका मानना है। इसी के साथ, यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रत्येक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा सावधानीपूर्वक हो; और ऐसा न हो पाने की स्थिति में, “अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के विपरीत जाने का पूरा-पूरा अधिकार है।” दोनों बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक एक साथ मिलकर चलें और शोषणमुक्त समाज की स्थापना में योगदान करें, इस हेतु गांधीजी का कहना है, “हमें आदेश के सिद्धान्त को मूर्खतापूर्ण तीव्रता से लागू नहीं करने देना है, तथा बहुसंख्यकों के प्रस्ताव का दास नहीं बनना है। ऐसा करना पुराने जंगल-राज्य की जहरीले रूप में पुनरावृत्ति होगी। यदि अल्पसंख्यकों के अधिकारों का आदर करना है, तो बहुसंख्यकों को उनके मत व कार्य को सहना होगा, तथा उनका आदर करना होगा। यह बहुमत का कर्तव्य होगा कि अल्पमत वालों की सुनवाई हो और उनका निरादर न हो...। “इसी कड़ी में उन्होंने यह भी कहा, “मुक्त मत के अधिकार का दावा और मुक्त कार्य, जैसा कि हम अपने लिए करते हैं, हमें दूसरों के लिए भी करना चाहिए। बहुमत का शासन, जब यह बल में परिवर्तित हो जाए, उसी प्रकार असहनीय होता है, जैसे कि अल्पमत वाली नौकरशाही। हमें सहनशीलता के साथ अल्पमत वालों को अपने मत के साथ जोड़ना चाहिए; और उन्हें तर्क व सहमति के आधार पर ही सही ढंग से साथ लाने का प्रयास करना चाहिए। इस संदर्भ में सुनिश्चितता के लिए आवश्यक है कि किसी भी विधायी कार्यवाही से पहले उस पर धैर्य से विचार किया जाए, क्योंकि अंततः धर्म लोकतंत्र की माँग है।

2.5 प्रजातंत्र : अहिंसा और दण्ड

महात्मा गांधी प्रजातंत्र को अपराध-मुक्त नहीं मानते; ऐसा संभव भी नहीं है। व्यक्ति प्रायः कोई-न-कोई, छोटा-बड़ा अपराध, जाने-अनजाने करता ही है। सामान्य रूप से भले ही अपराध शब्द को कानूनी संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता हो, लेकिन इसी से, या नहीं तक, बात समाप्त नहीं होती। कई बार इस शब्द को नैतिक के साथ भी जोड़ा जाता है। कोई नैतिक रूप से गलत करे, तो उसके साथ

भी जोड़ा जाता है। कोई नैतिक रूप से गलत करे, तो उसके लिए क्या कहा जाएगा? क्या नैतिक रूप से वह अपराधी नहीं होगा? वह अवश्य ही अपराधी होगा। महात्मा गांधी के अनुसार तो नैतिक अपराध दूसरे किसी अपराध से कम नहीं होता है। यह अहिंसा के सिद्धांत के विरुद्ध होता है।

इस प्रकार अपराध की अवधारणा विस्तृत है, लेकिन यहां हम केवल कानूनी अपराध की ही बात करेंगे, जिसके लिए थामस हाब्स ने कहा है, “कर्म या विचार द्वारा किया गया ऐसा अपराध पाप है, जिसे कानून मान्यता नहीं देता है ...।” अर्थात्, जैसाकि एक अन्य विद्वान ने भी कहा है, “अपराध एक हानिकारक कृत्य है और इस प्रकार वह अनैतिक कार्य भी हैं, जिसकी कानून में मनाही है।” लेकिन ऐसे कानूनी अपराध भी हैं, जो अनैतिक तो नहीं हैं, परंतु वे आपत्तिजनक हैं। हम कह सकते हैं कि अपराध सामान्यतः अनैतिक कृत्य हैं, अथवा कुछ मामलों में वे नैतिक कृत्य भी, जिन्हें करने की कानूनानुसार मनाही है। इस प्रकार, संक्षेप में, अपराध वे कृत्य हैं, जो लागू न निश्चित कानून की अवहेलना कहते हैं।

अब यदि अपराध होगा, तो उसको निर्धारित करते हुए दण्ड की व्यवस्था की बात भी होगी। दण्ड कितना हो? उसका स्वरूप क्या हो? इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी के अपने ही विचार हैं। इन विचारों के मूल में भी उनकी अहिंसा के प्रति वचनबद्धता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। इस सम्बन्ध में उनके ‘पाप’ के बारे में की कई टिप्पणी उल्लेखनीय है। वे कहते हैं, “मैं अपने पाप के परिणामों से बचना नहीं चाहता हूँ; मैं पाप से ही छुटकारा चाहता हूँ, और ... पापी विचार से भी; और जब तक इस ध्येय को मैं नहीं प्राप्त कर लेता हूँ, तब तक मैं विश्राम नहीं करूँगा।” मानव प्रायः, जाने-अनजाने में, पाप करता ही रहता है। सांसारिक व्यवहार ऐसे हैं कि उनमें लिप्त रहते हुए पापों से पूर्णतः बच पाना मनुष्य के लिए सामान्यतः दुष्कर है। फिर पाप का फल तो भोगना ही होता है। अपराध स्वतः ही पाप है। इसीलिए अपराध के लिए दण्ड भी आवश्यक है। लेकिन दण्ड ऐसा होना चाहिए कि जिसमें अपराधी को भविष्य में सुधर जाने का अवसर भी मिले। गांधीजी की यह दृढ़ मान्यता थी कि सभी में सुधर जाने की संभावना उपस्थित होती है। इसी कारण उन्होंने ‘मृत्यु-दण्ड’ के प्रावधान को समाप्त करने की आशा रखी थी।

स्पष्ट है कि महात्मा गांधी लोकतंत्र की गतिविधियों को अधिकाधिक अहिंसा के साथ सम्बद्ध करने के पक्षधर हैं। वे प्रत्येक स्तर पर और प्रत्येक क्षेत्र में परस्पर सहयोग को अधिकाधिक बढ़ाना चाहते हैं। इसीलिए उनका आत्मनिर्भर, शोषणमुक्त, अवसरवाद से रहित और परस्पर प्रेम पर आधारित समाज के निर्माण पर बल है। ये समस्त बातें अहिंसा की भावना को सुदृढ़ करने वाली हैं। इसलिए, क्योंकि इनके माध्यम से समानता के साथ ही स्वाधीनता और न्याय की सुनिश्चितता को बल मिलता है। इसी के साथ व्यवस्था को नैतिकता और सदाचार से समृद्ध करके महात्मा गांधी उसे अहिंसा के और निकट ले आते हैं। निश्चित ही नैतिकता एवं सदाचार अहिंसा के दो स्तम्भ हैं। अतः कुल मिलाकर महात्मा गांधी द्वारा इस सम्बन्ध में व्यक्त सारे-के-सारे विचार लोकतंत्र की सफलता और समृद्धि के लिए महत्वपूर्ण हैं।

महात्मा गांधी ने अधिकार से अधिक कर्तव्य की महत्ता बताई है। कर्तव्य का भली-भांति ज्ञान रखने वाला कभी भी दूसरे के अधिकार का अतिक्रमण नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में, कर्तव्यपरायण सदा ही पराधिकार का सम्मान करेगा। ऐसा करते हुए वह लोकतंत्र की नींव को सुदृढ़ करने में योगदान देगा। गांधीजी ने इसीलिए बारम्बार स्मरण कराया है कि लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए नागरिकों में कर्तव्य की भावना गहराई से बनी रहनी चाहिए, भले ही वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत हों या नहीं। अंततः जैसा कि पहले भी लिखा है, कर्तव्य के बाद अधिकार स्वतः ही मिल जाता है। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति अहिंसा से विमुख नहीं होता, वह न्याय-पथ पर डटा रहता है और जनतंत्र का सच्चा प्रहरी सिद्ध होता है। ऐसा ही व्यक्ति अनुशासित भी हो सकता है, और सही अर्थों में जनशासन की नितान्त आवश्यकता भी। अनुशासन के बिना सही अर्थों में कोई अहिंसक होने का दावा नहीं कर सकता। जो अनुशासन को नहीं मानता है, उसकी लोकतंत्र में भी आस्था नहीं हो सकती। इसलिए महात्मा गांधी ने तो यहां तक कह डाला है कि किसी जन्मजात प्रजातंत्रवादी के लिए आवश्यक है कि वह जन्मजात अनुशासित भी हो। इस रूप में भी महात्मा गांधी के विचार महत्वपूर्ण हैं और वे लोकतंत्र को अहिंसा की ओर ले जाने वाले हैं। अतः प्रजातंत्रात्मक शासन के संचालकों को चाहिए कि वे महात्मा गांधी के

विचारों को ध्यान में रखते हुए, जहां एक ओर जनहित में कार्य करें, वहीं दूसरी ओर व्यवस्था की सफलता के लिए नागरिकों में कर्तव्यपरायणता और अनुशासन की भावना का विकास भी करें।

एक व्यावहारिक प्रश्न यह आता है कि यदि प्रजातंत्र में जनेच्छानुरूप कार्य नहीं होता, शासन जनापेक्षा पर खरा नहीं उतरता, तो ऐसी स्थिति में, अहिंसा की परिधि के भीतर ही, क्या किया जाए? महात्मा गांधी का सुझाव है कि पहले कदम के रूप में, “यदि कोई गलती सामने आई है, तो जनता उसकी ओर सरकार का ध्यानाकर्षण करे।” इसके बाद भी यदि सरकार की कार्यपद्धति में सुधार नहीं आता है और जनापेक्षा दोहराई जाती है, “तो जनता सरकार को हटा सकती है।” सरकार को हटाने के लिए जनता के पास मताधिकार की शक्ति होती है और उसका प्रयोग वह कर ही सकती है। इसी के साथ-साथ, आवश्यकानुसार, विशेष अवसरों पर प्रजातंत्र में भी सत्याग्रह का मार्ग जनता अपना सकती हैं। जहाँ तक सम्बन्ध अल्पमत का है, यदि उसके साथ न्याय नहीं किया जाता है, तो उसे चुनी हुई सरकार के साथ असहयोग करने का अधिकार है। ये सभी बातें अहिंसा की परिधि के भीतर हैं। इनसे लोकतंत्र सुदृढ़ होता है। अन्याय और परतंत्रता को न तो कोई स्थान अहिंसा के सिद्धान्त में हैं और न ही लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में ही है। इसीलिए अहिंसा एवं लोकतंत्र को, घनिष्ठ रूप में एक-दूसरे के साथ जोड़ते हुए, महात्मा गांधी सभी के लिए न्याय और स्वतंत्रता की समान रूप से कामना करते हैं; और इसी की प्रत्याभूति के साथ वे शांति की स्थापना करने को उत्सुक हैं।

2.6 आध्यात्मिक प्रजातंत्र

“समाजवाद” की तरह “प्रजातंत्र” शब्द भी उतना अधिक अनेकार्थक बन गया है यह उत्कृष्ट से उत्कृष्ट एवं गहिरे से गहिरे व्यवस्था का द्योतक ही है। साम्यवादी देशों में सर्वहारा की तानाशाही को “जनवादी जनतंत्र”, पाकिस्तान में अयूब की तानाशाही को “बुनियादी जनतंत्र” इंडोनेशिया में सुकर्ण के राष्ट्रपतित्व को “नियंत्रित जनतंत्र”, भारत में अनुशासन के नाम पर इमरजेंसी के समय सीमित जनतंत्र आदि इसके रूप-प्रतिरूप हैं। भारतीय संविधान में 1976 में 42वें संशोधन के द्वारा “प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रजातांत्रिक” शब्दों के स्थान पर “प्रभु सत्ता सम्पन्न जनतांत्रिक समाजवादी धर्मनिरपेक्ष” जोड़े गये हैं।

प्रजातंत्र केवल एक राज्य व्यवस्था ही तो नहीं यह तो समाज व्यवस्था और जीवन व्यवस्था का एक स्वरूप है। इसीलिए जनतंत्र की समस्या, महज राजनैतिक या सामाजिक ही नहीं बल्कि अन्ततोगत्वा नैतिक और आध्यात्मिक है। प्रजातंत्र का प्राण स्वतंत्रता है। मानव-प्रतिष्ठा एवं मानव-सुख के लिए व्यक्ति स्वातंत्र्य सर्वोपरि है इसलिए मिल्टन ने कहा था— “जहां स्वतंत्रता है, वहीं हमारा देश है।” महाकवि दांते की भी यही भावना थी— जब इन्होंने कहा— “मानव जाति की वहीं स्वर्णिम स्थिति होती है जब उसे अधिकाधिक स्वातंत्र्य उपलब्ध होता है।” स्वतंत्रता की बलि वेदी पर मानव जीवन और शांति की साधना भी व्यर्थ हैं इसलिए हेनरी पैट्रिक ने कहा था— “या तो मुझे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य दीजिये या मृत्यु दीजिए।” संक्षेप में जीवन ही स्वतंत्रता का पर्यायवाची है। झाइडेन ने तो यहां तक कहा था— “यदि स्वर्ग में भी बंधन हो तो वहां की दीवारों को फांदकर मैं भाग जाना पसंद करूंगा।” असल में स्वतंत्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है और यह उसको ईश्वर का प्रसाद है। कोई भी राष्ट्र स्वतंत्रता के बिना राष्ट्र कहलाने का अधिकारी नहीं है।

लेकिन व्यक्ति को हमेशा स्मरण रखना चाहिए की स्वतंत्रता का अभिप्राय स्वच्छन्दता नहीं है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए उसकी स्वतंत्रता समाज के सन्दर्भ में प्रत्येक चरण में मर्यादित होगी। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और परस्पर सामाजिक निर्भरता का दोनों का समधुर सामंजस्य आवश्यक हैं इच्छापूर्वक कुछ भी करना प्राकृतिक स्वतंत्रता है लेकिन जिस समाज में वह रहता हैं उसके साथ अपने संबंधों को ध्यान में रखकर जो कुछ करता है, वह नागरिक स्वतंत्रता है और इस समाज में हमारे लिये वही अभीष्ट हैं स्वतंत्रता दो प्रकार की है — झूठी और सच्ची। हम जो चाहे वहीं करना मिथ्य स्वातंत्र्य है। लेकिन जो हमें करना चाहिए वह करना, सच्ची स्वतंत्रता है। इसीलिए एडवर्क ने कहा था कि विवेक और सद्गुण के बिना स्वतंत्रता का अर्थ ही क्या है? विवेकहीन और सद्गुणविहीन स्वतंत्रता के नाम पर न जाने कितने कुकर्म हुए थे। असल में स्वतंत्रता बिना नैतिकता के स्थापित ही नहीं हो सकती है। सद्गुण के बिना स्वाजेत्र्य एक मृग मरीचिका है। इसीलिए शेक्सपियर ने कहा था— “विवेक है। सद्गुण ही स्वातंत्रता की जननी है। “जिस स्वतंत्रता में व्यवस्था या नैतिक गुणों का सामंजस्य नहीं है, उसका लोप होना सुनिश्चित है। जब हमारी स्वतंत्रता हमारे पड़ोसियों के लिये अभिशाप हो जाती हैं तो

स्वतंत्रता ही समाप्त हो जाती है। इसलिए सच्ची स्वतंत्रता में दूसरों के अधिकारों को बिना चोट पहुंचाये अपने अधिकारों को दूसरे के साथ मिलकर उपयोग करना होता है। हम क्षुधा और कामनाओं के जिस-जिस अनुपात में नियंत्रित कर सकने की स्थिति में रहते हैं, ठीक उसी अनुपात में हम नागरिक स्वतंत्रता के अधिकारी होते हैं, उसी अनुपात में हम स्वातंत्र्य लाभ करने में समर्थ होते हैं। असल में हमारी कामना ही हमारे वास्तविक बंधन है। स्वतंत्रता के बिना राष्ट्र का अस्तित्व नहीं रह सकता है और न स्वतंत्रता का अस्तित्व सद्गुण के बिना रह सकता है। जिस भारत में विवेक की अपेक्षा अविवेक और नैतिक आध्यात्मिक चेतना की अपेक्षा अविवेक और नैतिक आध्यात्मिक चेतना की अपेक्षा भावादेश सशक्त एवं सबल होता है, वहां से स्वतंत्रता की देवी पलायन कर जाती है। सच्ची स्वतंत्रता तो दूसरों के अधिकारों, विशेष अधिकारों या हितों के साथ कभी भी हस्तक्षेप नहीं करती।

अतः हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता और प्रजातंत्र मूलतः एक नैतिक आध्यात्मिक जीवन मूल्य है। आध्यात्मिक एक सार्वभौम विचार है वह पाश्चात्य या पौराणिक या भारतीय नहीं रह जाता है यह तो समस्त प्राणियों को सृष्टि के आत्मिक एकता की प्रतीति पर आधारित विचारधारा है। अतः प्रजातंत्र को सम्प्रदाय और जाति के बंधनों में बांधना इसकी भावना के साथ अन्याय होगा। मनुष्य पहले मनुष्य है, बाद में वह किसी सम्प्रदाय या जाति का होता है। इसलिए मानव निष्ठा और सम्प्रदाय या जाति की निष्ठा में जब द्वन्द्व हो तो मानव-निष्ठा को वरण करना ही प्रजातंत्र की पहली कसौटी है लेकिन धर्म, सम्प्रदाय और जातियां भारत में कोई स्वप्न नहीं सदियों का यथार्थ है। करोड़ों-करोड़ों अनपढ़ एवं निर्धन भारतवासियों का जिस सम्प्रदाय या जाति एवं सम्प्रदाय से मुक्त रखना आसान भी नहीं है। धर्म के नाम पर आस्था एवं भावनाओं को व्यवस्थित ढंग से पाला-पोसा गया है, फिर भी हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान को धर्म निरपेक्ष जनतांत्रिक राष्ट्र के रूप में घोषित करने का साहस किया है। सन् 1947 के बाद नेता उनके विभिन्न राजनैतिक दलों ने धर्म निरपेक्षता का पूरा और सही अर्थ भी नहीं समझा और यदि समझा भी तो वोट बैंक निर्माण करने की वृत्ति के कारण इस पर अमल नहीं कर सके। इसलिए आज जब अल्पसंख्यकों के अनुचित तुष्कीकरण या विकृत धर्म-निरपेक्षता का आरोप लगाया जाता है तो वह बहुत गलत नहीं दीखता।

धर्म निरपेक्षता मूलतः एक पश्चात्य अवधारणा है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग जे.जे. होलेक ने अपनी दो पुस्तकों में किया था इसका उद्भव एक अलग सांस्कृतिक लोकाचारों, विशिष्ट परिस्थितियों और चिंतन प्रतिक्रियाओं में हुआ था। यह ज्ञान का एक स्वायत्त क्षेत्र स्थापित करने का प्रयत्न था जो अति प्राकृतिक और धार्मिक पूर्वधारणाओं से स्वतंत्र है। राजनीतिक मामलों में मानव-विवेक और नैतिकता एवं बौद्धिकता की महत्ता का प्रदर्शन करते हुए राज्य की वैज्ञानिक सत्ता के आधार के रूप के धर्म को नकारा गया तथा चर्चा और राज्य के पृथक् अस्तित्व और अधिकार क्षेत्र की अवधारणा बनें। दर्शन के क्षेत्र में धर्म-निरपेक्षता धर्मों और आध्यात्मिक निरपेक्ष पूर्णताओं और ब्रह्माण्ड के विरुद्ध विद्रोह था। परन्तु भारत में धर्म हमारे जन-जीवन एवं सत्ता के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और भारतीय संस्कृति और मानस अनिवार्यतः धार्मिक हैं। अतः "सैक्यूलरिज्म" शब्द ही अभाष्य शब्द था और भारतीय समाज इस संकल्पना से पूर्णतः परिचित नहीं था और इसे पूर्व स्टीरियोटाईप शब्द की तरह एक सुविधापूर्ण नारे की तरह हम दुहराते रहे हैं भारत में धर्म-निरपेक्षता धर्मों के प्रति उदासीनता या अलगाव नहीं बल्कि सर्व-धर्म संभाव है। भारती में धर्म में एक केन्द्रीय धर्मग्रंथ, एक धार्मिक पैगम्बर एवं निश्चित कट्टरपंथ, एक केन्द्रीय सत्ता या एक ही धर्म में एक केन्द्रीय सत्ता या एक ही मार्ग की कल्पना तब तक अज्ञात थी जब तक इस्लाम या ईसाईयत का आगमन नहीं हुआ। संक्षेप में धर्मनिरपेक्षता धार्मिक सहिष्णुता की पर्याय है यहां तो वेद का उद्घोष— "एक सत् विद्याः बहुधा त्वरितः।" गीता ने भी यो यो यांयां तनु भक्तः श्रद्धयाचितुनिच्छति। तस्य तस्याचला श्रद्धा तामते विद्वयाम्यहम्। सम्राट अशोक के शिलालेख आज भी हमें इसी सत्य को उजागर कर रहे हैं— "कोई व्यक्ति तब तक अपने धर्म का आदर नहीं करता जब तक वह दूसरों के धर्म का आदर नहीं करता।" "डॉ. राधाकृष्णन के विचार में धर्म-निरपेक्ष का अर्थ न अधर्म है, नास्तिकता, न ही उसका अर्थ है भौतिक सुख-सुविधाओं पर बल देना। इस सिद्धांत में केवल आत्मा से संबंध रखने वाले मूल्यों की सार्वभिकता पर बल दिया गया है, जिन्हें प्राप्त करने के मार्ग विभिन्न हैं।" भारतीय परम्परा का केन्द्रीयभूत तत्त्व अध्यात्म है। इसका मुख्य सूत्र चेतना का अन्तर्मुखी परिशीलन है। चेतना में विषय भी व्यक्ति होते हैं, विषयी भी। विषयी को एक विशिष्ट मानकर और विषयों से अलग करने पर उसकी आत्मकल्पना से कुठित हुए बिना उसके चैतन्यमय रूप का

निविडतकर अनुसंधान की अध्यात्म साधना का मार्ग है। रिलीजन शब्द से व्ययदेश्य धर्म अन्य संस्कृतियों में परलोक मार्ग एवं एकान्तिक देवता उपासना के रूप में प्रसिद्ध है। भारतीय परम्परा में इस प्रकार का धर्म आध्यात्मिक मुक्ति के धर्म से अवर माना गया जो स्वयं ज्ञान और योग से अभिन्न है। स्वतंत्र वस्तुओं के विषय में चेतना कोई परतंत्र धर्म नहीं है। बल्कि विशेष वस्तु प्रतिभाग उसी से सिद्ध होता है। “यही मूल तत्व, मूल देवता, मूल हेतु है—” “चितिः स्वतंत्रता विश्वसिद्धि हेतुः” अतः चेतना का अनुसंधान ही भारतीय परम्परा का यंत्र है—। “चितिरेव चेतन पदादवतदा चेन्य संकोचिनी चित्रम्। (प्रत्यचिज्ञाहृदय) (1,5) भारतीय परम्परा अनिवार्यताः धर्म—सापेक्ष और भारतीय धर्म—परम्परा अध्यात्म—विद्या से जुड़ी हुई है। राजाओं को व्यक्तिगत धर्म होता था किन्तु उसी धर्म के विरुद्ध राज्य द्वारा कार्यवाही नहीं की जाती थी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म के महत्व को स्वीकार किया गया। भारतीय मानव यह मानता रहा है कि ईश्वर पंथवादी नहीं है, न ही किसी पुस्तक या पैगम्बर अवतार से बंधा हुआ है, अपितु सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है, इसलिए शाश्वत, चिरंतन और सनातन है। अतः भारती में धर्म—धर्मनिरपेक्षता का भारतीयकरण आवश्यक है। और भारतीयकरण का अर्थ है, अध्यात्मीकरण। धर्म निरपेक्षता ने तो धर्म विरोधी जीवन—दर्शन है, न कोई नकारात्मक संकल्पना। असल में भारतीय संस्कृति अपने उषाकाल से ही आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित रही है। एक राष्ट्र के रूप में हमारी विशेषता का यही आधार है। आध्यात्मिक जीवन भारती की सच्ची प्रतिभा है। भारत के अन्तःकरण को सर्वाधिक अपील करने वाले सैनिक विजेता, धनाढ्य व्यापारी या महान् राजनय न होकर पुण्यात्मा का संत एवं ऋषि रहे हैं। जो अभितत्व की खोज में संलग्न रहे। न तो संतति द्वारा न सम्पति द्वारा वरन त्याग ही अमृतत्व की उपलब्धि मानी गयी— “न प्रजया धनेन त्यागे नैके अमृतत्व मानुशः।” नैतिक एवं आध्यात्मिक वृत्ति का विकास ही हमारी मूल प्रेरणा रही। भारतीय इतिहास के सर्वाधिक गौरवशाली पृष्ठ वे ही हैं जिनमें आध्यात्मिक अनुभूति या चिंतन की ऊंचाई है। धर्म—निरपेक्षता मूलतः एक भौतिकवादी आन्दोलन था और उसका आधार प्राचीन भारती की मुख्यतः आध्यात्मिक परम्परा में मिलना कठिन है। धर्म और राजनीति का पृथक्करण भी भारतीय परम्परा को स्वीकार्य नहीं। भारत में धर्म संस्थागत अर्थ में नही आध्यात्मिक नैतिक अर्थ में व्यवहृत होता है।

उपर्युक्त बातों के आलोक में हमें “धर्मनिरपेक्षता” की कल्पना की “प्रजातंत्र” के साथ जोड़ना उपयुक्त नहीं लगता। भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय धर्म, भारतीय परम्परा और भारतीय संस्कृति सभी का आधार तत्व अध्यात्म रहा है। अतः भारतीय प्रजातंत्र का भी वहीं आधार होना चाहिये। भारतीय राज्य व्यवस्था के पुर्ननिर्माण के संबंध में लोकतंत्र पर अपने विचार रखते हुए जय प्रकाश नारायण ने ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है कि “लोकतंत्र की समस्या मूलतः और सर्वोपरि एक नैतिक संबंध है। संविधान, शासन व्यवस्थाएँ, दल, चुनाव ये लोकतांत्रिक क्रिया कलाप के लिये प्रासंगिक है। लेकिन यदि जनता के नैतिक और आध्यात्मिक गुण समुचित रूप से विकसित नहीं होते तो सर्वोत्तम संविधान और राजनीतिक व्यवस्था में होने पर लोकतंत्र नहीं चलेगा।” लोकतंत्र के लिये जिन नैतिक गुणों एवं मानसिक दृष्टिकोणों की सर्वाधिक आवश्यकता है, वे हैं—

- सच्चाई के लिए चिंता
- हिंसा—विमुखता
- स्वातंत्र्य प्रेम तथा अभिक्रम अत्याचा—प्रतिरोध
- सहकार की भावना
- अपने हित को बृहत्तर हित में समायोजित करने की तैयारी
- सहिष्णुता
- दायित्व ग्रहण की तैयारी
- मानव की आधारभूत एकता में विश्वास
- मानव स्वभाव की शिक्षण शीलता में आस्था।

लोकतंत्र केवल अपनी औपचारिक संस्थाओं में नहीं होता, वह स्तुतः और सत्यतः जनता के जीवन में ही रहता है। यह केवल राजनीतिक अधिकारों और शासन में जनता के योगदान का प्रश्न नहीं, इसमें सामाजिक एवं आर्थिक न्याय एवं औद्योगिक लोकतंत्र भी शामिल हैं धर्म के विचार का भी

भारतीय समाज में बड़ा महत्व है। भारतीय राज्य व्यवस्था की मान्यता थी के विचार का भी भारतीय समाज में बड़ा महत्व है। भारतीय राज्य व्यवस्था की मान्यता थी कि राज्य धर्म के अधीन है, जिसका समर्थन और रक्षण करना उसका कर्तव्य है आज का भौतिक जीवन मूल्य अन्य सभी मूल्यों का निष्पन्न कर देते हैं। भौतिकवाद में ऐसा कोई तक नहीं है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति समझ-बूझकर अच्छाई प्राप्त एवं आचरित करने का प्रयत्न करेगा। दूसरी ओर भौतिकवाद के परे जाने वाले अनुचित को उचित करने में कठिनाई का अनुभव करेंगे। भौतिकवाद से परे जाने के बाद ही वैयक्तिक मानव स्वयं की और जाता है और स्वयं स्वरूप बन जाता है। भौतिकवादी सभ्यता से मनुष्य को अच्छा बनने के लिये कोई युक्तिसंगत प्रेरणा नहीं मिलती। इस प्रकार आध्यात्मिकता न केवल हमारे राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र बिन्दु है, यह हमारे प्रजातंत्र का भी वास्तविक आधार है। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में न तो धार्मिक उन्माद का प्रगटीकरण है, न किसी के वैचारिक उलझन का परिणत है, न कोई स्वप्नदर्शी प्रत्ययवाद है, बल्कि यह तो राष्ट्र के जीवन-मूल्यों, संस्कृति के आधारों का निर्माण करने वाली शक्तियों व प्रवृत्तियों का राजनैतिक क्षेत्र में प्रगटीकरण है। उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रजातंत्र का भाव भी भौतिकवाद एवं भारतीय परम्परा में विच्छिन्न कोई सिद्धांत नहीं अपितु भारतीय संस्कृति की आत्मा है।

3. पंचायती राज व्यवस्था

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की भावना को साकार करने के लिए पंचायती राज व्यवस्था को अपनाया गया लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं माना जाना चाहिए कि पंचायती राज की परिकल्पना केवल स्वतंत्र भारत की ही उपज है। इसकी जड़ें भारतीय इतिहास में निहित हैं। भारत के प्राचीन इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि वैदिक काल में भी पंचायतों का अस्तित्व था। उस जमाने में राजा पंचायतों के माध्यम से राज करता था। ग्राम के प्रमुख को उस समय ग्रामियणी कहा जाता था तथा ग्रामिणी ही पंचायत का प्रमुख कार्यकर्ता होता था। बौद्धकाल में भी ग्राम परिषदें होने का उल्लेख मिलता है। बौद्धकालीन साहित्य से पता चलता है कि ग्राम परिषदों का प्रमुख काम ग्राम भूमि की व्यवस्था करना व शांति सुरक्षा में सहयोग प्रदान करना था। स्मृति ग्रंथों में भी पंचायतों का उल्लेख मिलता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि वैदिक व बौद्ध काल में पंचायतें ग्रामीण जनहित के कार्यों में संलग्न थीं। रामायण, महाभारत काल में काफी विस्तार व विकास हो चुका था। पंचायतें गांव स्तर से लेकर राज्य स्तर तक हुआ करती थीं।

फिर भी यह अवश्य है कि वर्तमान पंचायत राज की कल्पना स्वाधीनता संघर्ष के दौरान संजोई गई। स्वाधीनता संघर्ष ने जब अपने अंतिम चरण में प्रवेश किया और सारी जनता इसमें सक्रिय रूप से साझीदार हो गई तो स्वाभाविक था कि स्वराज्य के बारे में व्यापक दृष्टि से विचार किया जाता और उन लाखों लोगों की ओर विशेष ध्यान जाता जो भारत के लगभग 5 लाख गांवों में दीनता और दरिद्रता का जीवन बिता रहे थे। जब स्वराज्य की व्याख्या ठोस अर्थों में की जाने लगी तो पंचायती राज ने इसमें बहुत महत्वपूर्ण स्थान पाया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस बारे में काफी विवेचन किया। उन्होंने इस बात की व्याख्या की कि राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में इसके क्या मायने होते हैं।

जब स्वतंत्र भारत के संविधान का निर्माण हुआ तो राज्य के निदेशक तत्वों में पंचायती राज की धारणा को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। संविधान के अनु. 40 में लिखा गया—“राज्य ग्राम पंचायतों की स्थापना के लिए आवश्यक कदम उठाएगा और उन्हें ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाने के लिए आवश्यक हों।”

3.1 पंचायती राज की पृष्ठभूमि

जब भारत ने नियोजित विकास की दिशा में प्रयत्न आरंभ किए, तो स्वाभाविक था कि पंचायती राज की धारणा को विकसित होने तथा साकार रूप लेने में कुछ समय लगा। राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर लिया गया कि देश में वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना तभी होगी जब भारत के गांवों में रहने वाले लाखों लोगों से अपना निकटतम सम्पर्क स्थापित किया जाए और देश की ग्रामीण जनता को अपने ही हाथों अपना भाग्य-निर्माण करने को प्रेरित किया जाए। इसी उद्देश्य से सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरंभ किया गया। इन आंदोलनों में अनेक उतार-चढ़ाव आए, और कुछ वर्षों में ही बात स्पष्ट हो गई कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम में

जन-सहयोग की गति मंद पड़ती जा रही है। अतः एक नए चिंतन और नई दिशा की आवश्यकता अनुभव हुई।

जन-सहयोग की कमी की आधारभूत कठिनाइयों को हल करने के लिए योजना समिति ने बलवन्तराय मेहता अध्ययन दल नियुक्त करने का निश्चय किया। दल से यह अपेक्षा की गई कि वह सामुदायिक विकास कार्यक्रम के प्रशासन में कुशलता और मितव्ययता लाने तथा कार्यक्रम के लिए जनता में उत्साह बनाने के उपाय सुझाये। आगे चलकर अध्ययन दल को यह काम भी सौंपा गया कि वह लोकतांत्रिक संस्थाओं को सम्पूर्ण जिले अथवा सब-डिविजन के विकास और सामान्य प्रशासन को हाथ में लेने के लिए समर्थ बनाने की दृष्टि से जिला प्रशासन पुनर्गठित करने की दिशा में भी जांच-पड़ताल करेगा। दल के कार्यक्रम में यह वृद्धि किए जाने के फलस्वरूप ही देहाती क्षेत्रों में स्थानीय प्रशासन और विकास के आधारभूत ढांचे के रूप में पंचायती राज का स्वरूप सामने आया।

1957 के नवम्बर में बलवन्तराय मेहता अध्ययन दल ने अपना प्रतिवेदन सरकार को दिया। 1958 में इस प्रतिवेदन पर राष्ट्रीय विकास परिषद् ने अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी। इस अध्ययन समूह ने जिस व्यवस्था को प्रस्तावित किया, उसे उन्होंने 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीयकरण' की संज्ञा प्रदान की जिसका अभिप्राय था कि उसके अंतर्गत प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर जनता सक्रिय रूप से भाग ले तथा जनता द्वारा गठित संस्थाएं ही सामुदायिक विकास की महत्वपूर्ण इकाइयां हों।

चाणक्य के समय तक पंचायतों का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक हो चुका था। पंचायतों को काफी अधिकार प्राप्त थे तथा पंचायत के कार्यों में ग्रामीण लोग काफी रुचि लेकर सहयोग प्रदान करते थे। चाणक्य ने ग्राम को एक राजनीतिक इकाई माना है। चाणक्य के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' में ग्रामिक का उल्लेख आता है। ग्रामिक ग्राम के प्रमुख को कहते थे। पंचायत में ग्रामिक का महत्वपूर्ण स्थान था तथा उसे काफी अधिकार प्राप्त थे। ग्राम पंचायत की एक सार्वजनिक निधि भी हुआ करती थी, जिसमें जुर्माने, दण्ड आदि के रूप में प्राप्त धन जमा होता था। हर्ष के शासन काल में भी लगभग ऐसी ही व्यवस्था थी। तत्कालीन शिलालेख से पता चलता है कि नवीं तथा दसवीं शताब्दियों में दक्षिण में भी पंचायतों की व्यवस्था थी। शासन एक महासभा द्वारा चलाया जाता था जिनके सदस्यों को गांव के लोग चुनते थे। महासभा के सदस्य विभिन्न समितियां बनाकर काम करते थे। न्याय का काम भी उस जमाने में पंचायतों के पास था।

मुस्लिम और मराठा काल में भी किसी न किसी रूप में पंचायतों का अस्तित्व था। पंचायत प्रणाली का मूल भाव ग्रामों को स्वायत्तता प्रदान करना रहा है। यह स्वायत्तता अंग्रेजों के आने से पूर्व तक काफी कुछ अंशों में विद्यमान थी। यही कारण था कि देश के राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक जीवन में पंचायतें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही थीं। ग्राम पंचायतों के महत्वपूर्ण कार्य थे—गांव की सामान्य सफाई, कुओं की मरम्मत का कार्य, पैंट, बाजार व मेलों की व्यवस्था, चरागाहों की व्यवस्था, जन्म-मृत्यु का हिसाब रखना, बीमारियों की रोकथाम के सामान्य प्रबंध तथा ग्राम सुरक्षा आदि। पंचायतें हमारे जन जीवन का अभिन्न अंग रहीं हैं। प्राचीन भारत में गांव लगभग पूरी तरह स्वावलम्बी थे। प्रेम और सद्भाव के वातावरण में पंचायतों ने काफी उपलब्धियां प्राप्त की थीं परंतु अंग्रेजी शासनकाल में सुदृढ़ पंचायत व्यवस्था को तोड़ने के सुनियोजित प्रयास किए गए तथा विदेशी शासकों के षड्यंत्रों के परिणामस्वरूप पंचायतों ने बिरादरी का रूप ले लिया। प्रत्येक जाति व वर्ग की अलग-अलग पंचायत बन गई जो उनके सामाजिक जीवन को नियंत्रित करती थी। आश्चर्य की बात यह थी कि दिखाने को बिरादरी की पंचायतों के मामले में अंग्रेजी शासन काल में कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया था पर प्रकारान्तर से अंग्रेज बिरादरी की पंचायतों को प्रोत्साहित करते रहे जिससे हमारा सुगठित समाज वर्गों में बंट गया। पंचायत के इतिहास में यह काल सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ, इसी का परिणाम है कि आज तक पंचायतों को पूरी तरह पुनर्जीवित व सक्रिय नहीं बनाया जा सका है।

बाद में 1907 में अंग्रेजों ने भी पंचायत के महत्व को समझा तथा 1920 में सभी प्रांतों में ग्राम पंचायत अधिनियम बनाए गए। इस अधिनियम के अधीन पंचायतों का गठन तो किया गया परंतु उन्हें बहुत सीमित अधिकार दिए गए। प्रारंभ में पंच जनता द्वारा न चुने जाकर सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते थे। न्यायिक अधिकार नाम मात्र को दिए गए थे। अंग्रेजों द्वारा पंचायतों के गठन के पीछे प्रमुख इरादा यह था कि गांव में पंचायतों के माध्यम से शासन प्रबंध कड़े किए जा सकें तथा स्वाधीनता संग्राम

सेनानियों द्वारा किए गए आंदोलन को पंचायत के माध्यम से कुचला जा सके। यद्यपि अंग्रेज अपने इरादे में सफल नहीं हो पाए फिर भी इतना अवश्य है कि पंचायते शासन की एक बिखरी हुई इकाई होने के कारण स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जनजागरण का केन्द्र नहीं बन सकीं।

3.2 पंचायती राज का स्वरूप

पंचायती राज की संस्थाओं की योजना में तीन स्तर रखे गये हैं—

- ग्राम स्तर,
- खण्ड या ब्लॉक स्तर,
- जिला स्तर।

वास्तव में इस त्रिकोणात्मक व्यवस्था द्वारा देश के ग्रामीण जीवन को एक चेतना सौंपने का प्रयास किए जाने का प्रस्ताव किया गया ताकि राष्ट्रीय जनतंत्र का आधार व्यापक और सुदृढ़ बन सके। प्रस्तावित योजना को स्वीकार कर लिया गया और तदनुसार ऊपर से नीचे की ओर तीन स्तरों पर क्रमशः जिला परिषदों, पंचायत समितियों तथा ग्राम पंचायतों का गठन किया गया है। इस समूची व्यवस्था को 'पंचायती राज' के नाम से पुकारा जाता है। पंचायती राज का उद्देश्य प्रारंभ से लेकर अंत तक विकास योजनाओं से सम्बद्ध करना और प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर जनता को सक्रिय रूप से भागीदार बनाना है। अपने वर्तमान स्वरूप में पंचायती राज सामुदायिक विकास योजना की एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि पंचायती राज की उत्पत्ति सामुदायिक विकास योजना में ही हुई है और उसी में उसका विकास हुआ है।

3.3 पंचायती राज अपनाने के सिद्धान्त

पंचायती राज के स्वरूप का सही चित्रण पाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आखिर किन सिद्धान्तों पर देश में पंचायती राज अपनाया गया है। इन सिद्धान्तों को भारत सरकार के सामुदायिक विकास और सहकारिता विभाग के एक प्रकाशन में निम्नवत् प्रस्तुत किया गया है—

- भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। सत्ता को दिल्ली की लोकसभा अथवा राज्यों के विधान मंडलों तक ही यदि सीमित रखा जाए तो देश पनप नहीं सकता। अतः यह आवश्यक है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर गांव से जिला और स्थानीय स्वशासित संस्थाओं का त्रिस्तरीय ढांचा बनाया जाए। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिससे देश का हर गांव और गांव का हर परिवार दिल्ली की लोकसभा से जुड़ जाएगा।
- सरकार अपने कुछ कामों का दायित्व ऐसी संस्थाओं को सौंप दे जो अपने क्षेत्र की उन्नति के लिए स्व-प्रेरणा से काम लें। इसके लिए उन्हें समुचित अधिकार प्रदान किए जाएं।
- पंचायती राज की संस्थाएं सामुदायिक विकास की एजेंसी बनें, सहकारिता को प्रोत्साहन दें, स्वयं की कोई नीति न बनाकर सरकारी नीति को अमल में लाएं।
- संस्थाओं को काम करने के लिए इतने साधन और नियंत्रण के इतने अधिकार दिए जाएं कि वे सौंपे गए कार्यों को समुचित रूप से कर सकें।
- इस प्रकार की व्यवस्था बनाई जाए कि भविष्य में अधिकार सौंपने में सुविधा हो।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को साकार करने के लिए पंचायती राज को अपनाया गया।

3.4 पंचायती राज का व्यावहारिक पक्ष

ग्राम सभा से लोकसभा तक पंचायती राज में विकास का कार्यक्रम सक्षमता की दृष्टि से तीन स्तरों पर इस तरह बांट दिया गया कि ग्रामीण आर्थिक विकास का दायित्व सरकार से हटकर जनता की त्रि-स्तरीय लोकतांत्रिक संस्थाओं के हाथ में आ गया है जो लोक सभा से ग्राम सभा तक मिस्र के पिरामिड का आकार बनाते हैं। पंचायती राज संगठन में सबसे नीचे स्तर पर ग्राम पंचायत, इसके ऊपर प्रखण्ड स्तर पर पंचायत समिति और इसके ऊपर जिला परिषद् होती है। देश के विभिन्न राज्यों में

पंचायती राज की संस्थाओं के संगठन में न्यूनाधिक अंतर दिखाई देता है तथा सामान्य रूप से इन संस्थाओं का संगठन निम्नांकित है—

ग्राम पंचायत का चुनाव ग्राम सभा द्वारा किया जाता है जिसमें एक गांव या छोटे-छोटे कई गांवों से सब वयस्क निवासी एकत्र होकर मतदान करते हैं या अगर गांव-सभा का क्षेत्र अलग-अलग चुनाव क्षेत्रों में विभक्त है तो अपने-अपने क्षेत्र में मतदान करते हैं। यही सभा वार्षिक बजट पर विचार करती है और यह भी तय करती है कि अगले वर्ष में खेती की उपज का क्या लक्ष्य रखा जाए। पंचायत के निर्वाचित सदस्य एक सरपंच का चुनाव करते हैं जो पंचायत समिति का पदेन सदस्य होता है और वह अपने गांव का प्रतिनिधित्व करता है। उत्तर प्रदेश ग्राम पंचायत का अध्यक्ष 'प्रधान' कहलाता है और इसका चुनाव ग्राम सभा करती है, किंतु उपप्रधान का चुनाव ग्राम-पंचायत के सदस्य करते हैं।

पंचायत समिति का संगठन सभी राज्यों में एक-सा नहीं है पर सामान्यतः इसमें प्रखंडों के सब प्रधानों के अतिरिक्त सहकारी समितियों और छोटी नगर-पालिकाओं एवं नोटिफाइड क्षेत्रों के प्रतिनिधि, प्रखंड से निर्वाचित या प्रखण्ड में रहने वाले एम.एल.ए., एम.पी., विधान परिषद् और राज्य सभा के सदस्य प्रखण्ड से चुने हुए जिला परिषद् के सब सदस्य, विकास एवं आयोजन में रुचि रखने वाले दो सहयोजित सदस्य और स्त्रियों एवं अनुसूचित जातियों के कुछ सहयोजित प्रतिनिधि भी सम्मिलित होते हैं। विकास-अधिकारी इनका मंत्री होता है। अध्यक्ष के पद पर निर्वाचित प्रमुख होता है और इनकी सहायता के लिए दो उपप्रमुख भी चुने जाते हैं। इस सारी योजना में पंचायत समिति सबसे अधिक महत्व की संस्था है। प्रखण्ड की सब ग्रा-पंचायतों के बीच सामंजस्य रखना और समस्त विकास कार्य को सुचारु रूप से चलाना इसी का काम है। ऊपर से जो अनुदान मिलता है वह भी इसी के द्वारा ग्राम पंचायतों को बांटा जाता है।

जिला-परिषद् का संगठन भी पंचायत समिति के नमूने पर ही रखा गया है। इसमें सभी पंचायत समितियों के निर्वाचित अध्यक्ष जो प्रधान या प्रमुख कहलाते हैं, शामिल होते हैं और कुछ सदस्य नियमानुसार प्रत्येक पंचायत समिति ससे चुनकर आते हैं। इनके अतिरिक्त जिले की सब नगरपालिकाओं के अध्यक्ष, जिला सहकारी बैंक का संचालक, कुछ सहकारी समितियों के प्रतिनिधि, राज्य सरकार द्वारा मनोनीत अधिक से अधिक तीन व्यक्ति जो सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक विषयों में रुचि रखते हों, जिले के सब एम.एल.ए., एम.पी., विधान परिषद् और राज्य सभा के सदस्य और कुछ स्त्रियों और अनुसूचित जातियों के सहयोजित सदस्य भी जिला परिषद् के सदस्य होते हैं। प्रत्येक जिला-परिषद् के सदस्य होते हैं। प्रत्येक जिला-परिषद् में एक निर्वाचित अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष रहता है।

पंचायती राज संस्थाओं को कर लगाने का अधिकार है। वे घर, जमीन, मेलों और त्यौहारों तथा वस्तुओं के विक्रय पर कर लगा सकते हैं और चुंगी वसूल कर सकती हैं। वे लाभदायक सामाजिक सम्पत्ति का भी निर्माण करती हैं। पंचायती राज को उत्तरदायित्व और अधिकार केवल राज्यों द्वारा निर्मित विधि से ही नहीं, अपितु राज्य सरकारों द्वारा संवैधानिक उपबंधों को कार्यरूप देने के लिए बनायी गयी आर्थिक और प्रशासनिक प्रणाली द्वारा भी प्राप्त होते हैं। गुजरात, महाराष्ट्र और तमिलनाडु ने विभिन्न और व्यापक गतिविधियों में पंचायती राज को कार्यक्रम सम्बन्धी जिम्मेदारी सौंप रखी है। कुछ अन्य राज्य सरकारों ने उच्च अधिकार प्राप्त समितियां बनाई हैं, ताकि पंचायती राज प्रणाली में सुधार लाया जा सके।

पंचायती राज ने ग्रामीण सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाने में सहयोग प्रदान किया है। अब लोग विकास कार्यों में भाग लेते हैं एवं विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित असफलताओं को उजागर करने तथा आलोचनात्मक दृष्टि अपनाने लगे हैं। कुछ अध्ययन से यह भी पता चलता है कि पंचायती राज संस्थाओं ने ग्रामीण उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत करने में योग दिया है। साथ ही यह भी पाया गया है कि ग्रामीण संरचना में परिवर्तन आया है। अब राजनीतिक दल ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश कर रहे हैं और वहां अपने कार्य का विस्तार करने के इच्छुक हैं। इन अध्ययनों से यह भी ज्ञात हुआ है कि पंचायती राज के बहुत-से अधिकारी अपने उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक नहीं हैं और अपनी भूमिका भी ठीक से नहीं निभाते हैं। कई अधिकारी तो स्थानीय नियोजन के व्यापक पहलुओं से भी अपचिरित हैं यह भी पाया गया कि पंचायती राज संस्थाओं से सम्बद्ध अधिकारियों एवं जनता के प्रतिनिधियों के बीच तनावपूर्ण सम्बन्ध पाये जाते हैं, जो ग्रामीण पुनर्निर्माण के मार्ग में एक बहुत बड़ी

बाधा है। कतिपय अध्ययनों से यह भी ज्ञात हुआ है कि पंचायती राज से ग्रामीण क्षेत्रों में गुटवाद अधिक पनपा है।

पंचायत राज संस्थाओं का मूल्यांकन करने हेतु समय-समय पर अनेक कमेटियां गठित की गयीं जिन्होंने इन संस्थाओं के चुनावों, वित्तीय साधनों, अधिकारियों की भर्ती तथा प्रशासकीय संगठन आदिपहलुओं के सम्बन्ध में गहराई से विचार किया और अपने अध्ययनों पर आधारित निष्कर्ष प्रस्तुत किये। सादिक अलही दल ने बताया कि पंचायती राज से ग्रामीण क्षेत्रों में गुट बढ़ें हैं, अभी भी जन-सहयोग का अभाव है और पंचायती राज तथा सहकारी संस्थाओं में सहयोग की कमी है। पंचायती राज के सम्बन्ध में लोगों की धारणाओं का पता लगाने के उद्देश्य से एल.के. सेन की देखरेख में सामुदायिक विकास के राष्ट्रीय संस्थान के द्वारा सम्पूर्ण देश में से 465 गांवों तथा 7000 उत्तरदाताओं को निर्देशन के रूप में चुनकर अध्ययन किया गया। इस अध्ययन में प्राप्त तथ्यों से ज्ञात हुआ कि पंचायती राज और पंचायतों के चुने हुए सदस्यों के प्रति ग्रामीणों की प्रवृत्ति अनुकूल है। ग्रामीण पुराने परम्परागत नेताओं तथा सरकारी अधिकारियों के बजाय इन चुने हुए नेताओं को अधिक पसन्द करते हैं। उत्तरदाता ग्रामीण क्षेत्रों में गुटवाद की समस्या से चिन्तित नहीं थे। इस अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि पंचायती राज की स्थापना के पश्चात् सामुदायिक विकास कार्यक्रम का क्रियान्वयन अधिक अच्छे ढंग से हुआ है। यद्यपि पंचायती राज की प्रगति ग्रामीण क्षेत्रों में धीमी रही है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इसने ग्रामीणों में विकास योजनाओं के प्रति उत्साह जाग्रत किया है, अपनी समस्याओं को हल करने की ओर उन्हें प्रवृत्त किया है और प्रजातंत्र को ग्राम-स्तर तक पहुंचाने में योग दिया है। अब राजनीतिक मामलों में ग्रामीणों की रुचि बढ़ी है।

पंचायती राज, अपनी कमियों और दुर्बलताओं के बावजूद ग्रामवासियों की जीवन-पद्धति बनता जा रहा है। अशिक्षित जनता, जातिगत और धर्मगत अंध-विश्वास परम्परागत अलोकतांत्रिक, सामाजिक और पारिवारिक ढांचे, परिपक्व राजनीतिक प्रबुद्धता की कमी आदि के कारण पंचायती राज की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने अथवा पंचायती राज की आलोचना करने की एक सामान्य प्रवृत्ति विकसित हो गई है। आज पंचायती राजव्यवस्था ने देश के राजनीतिकरण तथा आधुनिकीकरण में महत्वपूर्ण योग दिया है। पंचायती चुनावों और पंचायती राजा संस्थाओं के कार्यकलापों ने ग्राम जीवन में एक नयचा जागरण पैदा किया है, अब गांव वालों का उस तरह शोषण नहीं किया जा सकता है जिस प्रकार कि पहले महाजन और जमींदार वर्ग करता था। वोट की कीमत समझी जाने लगी है, ग्रामीण जनता की राजनीतिक हिस्सेदारी बढ़ी है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकृत संस्थाएं स्वशासन की इकाइयों के रूप में विकसित हो रही हैं, ग्राम नेतृत्व पनपता जा रहा है, गांवों की अवहेलना करना आसान कार्य नहीं रह गया है। गांवों के पिछड़े वर्ग में चेतना आई है, गांवों की स्त्रियां भी राजनीतिक कार्यकलापों में भाग लेने लगी हैं। राजनीतिक जागृति के साथ सामाजिक चेतना भी बढ़ी है, छुआछूत और भेदभाव की दीवारों को पंचायत राज ने जबरदस्त धक्का पहुंचाया है। गांवों का जाकरण राज्य के स्तर की राजनीति पर दबाव डालने में सक्षम हुआ है। जातिगत, धर्मगत और अन्य प्रकार के हित स्थानीय दबाव समूह के रूप में प्रकट होने लगे हैं। दबाव समूह की राजनीति अब नगरों की बपौती नहीं रह गई है। ग्रामीण जनता को अपने अधिकारों और उत्तरदायित्वों के विषयों में नई जानकारी मिली है। पंचायती राज नई-नई मांगों को जन्म देकर गांवों को आगे बढ़ा रहा है। गांव वालों में आत्म-विश्वास की भावना जाग्रत हुई है और उनमें स्थिति सुधारने के लिए भाग्य-भरोसे न बैठकर कुछ कर गुजरने की प्रवृत्ति पनपी है। पंचायती राज ने गांवों में कुछ सीमा तक साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था, संकीर्णता, मन-मुटाव आदि को बढ़ावा दिया है, लेकिन इनकी तुलना में पंचायती राज के लाभ बहुत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं। गांवों में आशाओं की क्रांति पैदा हुई है जिसे दबाया नहीं जा सकता है। अतः सरकार गांवों के लिए कल्याणकारी गतिविधियों के प्रति अब निश्चेष्ट कभी नहीं रह सकती।

पंचायती राज के परीक्षण की सफलता हमारी जागरूकता तथा समस्याओं का साहस व उत्साह से सामना करने की हमारी क्षमता पर निर्भर करेगी। प्रारंभिक चरणों में पंचायती राज संस्थाओं को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में अधिकारियों के महत्वपूर्ण परामर्श तथा निर्देशन की अधिक आवश्यकता है। अधिकारियों को ग्रामीण क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों के अनुकूल स्वयं को बदलना है। किन्तु साथ ही हमें इन संस्थाओं को वे कार्य नहीं सौंपने चाहिए जो वे नहीं कर सकतीं। उनको केवल वे ही दायित्व सौंपे जाने चाहिए जिनको वे सफलता से निभा सकें। इसके अतिरिक्त, राज्य सरकार को इन संस्थाओं पर

उचित नियंत्रण रखना चाहिए तथा उनकी देख-रेख करनी चाहिए। किसी भी स्तर पर यह विचार नहीं आना चाहिए कि पंचायती राज की स्थापना से सब समस्याएं सुलझ गई हैं। भविष्य में आशा तथा ग्राम जनता की योग्यता में विश्वास इस परीक्षण को सफल बना सकते हैं। जैसा कि बलवंतराय मेहता ने कहा है—“ग्रामीण भारत की जनता अनपढ़ बेशक है, किन्तु वह एक महान पैतृक सम्पत्ति तथा एक महान संस्कृति की स्वामी है तथा समय आने पर यह निश्चित रूप से अपने वास्तविक रूप में आएगी। यदि हममें पंचायती राज संस्थाओं, अपने ग्रामीणजनों तथा उनके अपने छिपे हुए गुणों का उपयोग करने की क्षमता में विश्वास है तो निश्चित रूप से सफलता उनके हाथ लगेगी। आज पंचायती राज में बहुत से दोष हो सकते हैं परंतु यह भविष्य की एक महत्वपूर्ण शक्ति है।” निस्संदेह, पंचायती राज ने भारत में संसदीय लोकतंत्र को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

3.5 पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था

पंचायती राज संस्था को आत्म-निर्भरता प्रदान करने की दृष्टि से उनकी अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया गया है। राज्य सरकार की ओर से इन संस्थाओं को जो विभिन्न कार्य सौंपे गए हैं, उनकी सम्पन्नता के लिए यह जरूरी है कि उसकी वित्तीय व्यवस्था भी उन कार्यों का भार वहन करने योग्य हो। पंचायती राज संस्थाओं के वित्तीय साधनों का केवल एक सीमित भाग ही सरकार द्वारा प्रदान किया जाता है। अतः यह जरूरी हो जाता है कि ये संस्थाएं स्वयं के साधनों का विकास करें ताकि आत्मनिर्भर बन सकें। इससे न केवल स्थानीय सरकार स्वायत्तता का विचार पनपेगा, वरन् ये संस्थाएं भी उस समय अपने आपको अधिक शक्तिशाली अनुभव करेंगी जबकि इन्हें स्वेच्छा का अधिकार मिल जाएगा। राज्य एवं केन्द्र के साधन सीमित होते हैं, इसलिए वे स्थानीय सरकार की संस्थाओं को अधिक कुछ नहीं दे पाते।

पंचायती राज संस्थाओं की आय के स्रोतों के बारे में समय-समय पर अलग-अलग विचार प्रकट किए गए हैं। सरकार द्वारा भी स्थानीय वित्तीय मामलों की जांच के लिए तथा उस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए कई समितियों की रचना की गई है, जिनकी सिफारिशों के आधार पर स्थानीय संस्थाओं की वर्तमान वित्त एवं कर प्रणाली को निश्चित किया गया है। इस सम्बन्ध में 1951 में स्थानीय वित्त जांच समिति, 1958 की बलवंतराय मेहता समिति तथा 1977 की अशोक मेहता समिति की सिफारिशों को मुख्य रूप से गिनाया जा सकता है। सन् 1951 में स्थानीय वित्त जांच समिति नियुक्ति की गई। इसके प्रतिवेदन में स्थानीय संस्थाओं के लिए आरक्षित रखे जाने वाले विभिन्न विषयों का सुझाव दिया गया है। इनमें मुख्य हैं रेल, समुद्र या वायु से ले जाए जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, भूमि एवं भवनों पर कर, खनिज पर कर, स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर, विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर, विज्ञापन पर कर, सड़कों पर ले जाए जाने वाले वस्तुओं एवं यात्रियों पर कर, पशुओं और नौकाओं पर कर, पथ कर, व्यापार आजीविका तथा नौकरी पर कर, प्रति व्यक्ति कर, आमोद-प्रमोद की वस्तुओं तथा मनोरंजन पर कर। इस समिति ने बताया कि गृह कर, आबादी भूमि कर और चूल्हा कर तथा सामान्य स्वच्छता एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी उप कर आदि को अनिवार्य घोषित कर देना चाहिए। इस समिति के बाद जांच आयोग 1953-54 ने आरक्षित रखे जाने वाले करों के बारे में अपने विचार प्रकट किए और बताया कि भूमि एवं भवनों पर कर, सड़कों पर चलने वाले वाहनों पर कर, पशुओं एवं नौकाओं पर कर, व्यापार, आजीविका और नौकरियों पर कर, विज्ञापनों पर कर, रंगमंच पर कर, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, मार्ग कर आदि को स्थानीय सरकार की आय के साधन बनाया जाए। इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सुझाया कि राज्य सरकार किसी भी उपयुक्त कर साधन को स्थानीय संस्थान के लिए प्रदान कर सकती है। कर प्राप्त होने वाली आय के अतिरिक्त अनेक चीजों की बिक्री जैसे, सड़क के निकट के वृक्ष, तलाई या झीलों से पैदा होने वाली चीजें अथवा बाजारों में दुकानों का किराया आदि स्थानीय संस्थाओं की आय के अच्छे साधन हो सकते हैं। पंचायतों द्वारा आटे की चक्की चला कर, खाद का वितरण करके तथा कृषि औजारों को किराए पर देकर अपनी आय में वृद्धि की जा सकती है। इस आयोग के बाद बलवंतराय मेहता समिति 1958 में भी पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में अपनी सिफारिश प्रस्तुत की। इस समिति के मतानुसार पंचायती राज के तीनों अवयवों की आय के भिन्न-भिन्न स्रोत होने चाहिए। ग्राम पंचायतों की आय के साधन मुख्य रूप से बताए गए हैं— सम्पत्ति अथवा गृह कर, बाजार एवं सवारी कर, चुंगी, शौच अथवा मल वहन कर, पानी एवं रोशनी कर, कांजी हाउस की आय,

पंचायत समिति द्वारा अनुदान, पशु-विक्रय आदि के पंजीयन पर शुल्क, भूमि कर की वसूली पर कमीशन और पंचायत समिति को मिलने वाले भू-राजस्व का निर्धारण भाग। पंचायत समिति की आय समिति द्वारा जो मुख्य साधन बताए गए हैं वे हैं—विकास खण्ड में एकत्रित भू-राजस्व का निश्चित प्रतिशत, भू-राजस्व पर कर, वृत्तियों पर उप-कर, अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर विशेष कर, पथ कर एवं पट्टा की शुद्ध आय, यात्री कर, मनोरंजन कर, प्राथमिक शिक्षा शुल्क, मेले एवं हाट से आय, मोटरगाड़ी कर का एक भाग द्वारा दिया गया स्वेच्छापूर्ण अंशदान, सरकार द्वारा अनुदान, सम्पत्ति से किराया एवं लाभ। राज्य सरकार जब पंचायत समिति को अनुदान देगी तो वह प्रतिबंध सहित भी दे सकती है और बिना प्रतिबंध के भी। ऐसा करते समय वह विकास खण्ड के पिछड़ेपन का पूरा-पूरा ध्यान रखेगी। केन्द्र अथवा राज्य सरकार द्वारा जो विकास खण्डों को धनराशि दी जाएगी उसका वितरण पंचायत समितियां करेंगी। जिला परिषद् की आय के मुख्य साधनों में मेहता समिति ने बताया कि सामान्यतः सरकार द्वारा प्राप्त राशि एवं पंचायत समितियों अथवा जनता से प्राप्त दान या अनुदान इसके क्षेत्र में आएंगे। जिला परिषदें मुख्य रूप से प्रशासनिक इकाइयां होती हैं। अतः उनको सीमित साधन प्रदान किए गए हैं। अशोक मेहता समिति ने भी पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए विभिन्न सुझाव दिये। 73वें संविधान अधिनियम में पंचायतों की स्थिति को सुदृढ़ करने की जो परिकल्पना की है, उसके परिप्रेक्ष्य में इनकी वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करना होगा।

पंचायती राज संस्थाओं की आय के मुख्य स्रोतों को निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है—

3.5.1 करों से प्राप्त आय

पंचायत समितियों एवं पंचायत को कर लगाने की शक्ति सौंपी गई है ताकि वे अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने के लिए यथोचित धन प्राप्त कर सकें। जिला परिषदों को कर लगाने की बहुत कम शक्तियां प्राप्त हैं। पंचायत समिति तथा पंचायत के हाथों में जितने भी कर दिए गए हैं उनमें से कोई भी कर अनिवार्य नहीं है। वे भी स्वेच्छा पर आधारित हैं। पंचायत द्वारा जो कर लगाए जा सकते हैं उनमें गृह कर प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त पशुओं एवं सामान पर कर, कृषि कार्य के लिए प्रयुक्त वाहनों के अतिरिक्त वाहनों पर कर तथा तीर्थ स्थान पर कर, पीने के पानी के प्रसारण का प्रबन्ध, व्यापारिक फसल कर तथा अन्य कर जिनको सरकार की स्वीकृति से केवल व्यवस्थापिका ही लगा सकती है। पंचायत यदि सामान्य उपयोगिता की कोई चीज अपने क्षेत्र में बनवाना चाहे तो गांव के सभी वयस्कों पर विशेष कर लगा सकती है।

पंचायत समिति को जिन विषयों पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त है वे हैं—व्यवसाय, व्यापार कार्य तथा उद्योगों पर कर, प्राथमिक शिक्षा पर कर, मेलों पर कर इत्यादि।

पंचायत एवं पंचायत समितियों द्वारा लगाये जाने वाले कर क्योंकि अनिवार्य नहीं होते अतः ये संस्थाएँ बहुधा करों को लगाने में आगा-पीछा देखती रहती हैं। कर लगाने में इन संस्थाओं की उदासीनता का कारण संभवतः यह है कि इनके सदस्य मतदाताओं के निकटस्थ होते हैं। इनके अधिकारियों को यह डर रहता है कि कहीं मतदाता नाराज न हो जायें। कर न लगाने का एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि वे लगाए गए करों के अनुसार शायद विकास कार्य न कर पायें और इसलिए जनता द्वारा उनका विरोध किया जाये। करारोपण सदैव ही एक अप्रसन्नतापूर्ण कार्य होता है और जनता इसके प्रति कभी भी समर्थतापूर्ण रवैया नहीं अपनाती। फिर भी यदि लोगों को यह पता चल जाये तथा विश्वास हो जाए कि दिये गये करों का कुछ लाभ उनको भी अवश्य ही मिल जाएगा तो उनके प्रति किया जाने वाला विरोध कम हो जाएगा। पंचायत समिति एवं पंचायतों को कर लगाने में जो हिचक रहती है उसे दूर करने के लिए सादिक अली समिति ने यह सिफारिश की कि कुछ करों को अनिवार्य बना देना चाहिए तथा कर लगाने वाली सत्ता को दूर रहना चाहिए। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप इन संस्थाओं की आय बढ़ जाएगी तथा वे कर लगाने के झंझट से भी बच जायेंगी। यह सभी क्षेत्रों में एकरूपता की स्थापना करेगी। एकरूपता के अभाव में लगाये गये किसी भी कर का पंचायत या पंचायत समिति के क्षेत्र की जनता द्वारा यह कह कर विरोध किया जायेगा कि यह कर अन्य किसी भी क्षेत्र में नहीं लगे हुए हैं।

3.5.2 आय के अन्य स्रोत

भारत के गांवों की हालत अत्यन्त पिछड़ी हुई है। यहां के निवासियों की आर्थिक स्थिति एवं रहन-सहन के निम्न स्तर को देखते हुए, पंचायतें उनके विकास की विभिन्न योजनाएं बनाती हैं। ग्राम पंचायत में बहुमत द्वारा एक संकल्प पास करके पंचायत क्षेत्र में सार्वजनिक उपयोगिता के किसी निर्माण-कार्य को प्रारंभ किया जा सकता है। ऐसा निर्माण कार्य प्रारंभ करते समय पंचायत को यह अधिकार मिल जाता है कि वह प्रत्येक वयस्क के शारीरिक श्रम को आवश्यक बना दे। शारीरिक या मानसिक स्थिति से कमजोर एवं असमर्थ व्यक्तियों को इस प्रकार के कार्य से मुक्त किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति शारीरिक श्रमदान न देना चाहे तो उसे कर दान के रूप में इस कमी को पूरा करना होगा।

पंचायतों को कांजी-हाउस से भी पर्याप्त आय मिलती है जिसका कि वे अपने राजस्व की वृद्धि में उपयोग करती हैं। यदि किसी निजी पालतू पशु द्वारा किसी को व्यक्तिगत भूमि अथवा फसल के खेत में अनाधिकृत रूप से प्रवेश करके उसे नुकसान पहुंचाया गया है अथवा यह सार्वजनिक सड़कों, मनोरंजन के स्थानों, नहरों, बांधों आदि पर भटकता हुआ पाया गया है तो उसे कांजी-हाउस में बंद किया जा सकता है। वहां उसके भरण-पोषण का व्यय पंचायत द्वारा उठाया जाता है और यदि एक निश्चित समय तक उसका स्वामी उसे छोड़ाकर न ले जाए तो वह नीलाम कर दिया जाता है। कांजी-हाउस से प्राप्त होने वाली आय के तीन तरीके हैं या तो पशु के स्वामी पर दण्ड के रूप में धन की कुछ मात्रा निश्चित की जा सकती है या उससे पशुओं को खिलाने-पिलाने में व्यय की गई राशि भी वसूल की जा सकेगी अथवा जानवरों को बेचने में जो समय, श्रम व खर्चा हुआ वह भी वसूल किया जा सकता है।

मेले एवं त्यौहारों में भी पंचायती राज संस्थाओं को कुछ आय हो जाती है। पंचायतों द्वारा मेले एवं त्यौहार से सम्बन्धित उत्सवों को मनाने का स्थान नियत कर दिया जाता है और उस स्थान का उपभोग करने वालों से वह कर लेती है। उस स्थान की सीमा में प्रवेश एवं निष्कासन की जांच के लिए अलग से एक संस्था निर्धारित कर दी जाती है। इस संस्था द्वारा जब स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है तभी किसी विक्रेता या सौदागर को मेले की सीमा में प्रवेश पाने दिया जाता है। पशु-मेलों में जो पशुओं की खरीददारी करते हैं वे लोग शुल्क देने के बाद खरीद को पंजीकृत करते हैं और खानगी की रसीद प्राप्त करते हैं। इस रसीद के आधार पर ही उनको बाहर निकालने की अनुमति दी जाती है। ऐसा न होने पर व्यक्ति को निर्धारित जुर्माना चुकाना होता है। इस आय के अलावा मेलों में आने वाली दूकानों से भी किराया लिया जाता है। कभी-कभी पंचायत समितियों द्वारा हाट लगा कर भी आय प्राप्त की जा सकती है।

पंचायतों की आय का एक भाग न्यायालय शुल्क के रूप में भी होता है। न्याय पंचायत जिन मामलों को सुनती है तथा निपटाती है उन पर वे मुद्रांक लगाती है। 'न्याय पंचायत' शब्द से युक्त ये न्यायालय मुद्रांक उपयुक्त कीमत पर दिये जाते हैं। इस प्रकार से वसूल किया गया धन पंचायत को भेजा जाता है। यदि कोई व्यक्ति न्याय पंचायत या ग्राम पंचायत की पंजिका, पुस्तक या अभिलेख का निरीक्षण या तलाशी करना चाहे तो इस पर निर्धारित शुल्क लिया जाता है। अविलम्ब निरीक्षण करना हो तो शुल्क की मात्रा दुगुनी हो जाएगी। यदि आवेदित निरीक्षण या तलाशी निषिद्ध हो अथवा सार्वजनिक हित के विपरीत हो तो अधिकारी इस सम्बन्ध में आज्ञा प्रदान नहीं करता। यदि आवेदित अभिलेख की प्रतिलिपि लेने में भी आवेदक इच्छुक हो तो शब्दों के आधार पर आवश्यक शुल्क जमा कराना होगा।

पंचायती राज संस्थाओं की आय के कुछ अन्य छोटे-मोटे साधन भी हैं। इनमें कुछ कर, शुल्क एवं अर्थ दण्ड उल्लेखनीय हैं। करों में शुद्ध भोजन कर, तेल के इंजन पर कर, आगजनी से रक्षा सम्बन्धी कर, मत्स्य कर आदि हैं। शुल्कों में अनुज्ञा-पत्र शुल्क जैसे मृत जानवरों की खाल एवं हड्डियां एकत्रण, भयंकर एवं घृणास्पद व्यापार, चाय की दुकान या होटल, सार्वजनिक भूमि का उपयोग, ग्रामीण आस्थान आदि हैं। अर्थ दण्ड में, न्यायालय सम्बन्धी अनुज्ञा-पत्र न लेने पर, निषेधित वस्तुओं के व्यापार पर अथवा किसी नियम या अधिनियम के उल्लंघन पर।

तीर्थ स्थानों पर जो कर लगाया जाता है वह स्थानीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। तीर्थ स्थानों के केन्द्र विभिन्न स्थानों पर होते हैं तथा वे निकट एवं दूर के लोगों का पर्याप्त ध्यान आकर्षित करते हैं। ऐसे कई केन्द्र हैं जो कि एक पंचायत क्षेत्र में स्थित होते हुए भी दूर-दूर की जनता को

अपनी ओर आकर्षित करते हैं। अतः सादिक अली समिति ने यह सुझाव दिया था कि प्रतिवर्ष आने वाले तीर्थ यात्रियों की संख्या के आधार पर तीर्थ स्थानों को पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद् के मध्य वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिए। इस वर्गीकरण के आधार पर ही यथोचित संस्था को तीर्थ स्थान सम्बन्धी कर लगाने का अधिकार दिया जाए।

पंचायती राज संस्थाओं के कर धीमी गति से क्यों उगाहे जात हैं। इसके कारणों का उल्लेख सादिक अली समिति द्वारा किया गया है। समिति के मतानुसार ये कारण निम्नांकित प्रकार से हैं—

- करों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया सामान्यतः समर्थनपूर्ण नहीं होती, विशेष रूप से उस समय जबकि करों को प्रदान किए गए लाभों के साथ जोड़कर नहीं दिखाया जाता।
- राजस्व अधिकारी पंचायत समिति के करों को इकट्ठा करने में रुचि नहीं लेते।
- पंचायत के पास कर इकट्ठा करने वाला यंत्र नहीं है। परिणामस्वरूप पंचायतें या तो अपनी शक्तियों का प्रयोग ही नहीं करतीं और यदि करना भी चाहती हैं तो पुलिस एवं राजस्व विभाग की सहायता की आवश्यकता के कारण नहीं करतीं।

इन सभी कारणों को दूर करने एवं कुछ विधायी कदम उठाने के लिए प्रयास करना परम आवश्यक है। यह कहा जा सकता है कि पंचायत समिति के अधिकारी पंचायत समिति के करों को उगाहने में इसलिए रुचि नहीं लेते क्योंकि इसके लिए उनको कोई अधिक लाभ प्राप्त नहीं होता। आजकल कर उगाहने के लिए पटवारियों को कुछ कमीशन देने की व्यवस्था की गई है। वैसे पंचायती राज की संस्थाओं द्वारा लगाए गए करों को राजस्व अभिकरणों द्वारा ही अच्छी प्रकार से संग्रहित किया जा सकता है। चुंगीकर, मेलों एवं बाजारों पर कर तथा तीर्थ स्थान पर कर आदि तो उन्हीं संस्थाओं द्वारा उगाहा जाना चाहिए जो कि इनको लगाएं। करदाताओं को कर देने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु सादिक अली समिति ने सुझाया था कि जो लोग समय पर कर न दें उन पर 5 प्रतिशत अतिरिक्त दण्ड के रूप में लगाया दिया जाए अथवा जो समय पर दे दें उनके योग में से 5 प्रतिशत को काट दिया जाए बाद वाला विकल्प अधिक उपयुक्त है।

3.5.3 गैर-कर राजस्व

यद्यपि राजस्व एकत्रित करने के साधन के रूप में कर एक महत्वपूर्ण तरीका है किंतु इसकी अपनी कुछ सीमाएं हैं। अतः यह जरूरी है कि पंचायत राज संस्थाओं को आय के लिए गैर-कर स्रोतों का विकास किया जाए। पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों को गैर-कर स्रोतों को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। इन संस्थाओं को कोई नियमित आमदनी वाला कार्य प्रारंभ करने में पूरी सहायता दी जानी चाहिए। सादिक अली समिति ने इस प्रकार के स्रोतों की पूरी सहायता दी जानी चाहिए। सादिक अली समिति ने इस प्रकार के स्रोतों की वृद्धि के लिए कई उपायों की सिफारिश की थी—

प्रथम, समिति ने बताया कि आबादी भूमि की बिक्री से पंचायती राज संस्थाओं को पर्याप्त आय प्राप्त हो सकती है। आबादी भूमि अब भी पंचायतों के पास ही रहती है। कई एक पंचायतों ने एक निश्चित योजना के अनुसार आबादी भूमि की बिक्री करके पर्याप्त आमदनी की है। किन्तु अन्य पंचायतों ने इस भूमि को बहुमूल्य कम दामों में बचे दिया है जबकि उसके आसपास की भूमि के दाम काफी थे। सादिक अली समिति ने बताया कि आबादी भूमि की बिक्री एक योजनाबद्ध तरीके से करनी चाहिए। सभी गांवों के लिए एक मास्टर प्लान बनाया जाए। यदि कोई पंचायत प्रार्थना करे तो औवरसीयर या सहायक अभियंता की सेवाओं का पंचायत समिति या जिला परिषद् द्वारा प्रबंध किया जाना चाहिए। आबादी भूमि की बिक्री द्वारा जो पूंजी प्राप्त हो उसका उपयोग करने के लिए नियम बनाए जाने चाहिए।

दूसरे, राजस्थान आदि राज्यों में मवेशियों के तालाबों को भी पंचायतों को सौंप दिया गया। प्रायः सभी पंचायतों में उनके मवेशियों के तालाब हैं और वे उनसे होने वाले आय को ग्रहण करती हैं। इन तालाबों से प्राप्त धन का अभिलेख एवं लेखा करने तथा प्रबंध करने में अनियमितताओं की अनेक शिकायतें प्राप्त हुई हैं अतः निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण को अधिक प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है।

तीसरे, अनेक पंचायतों की कृषि के लिए दस एकड़ भूमि प्रदान की गई है। जिन पंचायतों को अभी तक कोई भूमि नहीं दी गई है उन्हें भूमि दी जानी चाहिए। कुछ पंचायतों ने इस भूमि का उपयोग

करते हुए उसमें बड़ी अच्छी आमदनी प्राप्त की है जबकि अन्य अनेक पंचायतों को राजस्व के स्रोतों का विकास करना बाकी है। समिति ने सुझाया कि जहां संभव हो सके वहां पन्द्रह एकड़ तक भूमि पंचायतों को दी जानी चाहिए। इस भूमि के विकास के लिए सरकार द्वारा विशेष सहायता भी प्राप्त की जानी चाहिए।

चौथे, जिन पोखरों एवं तालाबों में मछलियां होती हैं वहां मछली पकड़ना पंचायत का एक मुख्य आय स्रोत बन जाता है।

पांचवे, गांवों में कुछ जमीन को चरागाह भूमि घोषित कर दिया जाता है जो कि प्राकृतिक रूप से विकसित होती है और पंचायतों की आय का एक साधन बन जाती है। पंचायतें चरागाह भूमि का विकास कर सकती हैं तथा उससे पैदा होने वाली चीजों या पेड़ आदि को बेच सकती हैं।

छठे, ग्राम पंचायतों की आय का एक अन्य स्रोत वह भूमि भी हो सकती है जो कि कृषि के काम नहीं आती और बेकार पड़ी है। ऐसी भूमि पंचायतों को हस्तान्तरित कर दी जानी चाहिए। इन भूमियों से उत्पन्न होने वाले प्राकृतिक पदार्थों एवं पेड़ पौधों के द्वारा पंचायतें पर्याप्त आय अर्जित कर सकती हैं। पंचायतों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे बिना स्वामी वाली जमीन से या चरागाह भूमि से जलाने के लिए या लकड़ी निकालने के लिए पेड़ों को काट सकें। पेड़ों को काटने के व्यवहार को नियमित करने के लिए नियम बनाए जाने चाहिए। इस प्रकार के अधिकार मिलने के बाद पंचायतें बेकार की भूमि पर अधिक पेड़ उगाने के लिए प्रोत्साहित होंगी।

सातवें, पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषदों को सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। उन्हें यह अधिकार भी हो कि वे अपनी दूकानें, बाजार, होटल सिनेमाघर, ट्रैक्टर, ट्रक आदि आमदनीपूर्ण वस्तुओं का उपयोग करके आय को बढ़ा सकें यदि पंचायत या पंचायत समिति के पास खुद का ट्रैक्टर होगा तो वह उस संस्था की सेवा करने के लिए अतिरिक्त जनता के लिए भी अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा।

आठवें, हड़िडियों के संग्रह का ठेका भी पंचायत समितियों की आय का एक मुख्य साधन है। जहां कहीं ऐसे कार्य के लिए ठेकेदार सामने न आए वहां पंचायत समिति स्वयं इनके प्रबन्ध कर सकती हैं।

नवें, पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों को इस बात की पर्याप्त सुविधा मिलनी चाहिए कि वे छोटे स्तर के उद्योग संचालित कर सकें। जिला परिषद को अपेक्षाकृत बड़े आकार के उद्यम सौंपे जा सकते हैं। पंचायती राज संस्थाओं को देहाती क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र का विकास करना चाहिए।

दसवें, पंचायत एवं पंचायत समितियों द्वारा फलों के बाग तथा सब्जियों के बगीचे लगाए जा सकते हैं। बड़े नगरों एवं कस्बों के निकट की पंचायत एवं पंचायत समितियों को इस योजना से पर्याप्त लाभ मिलेगा।

3.5.4 अनुदान द्वारा प्राप्त आमदनी

पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए यद्यपि उन्हें अनेक आय के स्रोत सौंपे गए हैं किंतु फिर भी उनकी वित्तीय अवस्था इतनी संतोषजनक नहीं है कि उसे आत्मनिर्भर कहा जा सके। कई कारणों से इन संस्थाओं को राज्य द्वारा दिए जाने वाले अनुदान पर निर्भर रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। पंचायती राज संस्थाओं के अनुदान तथा सहायता अनुदान किसी व्यक्ति विशेष, सरकार अथवा एक संस्था से प्राप्त हो सकता है। पंचायती राज संस्थाओं के कार्यक्षेत्र बढ़ जाने के कारण यह अनिवार्य हो गया है कि राज्य सरकार द्वारा उनके सीमित साधनों की कमी को पूरा किया गया। अनुदान को राज्य सरकार एवं स्थानीय संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का एक माध्यम कहा जाता है। अनुदान का मुख्य उद्देश्य इन संस्थाओं की वित्तीय स्थिति को सुधारना और इनके योजनाबद्ध विकास तथा अन्य कार्यक्रमों में सहयोग प्रदान करना है। अनुदान की व्यवस्था का कई कारणों से समर्थन किया गया है। प्रथम यह कि अनुदान की व्यवस्था द्वारा विभिन्न स्थानीय संस्थाओं के कर भार में भी एकरूपता लाई जा सकती है। यदि अनुदान की व्यवस्था न हो तो अनेक नगरपालिकाएं कर्ज के भार से दब कर समाप्त हो जाएंगी। इसके अतिरिक्त जब क्षेत्र की वित्तीय स्थिति स्वस्थ नहीं रहती तो

उसके कारण सभी विकास कार्यक्रम अधूरे रह जाते हैं। इस सबका जनसाधारण की भावना एवं जीवन-स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वित्तीय सत्ता के अतिरिक्त कर भार को राज्य सरकार द्वारा अनुमान के सहारे कम किया जा सकता है। दूसरे जब राज्य सरकार द्वारा स्थानीय संस्थाओं को जो सुझाव दिये जाते हैं वे उस समय तक महत्वपूर्ण होते हैं जब तक कि अनुदान के रूप में उन्हें सम्पन्न करने के लिए आज्ञा न दी जाए। अनुदान के बिना नीतिबद्ध प्रशासनिक कार्यों में दक्षता नहीं लाई जा सकती। तीसरे, अनुदान के सहारे केन्द्रीय सत्ता राष्ट्रीय नीति को क्रियान्वित करने के लिए कदम उठा सकती है। साथ ही वह अपने अनुभव, ज्ञान एवं दृष्टिकोण के लिए स्थानीय सत्ताओं को प्रभावित कर सकती है।

कुछ लोग अनुदान का विरोध भी करते हैं। उनके मतानुसार यह स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के कार्यों में राज्य सरकार के अनुचित हस्तक्षेप को जन्म देता है। साथ ही इस प्रकार से राज्य सरकार स्वायत्त सरकार के मार्ग में एक बाधा बनती है।

सादिक अली समिति ने राजस्थान में पंचायत समितियों को दिए जाने वाले अनुदान की व्यवस्था में जो कमियां एवं दोष पाए, वे अग्रलिखित हैं—

- जो धन दिया जाता है वह किसी विशेष कार्यक्रम के लिए दिया जाता है और पंचायत समितियों को अनुदान के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई स्वेच्छा नहीं दी जाती है। सामुदायिक विकास कोष के सम्बन्ध में पंचायत समितियों को कुछ स्वेच्छा का अधिकार दिया गया है किन्तु यह भी अनेक शर्तों से प्रतिबंधित है। अन्य हस्तान्तरित कार्यक्रमों के सम्बन्ध में पंचायत समितियों को मुश्किल से ही स्वेच्छा का अधिकार रहता है।
- स्थानीय आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार जब स्वेच्छा एवं पुनिर्विनियोग की स्वतंत्रता नहीं दी जाती और धन देने में तथा उनका उपयोग करने में जो कठोरता बरती जाती है उसके परिणामस्वरूप इन संस्थाओं की पहल करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि पंचायत समितियों के पास एक शीर्षक के अंतर्गत ऐसा धन बचा रहता है जिसका उपयोग नहीं किया गया जबकि दूसरे शीर्षक के अधीन धन की मांग बराबर बनी रहती है और वह घाटे में चलता है। इस प्रकार पंचायत समितियां अपने पास के धन का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पातीं।
- अनुदान का जो आर्थिक कार्यक्रम इस समय अपनाया जा रहा है उसमें निम्न स्तर पर नियोजन के लिए बहुत कम गुंजाइश है। जब पंचायत समितियां प्राप्त धन का स्थानीय परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार उपयोग नहीं कर पातीं तो नियोजन की प्रक्रिया अवास्तविक बन जाती है। निम्न स्तर पर नियोजन की प्रक्रिया केवल तभी वास्तविक बन सकती है जबकि स्थानीय संस्थाओं को राष्ट्रीय एवं राज्य की प्राथमिकताओं की व्यापक सीमा में रहकर अपने अनुदान का प्रयोग करने की स्वतंत्रता होगी।
- वर्तमान व्यवस्था लेखों की एक उलझी हुई व्यवस्था को उत्पन्न करती है जिनमें कि अनेक शीर्षक और उपशीर्षक होते हैं जो कि एक भ्रमपूर्ण तस्वीर रखते हैं।
- विभिन्न हस्तान्तरित कार्यक्रमों के लिए दिया गया धन विभागों द्वारा निश्चित किया जाता है जो कि हमेशा पर्याप्त नहीं रहता। यह कहा जाता है कि इस निर्धारण में स्थानीय आवश्यकताओं एवं परिस्थिति को पर्याप्त ध्यान से नहीं देखा जाता है।
- सामुदायिक विभाग के लिए दिया गया धन स्तर के अनुसार बदलता रहता है। सामुदायिक विकास खण्डों का सम्बन्ध पूरे क्षेत्र से रहता है अतः सभी खण्डों के लिए स्थापन एवं कम से कम अनुदान का एकसा ही तरीका प्रदान किया जाना चाहिए।

अधिकांश विचारकों का यह मत है कि स्थानीय निकायों को जो धन दिया जाये उसका उपयोग करने की उनको पर्याप्त स्वेच्छा प्रदान की जानी चाहिए। यह भी कहा जाता है कि अनुदान का एक जैसा तरीका भी विकसित किया जाये। संस्थाओं को यह पहले से ही अनुमान लगा देना चाहिए कि उनको आगामी वर्ष में क्या दिया जाएगा, अर्थात् धन प्रदान करने के बारे में कुछ निश्चितता होनी चाहिए। धन प्रदान करने की प्रक्रिया भी साधारण होनी चाहिए, उनमें उलझनें नहीं होनी चाहिए।

अनुदान की राशि में से उपयोग में आने के बाद जो धन शेष बच जाता है उसका उपयोग किस प्रकार किया जाये यह भी एक समस्या रहती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में अलग-अलग प्रकार का व्यवहार किया जाता है। कर्नाटक, पंजाब, उत्तर प्रदेश, गुजरात, पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में अनुदान की राशि में से बचे हुए धन को अगले वर्ष काम में लाया जा सकता है। असम में यह व्यवस्था है कि वहां जब किसी विशेष प्रयोजन के लिए अनुदान दिया जाता है और वह प्रयोजन पूरा होने के बाद भी धन शेष बचा रहता तो उसे अन्य कार्यों के लिए हस्तान्तरित कर दिया जाता है अथवा उसे अगले वर्ष काम में लाया जाता है। स्थानीय सड़कों आदि से सम्बन्धित जो वैधानिक अनुदान दिया जाता है उसकी बची राशि को अगले वर्ष में लाया जा सकता है। आन्ध्रप्रदेश में यह व्यवस्था है कि अनुदान द्वारा प्रदान किये गये धन को बारह माह के भीतर ही काम में लेना होता है। इसके बाद वह प्रत्यर्पित हो जाता है। उड़ीसा में पंचायत समितियां इस राशि को अगले वर्ष भी काम में ला सकती हैं। उद्देश्य की दृष्टि से पंचायती राज संस्थाओं को प्राप्त अनुदान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सामान्य विकास अनुदान एवं विशेष अनुदान।

3.6 ग्राम पंचायत : एक परिप्रेक्ष्य

पंचायत की कल्पना भारतीय संस्कृति और विशेषकर भारतीय राज्य-व्यवस्था की आधारशिला है यह हमारी राष्ट्रीय एकता और अखंडता, सुदृढ़ता और सुव्यवस्था तथा हमारे मृत्युंजयी लोकतंत्र का रक्षाकवच है। डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी के शब्दों में, “स्थानीय शासन के स्वतंत्र विकास के फलस्वरूप देश को कछुए की खोल की तरह सुरक्षा, शांति का एक स्वर्णिम स्थान प्राप्त हुआ जहां राष्ट्र की संस्कृति उस समय अपनी सुरक्षा कर लेती थी जब देशी की राजनैतिक गगन पर तूफान फूट पड़ता था।” से

पंचायत-दृष्टि से भारत के इतिहास की व्याख्या विनोबाजी ने बहुत मौलिक ढंग से की हैं उनके अनुसार प्राचीनकाल में देश भी आजाद था और गांव भी आजाद थे? जब मुगल आये तो देश गुलाम था किन्तु तब भी गांव आजाद थे? अंग्रेजों के समय में देश भी गुलाम था और गांव भी गुलाम थे? अभी इस समय देश तो आजाद हैं, किन्तु गांव अभी भी गुलाम हैं। बापू और विनोबा दोनों ने पंचायतों को पुर्नजीवित एवं पुर्नगठित कर “ग्राम-स्वराज्य” की स्थापना पर बल दिया। लेकिन मूलभूत बात यह है कि उनके अनुसार पंचायत-पद्धति के द्वारा ही केन्द्रीय एवं राज्य सरकार का संगठन किया जायेगा, न कि सरकार द्वारा पंचायत का गठन किया जायेगा। बापू के शब्दों में, “आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हर गांव में जम्हूरी सल्तनत या पंचायत का राज्य होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी ऐसा समाज अनगिनत गांवों को बनाना होगा। जिन्दगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी, जहां ऊपर की तंग चोटी के नीचे के चौड़े पाय पर खड़ा होना पड़ता है। वहां तो समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शक्ल में होगी और व्यक्ति उसका मध्य बिन्दु होगा जो हमेशा अपने गांव के खातिर मिटने को तैयार रहेगा, गांव अपने इर्द-गिर्द गांवों के लिये मिटने को तैयार रहेगा।” बापू ने तो अपनी आखिरी वसीयत में भी कांग्रेस संविधान को भी पंचायत-पद्धति के माध्यम से करने की सलाह दी थी जो वास्तविक लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण हैं। अधिकाधिक स्वावलम्बन इसका आर्थिक और “पंच बाले परमेश्वर” यानी सर्व सम्मतिया सव्रनुमति से चुनाव इसका सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आधार है।

इस दृष्टि से यदि हम भारत में पंचायत और पंचायती राज के विकास पर ध्यान देंगे तो लगेगा कि आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक तीनों दृष्टियों से पंचायत की भावना और योजना के साथ बलात्कार किया गया है। सन् 1915 में अफ्रीका से लौटने के बाद से ही बापू को पक्का विश्वास हो गया था कि “सच्चा भारत उसके सात लाख गांवों में बसता है और भारत का भविष्य तब तक उज्ज्वल नहीं होगा, जब तक ये सात लाख गांव उसके जीवन में उचित भाग नहीं लेंगे।” ग्राम स्वराज्य की उनकी योजना में ग्रामवासियों की आवश्यक जरूरतों के विषय में हर गांव को स्वयं शासित और स्वयं पूर्ण होना चाहिए। स्वावलम्बन के अभाव में स्वायत्तता संभव ही नहीं हो सकती है। बापू स्पष्ट कहते हैं— “ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिये अपने पड़ोसियों पर भी निर्भर नहीं करेगा, और फिर वह बहुत तेरी दूसरी जरूरतों के लिये जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा वह परस्पर सहयोग से काम लेगा।” अपनी जरूरत का तमाम अनाज, कपड़े गांव खुद पैदा करले फिर उपयोगी फसलें बोकर अन्य सामान का बंदोबस्त करें।

आज पंचायत इसलिये प्राणहीन है। कि उनके पास कुछ नहीं। सरकारी अनुदानों की राहत पर पलने वाली इन पंचायतों से न तो लोकशक्ति निकल सकती हैं और न लोक-अभिक्रम। पंचायतों पर जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उनसे यह स्पष्ट दीखता है कि पंचायतें अपने आपके लिये कानूनों में प्रदत्त टैक्स लगाने या वसूलने से हमेशा परहेज करती हैं और सरकार के अनुदानों की ओर टकटकी लगाकर देखती रहती हैं इसीलिये जबतक सरकार से मिलने वाले अनुदानों की आशा-संबल समाप्त नहीं हो जायेगी, हम स्थानीय पुरुषार्थ प्रकट होने की अपेक्षा नहीं कर सकते। भारतीय संविधान के 76वां संशोधन विधेयक में गांवों को स्वयं पूर्ण बनाने की बुनियादी बात को नजर अन्दाज कर दिया गया है कुछ हजार रुपये उन्हें दे दिये जायेंगे। यह तो पुरुषार्थहीनता को बढ़ाने वाली भिक्षा-वृत्ति है। दुर्भाग्य तो और भी हो जाता है जब गांव की योजना भी जिला एवं केन्द्र से आने की योजना है। तो यदि पंचायत की योजना अपनी न हो, अपना राजस्व न हो तो फिर यह स्वशासन कैसा? राज्य या केन्द्र सरकारों की दया एवं भिक्षावृत्ति पर पलने वाली पंचायतों में तेजस्विता एवं लोक-अभिक्रम का दर्शन नहीं हो सकता।

समाज में योगदानात्मक आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना पंचायत का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए किन्तु, पंचायतें इस कार्य में काफी विफल रही हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार जिला परिषदों के 93 प्रतिशत पदाधिकारीगण अच्छे-खासे कृषक वर्ग के हैं जिनमें कम से कम आधे लोगों के पास 15 से 50 एकड़ और 11.5 प्रतिशत लोगों के पास तो 50 एकड़ जमीन है। अनुसूचित जातियों के पास तो 4 प्रतिशत से भी कम जमीन है। पंचायत-व्यवस्था में सत्ता की कुंजी बड़े भूपतियों के पास है। अतः गरीबों के लिये आर्थिक न्याय एक मृगमरीचिका है। जब तक संविधान में जोतने वालों को जमीन के स्वामित्व की धारा 45 एवं तदनुकुल कानून बनाने के बावजूद भी गांवों में न्यूनतम मजदूरी कानून लागू नहीं हो पाता, भूमि सुधार के हृदबन्दी, बटाईदारी आदि अनेक कानून भी आंशिक रूप से ही क्रियान्वित हो पाते हैं। संक्षेप में आर्थिक न्याय के मोर्चे पर पंचायतें विफल रही हैं।

आर्थिक लोकतंत्र के साथ-साथ सत्ता के लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से भी पंचायतें सबसे अधिक प्रभावशाली एवं शक्तिशाली न्यूनत ईकाई नहीं बन सकी जिन पर राज्य और केन्द्र निर्भर करे। इसके विपरीत यह राज्य सरकारों के हाथ के चुनावों खिलौने के रूप में रही हैं। भारतीय संविधान निर्माताओं ने तो पंचायतों के साथ क्रूर मजाक किया और इसे मात्र राज्य के निदेशक तत्व के अनुच्छेद में डालकर कर्तव्य शेष समझा। आज संविधान के संशोधन में चुनाव आदि का निश्चित अवधि का विधान कर अपनी पीठ स्वयं थपथपा रहे हैं। लेकिन पिछले 43 वर्षों की बात तो छोड़े चुनाव वर्ष के पूर्व ही उन्हें इसका इहलाम क्यों नहीं हुआ था? खैर, मात्र चुनाव समय पर हो जाने से पंचायतें लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सशक्त आधारभूत ईकाई नहीं हो सकती। इसके लिये तो लोक सभा एवं विधान सभाओं का अप्रत्यक्ष निर्वाचन पंचायतों के माध्यम से कराना ही कारगर उपाय है अभी तो पंचायतें केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की मर्जी पर और उसी के अनुदान की भिक्षावृत्ति पर पलने वाली लोकतांत्रिक सत्ता-वृत्त के बाहर एक अत्यन्त कृत्रिम एवं ऐच्छिक संस्था बनी हुई हैं। इसलिये तो कभी इसे सामुदायिक विकास योजना के साथ कभी राज्य सरकारों की मर्जी पर और आज केन्द्रीय सरकार और उनके राज्यपालों के उपकरण बनाये जा रहे हैं। विधान सभाओं के हाथों को पंचायत की तकदीर सौंप देने से भी पंचायत कभी पुरुषार्थ नहीं बन सकती। पंचायतों को केन्द्र या राज्य सरकार का एक प्रशासनिक अंग मान लेने से पंचायतों की अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती। वस्तुतः यह तो केन्द्रीकरण के खूनी पंजों को छिपाने के लिये एक प्रकार का “प्रशासनिक-विकेन्द्रीकरण” जिनमें “सत्ता का वितरण” है, विकेन्द्रीकरण नहीं। असल में चाहे वे वतवतराय मेहता हो या सामुदायिक विकास के आधे संचालक श्री एस.के.डे. हों, इन महारथियों ने पंचायतों को “योगदानात्मक आर्थिक लोकतंत्र” के उपकरण बनाने के लिये “पर्याप्त संवैधानिक अधिकार दिये जाने” की अनुशंसा क्यों करनी पड़ती। आर्थिक लोकतंत्र के बिना पंचायतों के नाम से इस प्रकार के प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण में बाबा अम्बेडकर ने इसीलिए अज्ञान, अंधविश्वास, गतिहीनता एवं उच्च वर्णों के अधिपत्य का प्रेरणा-स्रोत देखा था।

राज्य व्यवस्था के मूल प्रवाह से अविच्छिन्न पंचायत व्यवस्था को विकेन्द्रीकरण के नाम पर रखने से न तो लोकतंत्र को बल मिलता है न विकेन्द्रीकरण ही प्रतिष्ठित होता है। केन्द्र एवं राज्यों में “संसदीय लोकतंत्र” एवं गांवों में “पंचायत-व्यवस्था”— इन दोनों का कोई तात-मेल नहीं है। जब तक नीचे ऊपर तक की व्यवस्था एक दूसरे से समुद्री-वर्तुल की तरह आबद्ध नहीं रहेगा, पंचायत को सच्ची प्रतिष्ठा नहीं मिल सकेगी और यह मात्र केन्द्रीय या राज्य सत्ता की मेहरबानी पर ही जिन्दा रहेगी। यही

नहीं, स्वशासी निकायों एवं राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों में अधिकारों के लिये शाश्वत खींचतान का अवसर रहेगा। इसका अर्थ है कि अभी की केन्द्रित राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था को उलटकर विकेन्द्रित बनाना— “उर्ध्व मूलं अधः शाखा।” ये किसी प्रकार की समानान्तर व्यवस्था से संभव नहीं यानी राज्य विधान सभाओं एवं केन्द्र की लोक सभा का जब तक आधार पंचायतें या पंचायतों के आधार पर अप्रत्यक्ष चुनाव नहीं होंगे तब तक पंचायतों को वर्तमान संवैधानिक की संजीवनी भी व्यर्थ सिद्ध होगी। असल में वर्तमान संविधान द्वारा निर्मित इस दुहरी समाज-व्यवस्था में जहां न नागरिकों को आजीविका का और जमनी जोतने वालों को जमीन पर मौलिक अधिकार है, वहां सच्चा लोकतंत्र नहीं पनप सकता है। फिर वहां जनता की योजना, जनता का जनतंत्र एवं जनता का समाज तंत्र विकसित नहीं हो सकता।

इसीलिये गांधी ने पंचायत के आधार पर एक सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक लोकतंत्र विकसित करने की योजना के रूप में ही “ग्रामस्वराज्य” की कल्पना रखी थी। विनोबा जी ने “ग्रामदान” की कल्पना से उसको एक ठोस स्वरूप प्रदान किया। ग्रामदान में ग्राम सभा में गांव की सम्पूर्ण भूमि का स्वामित्व रहता है, ग्रामकोष में नीचे स्तर से ग्राम-विकास के लिये काफी गुंजाइश रहती है और लोक अभिक्रम भी विकसित होता है। सम्पूर्ण गांव एक परिवार के रूप में बनता है। परम्परागत पंचायत पद्धति में “निर्णय-प्रक्रिया” की एक विशेषता है कि यहां बहुमत-अल्पमत के आधार पर कोई निर्णय नहीं होता। “गांव के लोगों द्वारा चुने हुए पांच आदमियों की सभा को ही पंचायत कहा जाता है यही “पंच परमेश्वर” का सिद्धान्त है

जिस संसदीय प्रजातंत्र में बहुमत-अल्पमत के कारण विरोध की राजनीति का अभ्युदय हो गया है, उसका समन्वय “सर्वानुमति” या “सर्वसम्मति” या “आमराय” की पद्धति से ही संभव है हर देश की अपनी परम्परा होती है, हर संस्कृति का अपना एक तर्ज होता है। भारतीय संस्कृति समन्वय की साधना है, यही कारण है कि पंचायत प्रणाली में भी “सदा सर्वगत सर्वहित” ही पंचायत का मूल मंत्र है। यही सर्वोदय भी है जब गांव से राष्ट्र तक के प्रशासकों की निर्वाचन प्रत्येक प्रजातंत्र जन के द्वारा किया जायगा तभी पंचायतें सशक्त एवं फलवत् होंगी। वैदिक पंचायतों के समय निर्वाचन बहुमत के द्वारा नहीं प्रत्युत सर्वमत के द्वारा ही किया जाता था।

पंचायत राज्यों के विषय हैं, अतः राज्य सरकारों के अधिकार लेकर भी यदि केन्द्र चाहे चुनावी वैतरणी की दृष्टि से अभिक्रम दिखाया हो, वह प्रा. मधु दंडवते के अनुसार केशवानन्द भारती के मुकदमें में सर्वोत्तम न्यायालय के 1971 में संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन नहीं करने के कारण संवैधानिक अवज्ञा हो, लेकिन “सशर्त स्वागत योग्य” है। इसका विरोध केवल विरोध के लिये ही नहीं होना चाहिए। लेकिन मुल्क राज आनन्द ने वहीं यह भी स्वीकार किया है कि यदि पंचायतें गांवों के बुनियादी विकास की ओर अग्रसर नहीं होती हैं तो वे दारिद्र्य की गन्दी तालाब बनकर रह जायगी। जहां न प्रकाश होगा, न शुद्ध जल, न सड़क, न विद्यालय और न चिकित्सा का ही कोई प्रबंध। अतः विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि हम जमीन पर लोकतंत्र को उतारे। संक्षेप में आर्थिक न्याय के बिना पंचायतें राजनीतिज्ञों की बी. टीम के खिलाड़ियों का खेल बनकर रह जायगी इसीलिये पंचायतों की सार्थकता और सफलता के लिये यह आवश्यक है कि एक ओर आर्थिक लोकतंत्र का आधार बने व दूसरी ओर सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र का यह ताना-बाना हो। महात्मा गांधी ने पंचायत का समर्थन मात्र पंचायत की स्थापना के लिये नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण राज्यव्यवस्था का आधार बनाने के लिये किया था। नेपाल में “पंचायत-प्रजातंत्र का जो प्रयोग हुआ है। उसमें रूप तो पंचायत का है किन्तु उसमें तत्व राजतंत्र एवं नौकरशाही का है इसलिये इसे हम न पंचायत की संज्ञा दे सकते हैं न प्रजातंत्र की। इसलिये यदि पंचायत के नाम पर ही संविधान का संशोधन करना हो तो पंचायत के आधार पर ही विधानसभा एवं लोक सभा का अप्रत्यक्ष चुनाव का विधान करना चाहिए। पंचायतों पर जो अपेक्षाकृत बड़े किसानों का हैं क्योंकि उनका निहित स्वार्थ उन्हें अपनी सुरक्षा के लिये विवश करता है। अतः जब संविधान-संशोधन हो तो साथ-साथ “जमीन जोतने वालों की जमीन के मौलिक अधिकार” संबंधी कानून भी लागू होने चाहिए अन्यथा पंचायत आर्थिक लोकतंत्र की कभी प्रतिष्ठा नहीं कर सकेगी। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण अविभाज्य हैं। पंचायत स्तर या गांव-स्तर पर योजना के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना पंचायतें सचमुच अवास्तविक बनी रहेंगी। दुर्भाग्य से प्रस्तावित पंचायत विधेयक में हम एक ओर सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात कर रहे हैं, दूसरी ओर “जिला-योजना” तो दिल्ली के शीतताप नियमित कमरों में

बैठकर बड़े-बड़े समाज वैज्ञानिकों से तैयार कराये जाएंगे जिन्हें कार्यान्वित करने के लिये पंचायतों को कहा जायेगा। पंचायतों के नाम प्रखंड विकास पदाधिकारी ही कोष का संचालन करेंगे। यही नहीं, विकास-संबंधी सारे कोष तो कलक्टर के मार्फत खर्च किये जाएंगे। ऐसी परिस्थिति में पंचायत के पुरुषार्थ का विकास तो नहीं ही होगा, यह अफसरों के हाथों का खिलौना बनी रहेगी। सत्ता यदि गांव में आवे तो योजना भी गांव में बननी चाहिए। जवाहर रोजगार योजना के द्वार पंचायतों एवं गांवों तक केन्द्र सरकार की पकड़ को मजबूत करना तथा राज्य सरकारों के अधिकारों को भी कमजोर करना है जो सरकारिया कमीशन की संस्तुतियों के भी खिलाफ हैं असल में जब तक गांव के द्वारा गांव की योजना और गांव के द्वारा गांव का स्वशासन नहीं होगा, पंचायतों का रूप खड़ाकर देने से लोकतंत्रात्मक विकेन्द्रीकरण नहीं हो सकता है।

4. राजनीति का आध्यात्मिकरण

महात्मा गांधी भारतीय संस्कृति के केन्द्रीय तत्व के रूप में उसमें निहित आध्यात्मिक एवं नैतिक चेतना और ईश्वर की अविकल सत्ता में गहन आस्थावान सत्य के संधानकर्ता थे। इससे उनका धर्मनिष्ठ स्वरूप प्रकट होता है। फलतः उनके व्यक्तित्व एवं चिंतन में नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का गहरा पुट है। इसके बावजूद गांधीजी का यह वैशिष्ट्य है कि उनके चिंतन में धार्मिक या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की पुनरुत्थानवादी जड़ता के दर्शन नहीं होते। एक धर्मनिष्ठ राजनीतिज्ञ होने के बावजूद गांधी का राजनीतिक नेतृत्व राष्ट्रीय लक्ष्यों की सिद्धि और मानवीय विकास की दिशा में अपूर्ण चेतनाशीलता एवं गतिशीलता का प्रतिमान सिद्ध होता है। तत्कालीन भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीति में ऐसे वैचारिक घटक मौजूद थे जो स्वराज्य के अग्रणी अलख जगाने वालों में थे, लेकिन राष्ट्र निर्माण का उनका चिंतन धार्मिक पंथवादी संकीर्ण सांस्कृतिक माताग्रहों की नींव पर खड़ा होकर धार्मिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उद्घोष कर रहा था। गांधी राष्ट्रवाद के अपेक्षया अधिक मुखर संदेशवाहक और राष्ट्रीय आंदोलन के ज्यादा प्रखर नेतृत्वकर्ता के रूप में इतिहास को युगांतकारी मोड़ देने में सफल होते हैं, लेकिन अपनी धर्मनिष्ठ दृष्टि के बावजूद वह कभी संकीर्ण मतवादों की जड़ता में आबद्ध नहीं होते।

महात्मा गांधी का वैचारिक धरातल पूरी तरह भारतीय चिंतन परम्परा और भारतीय मनीषा से जुड़ा है। अतः वह मानवीय दृष्टि को अचेतन भौतिक दुर्घटना नहीं मानते, बल्कि उसके मूल में अविच्छिन्न 'चैतन्य' की उत्प्रेरणा स्वीकार करते हैं। उपनिषदों के इस निहितार्थ से गांधी असहमत नहीं हैं कि सृष्टि निष्प्रयोजनार्थ नहीं, बल्कि चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का सुस्पष्ट प्रयोजन है असत्य पर सत्य की, अंधकार पर प्रकाश की और अशुभ पर शुभ की विजय। विश्व में शुभ और अशुभ रूपी दो धाराओं का शाश्वत अस्तित्व है, जिनके द्वन्द्व के साथ जीवन सरिता का विकासमान प्रवाह चलता है। इनके द्वन्द्व में शुभ की विजय अभीष्ट एवं अनुकरणीय है। महात्मा गांधी मनुष्य की आत्मा में निहित शुभ रूपी उत्तमांश को जागृत एवं प्रमोदित कर उसकी सिद्धि का मार्ग निर्देश करते हैं। उनके अनुसार यह सिद्धि ही शाश्वत सत्य है और इस सत्य का साक्षात्कार ही ईश्वर का साक्षात्कार है। यही दृष्टि भारतीय धर्म एवं संस्कृति का निहितार्थ है। भारतीय परम्परा से प्राप्त यह विश्वदृष्टि धर्मा के जड़तावादी एवं प्रतिगामी पक्षों से मुक्त गत्यात्मकता को प्रशस्त करती है। यह दृष्टि धर्म के गहरे संस्कारों के साथ उसके संकीर्ण मतवाद की असहिष्णुता एवं विभाजक चारदीवारियों से ऊपर उठकर गांधी को भारतीय परम्परा एवं धर्मदर्शन की मानववादी सर्वभूत कल्याण भावना का प्रतिनिधित्व बना देती है। गांधी मानते हैं कि आत्मसमीक्षा, आत्मनिर्णय के लिये अपेक्षित स्वतंत्र चिंतन अवरुद्ध हो जाय और हम पुनरुत्थान के नाम पर पूर्वजों के उपाजित यश पर ही खड़े रहकर अपने चारों ओर अंधविश्वासों एवं रुढ़ियों का कवच बनाने लगे, तो ऐसे समाज में विधायक गतिशीलता का लोप हो जाता है और गहरा सांस्कृतिक अधःपतन उसकी अपरिहार्य नियति बन जाता है। ऐसा राष्ट्र अपनी अस्मिता और अपनी स्वतंत्रता सहज ही खो बैठता है। अतः गांधी पुनरुत्थान के नाम पर धर्म की इस प्रतिगामी चेतना को अस्वीकार करते हुये उसके गत्यात्मक स्वरूप को स्वीकार करते हैं।

4.1 धर्म और राज्य का सम्बन्ध

धर्म के संदर्भ में गांधी के चिंतन एवं विचारों का धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वह मानते थे कि सहिष्णुता एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति की सही कसौटी है, जिसके बिना आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्कर्ष का धार्मिक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा

“सहिष्णुता हमें ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि देती है, जो कट्टरता से उतना ही दूर है जितना उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से।” धर्म के कट्टरवादी स्वरूप की महात्मा गांधी कटु आलोचना करते हैं। उनका स्पष्ट अभिमत है कि “धर्म के लिए मरना अच्छा है, लेकिन धार्मिक कट्टरता के लिये जीना और मरना दोनों बुरा है।” महात्मा गांधी धर्म को सार्वभौम मानते हैं। उनके अनुसार वह मात्र परलोक सुधार का माध्यम नहीं है, बल्कि व्यक्ति के जीवन को पवित्र उत्कर्ष प्रदान करने का साधन भी है। वह ईश्वर की अविकल सत्ता में विश्वास करते थे और उसे प्रकाश का स्रोत तथा सत्य एवं प्रेम को उसका प्रतिरूप मानते थे। वह मानते थे कि ईश्वर के अनेक रूप हैं, लेकिन वह उसकी पूजा सत्य के रूप में करते थे जो सत्य उनके चिंतन का मूल आधार है। हर धर्म इस ईश्वर रूपी परम सत्य को प्राप्त करने की राह दिखाता है। सत्य का संधान सदाचरण, प्रेम, अहिंसा और बन्धुत्वभाव के माध्यम से ही हो सकता है। राजनीति भी इस लक्ष्य से पृथक नहीं हो सकती। अतः गांधीजी कहते हैं कि “धर्म के बिना राजनीति विधवा है।” यहां यह समझना जरूरी है कि गांधीजी धर्म की तात्त्विक पहचान नैतिकता के रूप में देखते थे, जो सत्य रूपी धर्म के परमलक्ष्य से हमें जोड़ता है। अलग-अलग मार्गों से यहां पहुंचने में धर्म के जिन संस्थागत भिन्न स्वरूपों का प्रगटीकरण होता है, उससे राज्य और राजनीति का कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो निजी आचरण एवं व्यवहार का विषय है। धर्म से गांधी का आशय किसी धर्म विशेष जैसे हिंदू धर्म, आदि से नहीं था। उनके लिए धर्म वह था जो सब धर्मों में सामंजस्य स्थापित करता है, मनुष्य का स्वभाव बदल देता है, उसे शुद्ध करता है तथा अंतरात्मा से उसका सम्बन्ध स्थापित करता है। गांधी के अनुसार, संक्षेप में धर्म का अर्थ है विश्व के सुव्यवस्थित नैतिक शासन में विश्वास अर्थात् नैतिकता ही गांधी के लिये धर्म थी। उनके अनुसार धर्म व्यवहारिक होता है वह संसार से मुंह नहीं मोड़ता है। आध्यात्मिक नियम अर्थात् धर्म का कार्यक्षेत्र अलग नहीं होता है। इसकी अभिव्यक्ति जीवन के सभी कार्यों में होती है। और यही कार्यों की नैतिकता को आधार प्रदान करती है। इसी आधार पर गांधी ने माना कि धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता।

महात्मा गांधी व्यक्ति स्वातंत्र्य के कायल और व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता के नैसर्गिक अधिकारों के प्रबल पक्षधर थे। वह इसे व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्कर्ष का महत्वपूर्ण साधन मानते हैं, लेकिन किसी भी रूप में वह धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार के आक्रामक प्रयोग की प्रवृत्तियों को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने लिखा है कि “धार्मिक स्वतंत्रता एक अनुचित लाइसेन्स बन जाती है, जब वह दूसरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की कीमत पर प्रयोग में लायी जाने लगे अथवा नैतिकता एवं सुन्दरता का प्रतिवाद बन जाय।” भारतीय संविधान में अंतर्निहित प्रावधानों से स्वतः मूर्त होती भारतीय धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक दर्शन का मूलाधार संविधान का पचीसवां अनुच्छेद है, जिसके अंतर्गत गांधी की इस चिंतन दृष्टि को प्रतिध्वनित करते नागरिकों के धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार की व्यवस्था, लोकव्यवस्था एवं स्वास्थ्य के साथ ही नैतिक मूल्यों की मर्यादा के भीतर की गयी है। महात्मा गांधी ने लिखा है कि “यदि मैं शासक होता तो धर्म एवं राज्य को पूरी तरह अलग रखता। मैं अपने धर्म के प्रति दृढ़प्रतिज्ञा हूँ। मैं उसके लिये प्राण दे दूंगा, लेकिन यह मेरा निजी मामला है। राज्य को इससे कुछ भी लेना-देना नहीं।” उन्होंने पुनः लिखा है कि “राज्य आपके धर्मनिरपेक्ष कल्याण, स्वास्थ्य, संचार, विदेशी सम्बन्ध, मुद्रा और ऐसे तमाम कार्यों पर ध्यान देगा, न कि आपके और हमारे धर्म पर। यह तो सभी लोगों का व्यक्तिगत मामला है।”

धर्म और राज्य के सम्बन्धों को रेखांकित करते महात्मा गांधी के उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात साफ होती है कि गांधी धर्म और राजनीति के पृथक्करण के औचित्य को स्वीकार करते हैं। यहां स्पष्ट करना जरूरी है कि इसमें धर्म से उनका आशय संस्थागत विशेष धर्म से है न कि नैतिक मूल्यों से जुड़े सामान्य धर्म से। यह दृष्टिकोण उनकी सेकुलरवादी सोच को स्पष्ट करता है, लेकिन इस संदर्भ में उनका चिंतन वस्तुतः पश्चिमी सेकुलरवाद के काफी दूर है। राज्य और राजनीति के विरुद्ध लौकिक प्रयोजनों की पश्चिमी सेकुलरवादी अवधारणा न तो गांधी का अभीष्ट थी और न तो भारतीय राजनीति में ही उसे स्वीकृति मिली। पश्चिम से भिन्न स्वरूप में गांधी राजनीति और धर्म की पृथक्ता और साथ ही उनका परस्पर तादात्म्य साथ-साथ स्वीकार करते हैं। गांधी जहां दोनों के पार्थक्य की वकालत करते हैं, वहीं यह भी कहते हैं कि “धर्म के बिना राजनीति विधवा है।” चिंतन के इन दोनों पक्षों में अंतर्विरोध या विरोधाभास नहीं, बल्कि धर्म के प्रति एक सकारात्मक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अंतर्निहित है। यह

समग्र दृष्टिकोण भारतीय राजनीति में धर्म की आध्यात्मिक ऊर्जा को उत्प्रेरित करने के साथ ही धार्मिक मताग्रहों की जड़ता से आक्रांत सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की वैचारिकी का प्रतिवाद भी बन जाता है।

गांधी जब यह कहते हैं कि धर्म के बिना राजनीति विधवा है अथवा धर्म एवं राज्य को पृथक-पृथक होना चाहिये तो उनके चिंतन में धर्म के दोहरे आयाम भी सुस्पष्ट हैं। वह मानते थे कि धर्म के दो पक्ष होते हैं—1. नैतिक धर्म और 2. संस्थागत धर्म। धर्म के नैतिक पक्ष पर प्रायः सभी धर्मों के बीच आम सहमति होती है और नैतिक मूल्यों को लेकर उनमें टकराव नहीं होता। सत्य, दया, करुणा, परोपकार जैसे नैतिक मूल्यों को लेकर सभी धर्मों में समान होते हैं और इनके चलते कभी दंगे नहीं हो सकते। लेकिन जहां तक धर्म के संस्थागत पक्ष का प्रश्न है, उनके मध्य टकराव की संभावनाएं होती हैं और यही अंतर्विरोध सम्प्रदायवाद को भी जन्म देता है। व्यक्तिगत विश्वास अथवा आध्यात्मिक उत्कर्ष के माध्यम के रूप में धर्म की यह भिन्न-भिन्न अस्मितायें जब संगठित विश्वास की इस हद से आगे बढ़ जाती हैं कि एक धर्म के अनुयायियों के पारलौकिक एवं आध्यात्मिक हित ही नहीं बल्कि एक धर्म का अनुयायी होने के कारण उनके लौकिक हित भी एक हैं और एक ही नहीं, दूसरे धर्म के अनुयायियों से भिन्न एवं उनके विरुद्ध हैं, जिनमें तालमेल तथा संगति बैठायी ही नहीं जा सकती, तब साम्प्रदायिकता का खतरनाक स्वरूप प्रस्तुत होता है। महात्मा गांधी अपने युग की भारतीय राजनीति में इनकी दोतरफा चुनौती का सामना करते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों अलग-अलग धर्म के अनुयायी हैं, इसलिये उनकी कौमियत अथवा राष्ट्रीयतायें भी अलग-अलग हैं। इस आशय की वैचारिक चुनौती राष्ट्रीय आंदोलन काल में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के इस्लामी और हिन्दूवादी दोनों संस्करणों के रूप में गांधी के समक्ष आती है। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा दोनों के राजनीतिक प्रस्तावों से ऐसे स्वर प्रतिध्वनित होते हैं। गांधी संकीर्ण अतिराष्ट्रवाद के इन मताग्रही प्रवाहों से हटकर मानते हैं कि राजनीति धर्म के संस्थागत आयाम के साथ खड़े होने वाले धार्मिक मताग्रहों से निरपेक्ष और धर्म के नैतिक पक्ष से सापेक्ष है। जब वह कहते हैं कि धर्म के बिना राजनीति विधवा है, तो यह स्पष्ट है कि आशय संस्थागत धर्म से है और राज्य को उससे कुछ लेना देना नहीं। नैतिक धर्म को हम सामान्य-धर्म और संस्थागत धर्म को विशेष धर्म की भी संज्ञा दे सकते हैं। राज्य और राजनीति सामान्य धर्म और उसके मूल्यों से कभी निरपेक्ष नहीं रह सकती, लेकिन विशेष धर्म से उसकी निरपेक्षता अपरिहार्य है। राज्य और राजनीति धर्म समुदायों से तटस्थ रहकर उनके संरक्षण की भूमिका समदृष्टि रखते हुये निभायेगी, जब तक उससे जुड़े धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का प्रयोग नैतिकता, स्वास्थ्य एवं लोकव्यवस्था की सीमारेखा में रहकर किया जा रहा हो। गांधी ने लिखा है कि “मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि राज्य को धार्मिक शिक्षा देनी चाहिये। जो धार्मिक शिक्षा देना चाहते हैं उन्हें यह कार्य स्वयं करना चाहिये और यह कार्य उसी सीमा तक होना चाहिये, जहां तक यह विधि, आदेश और नैतिकता के अधीन हो। राज्य केवल नैतिक शिक्षा दे सकता है और वह भी सभी धर्मों के मूलभूत एवं समान आदर्शों पर आधारित तथा सभी दलों को स्वीकार्य होना चाहिये। मेरा विश्वास है कि मूलभूत नैतिक आदर्श सभी धर्मों में समान हैं। इनकी शिक्षा निःसंदेह राज्य का कार्य है।”

गांधी मैकियावली की इस मान्यता से बिलकुल सहमत नहीं थे कि धर्म और राजनीति दो अलग-अलग वस्तुएं हैं। उनके अनुसार आज राजनीति मैकियावली प्रवृत्ति के आधार पर पूरी तरह नीति निरपेक्ष व धर्म रहित हो गई है। यह एक आवश्यक बुराई बन गई है। इसलिये गांधी ने कहा कि “यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो केवल इसलिये कि राजनीति हमें सर्प की कुण्डलियों की भांति घेरे हुए है जिससे बाहर अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी कोई निकल नहीं पा रहा है। मैं सर्प से लड़ना चाहता हूँ। मैं राजनीति में धर्म का प्रवेश कराना चाहता हूँ।” गांधी महान कर्मयागी थे इसलिये राजनीति में धर्म का प्रवेश कर उस दोहरे नैतिक मानदण्ड को समाप्त करना चाहते थे जिसके अनुसार ‘राजनीति राजनीति है और व्यापार व्यापार है। गांधी मानते थे कि राजनीति केवल शक्ति व सत्ता प्राप्त करने का संघर्ष ही नहीं है, बल्कि वह लाखों पद दलितों को सुन्दर जीवन यापन करने योग्य बनाने, मानवीय गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतंत्रता, बंधुत्व, आध्यात्मिक गहराई व सामाजिक समानता के बारे में शिक्षित करने का प्रयास है। राजनीति में धर्म का प्रवेश करना सत्य व न्याय की दिशा में अग्रसर होना है। “धर्म के बिना वह एक मृत देह के समान है जिसको जला देना ही उचित है।”

जीवन का लक्ष्य है आत्म साक्षात्कार। गांधी का मत है कि आत्मसाक्षात्कार अथवा ईश्वर के साक्षात्कार के लिये यह आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण मानव जाति, जिनके हृदय में ईश्वर सदैव विद्यमान

है, के साथ तादात्म्य स्थापित करे और सबके हित व कल्याण सिद्धि हेतु प्रयत्नशील रहे। और गांधी के अनुसार, राजनीति में भाग लिये बिना ऐसा किया नहीं जा सकता, क्योंकि मनुष्य के सभी कार्य व क्षेत्र उसके जीवन समष्टि के भाग हैं। सामाजिक, राजनीति, आर्थिक आदि कृत्रिम क्षेत्र में अनेक बुराइयों जैसे राजनैतिक पराधीनता, अनुपयुक्त राजनैतिक संस्थाएं, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, पाखण्ड, स्वार्थ आदि विद्यमान है जिनके कारण सर्वभूत हित की सिद्धि असंभव है। अतः परम लक्ष्य की सिद्धि के लिये गांधी ने गोखले की तरह राजनीति के आध्यात्मिकरण को आवश्यक माना। गांधी ने कहा कि जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है वे धर्म को नहीं जानते। जो मनुष्य देश प्रेम को नहीं जानता वह सच्चे धर्म और कर्तव्य को भी नहीं जानता।”

गांधी ने राजनीति को धर्म के रंग में रंगकर नैतिक मूल्यों पर आधारित किया। उन्होंने राजनीति से विग्रह, विघटन, विद्रोह और विनाश की प्रवृत्तियों के उन्मूलन पर बल दिया तथा राजनीति में भावना, समन्वय और संगठनात्मक तत्त्वों का अधिकतम समावेश करना चाहा। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, “गांधीजी ने राजनीति को, जो असत्य और धोखाधड़ी से भरी हुई थी, जो गिरी से गिरी दशा में नीच षड्यंत्रों की स्थिति में पहुंच गई थी, जो ऊंची से ऊंची स्थिति में कूटनीतिपूर्ण गोलमोल भाषा और गुप्त चालों से ऊपर नहीं उठ सकती थी, उपर उठाकर एक ऐसे ऊंचे आदर्श पर पहुंचा दिया जिससे कि कितने ऊंचे उद्देश्य के लिये भी किसी भी स्थिति में दोषपूर्ण व अपवित्र साधनों का उपयोग नहीं किया है। गांधी जी की शिक्षाओं के भीतर नैतिक एवं आध्यात्मिक स्फूर्ति थी, जिसने लोगों की कल्पना को प्रभावित किया।”

गांधी पाश्चात्य प्रजातंत्रीय राजनीति को भी इसलिए नापसंद करते थे क्योंकि वह पूंजीवादी प्रवृत्तियों को निर्बाध विस्तार देते हुए शोषण व अनैतिकता को बढ़ावा देती है। गांधी की मान्यता थी कि सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना अहिंसा द्वारा ही हो सकती है क्योंकि हिंसा का परिलाभ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दमन ही होगा। राजनीति के आध्यात्मिकरण की सिद्ध मान्यता प्रस्तुत कर गांधी ने तात्कालिक पथभ्रमित समाज को एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने धर्म और राजनीति के एकीकरण का प्रमाण अपने कार्यों से भी दिया। स्वतंत्रता आंदोलन का संचालन एक संत की तरह करके तथा नीतिगत अहिंसक साधनों द्वारा भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता दिलाकर राजनीति और धर्म की एकता को सार्थक कर दिखाया। गांधी का यह सिद्धान्त आज भी उतना ही प्रासंगिक है। आज राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पूरी तरह से स्वार्थ, भ्रष्टाचार, अनीति के दलदल में पूरी तरह फंस चुकी है। ऐसे में राजनीति का आध्यात्मिकरण का सिद्धान्त राजनीति को शुद्ध कर पीड़ित मानव जाति को नया जीवन प्रदान कर सकता है।

महात्मा गांधी इस तरह जहां धर्मनिष्ठा और धार्मिक कट्टरता के बीच गहरा भेद स्वीकार करते हुये भारतीय राजनीति की मुख्य धारा में दोनों को अलग करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके लिये धर्मनिरपेक्षता भी धर्मविहीनता का पर्याय नहीं थी। वह भारतीय संस्कृति में गहरे समाविष्ट आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित वैष्णव थे और अपने धार्मिक संस्कारों से ही धर्मनिरपेक्षता के भी संस्कार अर्जित करते थे। गांधी रामभक्त वैष्णव थे और निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि बीसवीं सदी के सबसे बड़े रामभक्त थे, जिन्होंने अपने जीवन में लाखों लोगों को बैठाकर रामधुन का गान कराया और करोड़ों के लिये उसकी प्रेरणा छोड़ गये। साम्प्रदायिक मताग्रहों की संकीर्णता में आध्यात्मिक चेतना और नैतिक शक्ति का उत्कर्ष स्थापित नहीं हो सकता है। शुभ प्रवृत्तियों से उत्प्रेरित और नैतिक मूल्यों के लिये प्रतिबद्ध राजनीति की गांधी की अविचल दृष्टि के व्यापक प्रभावों ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को अहिंसक सत्याग्रह का बेमिसाल प्रयोग बना दिया।

महात्मा गांधी के चिंतन एवं उनकी राजनीति के साथ भारतीय राष्ट्रवाद का वैज्ञानिक स्वरूप विकसित होता है। उसके ताने-बाने में जहां धर्म एवं संस्कृति के उदात्त मूल्यों और आध्यात्मिकता एवं नैतिकता के भारतीय आदर्शों का समावेश है, वहीं धर्मनिरपेक्षता एवं सर्वधर्मसमानतत्व की मौलिक एवं देशज अवधारणा भी समाविष्ट है। धर्मनिरपेक्षता की यह अवधारणा विशुद्ध लौकिकता अथवा राजनीति राजनीति में धर्मविहीनता का पर्याय नहीं है। इस चिंतन से उत्प्रेरित राजनीति और राज्य-व्यवस्था धर्म के मूल्यपरक निहितार्थों से सापेक्षता रखते हुये व्यक्ति के धार्मिक एवं आध्यात्मिक उत्थान में सकारात्मक सहयोग देती है। इस भूमिका में वह धर्म विशेष के प्रति पक्षपात से रहित और लोक व्यवस्था, नैतिकता

एवं स्वास्थ्य आदि की सीमाओं के भीतर रहकर धार्मिक विकास की स्वतंत्रता के अधिकारों का सकारात्मक संरक्षकत्व निभाती हैं। इस संरक्षकत्व में अल्पसंख्यक अस्मिताओं को अपनी सांस्कृतिक पहचान कायम रखने के उचित हक का संरक्षण भी समाविष्ट है।

गांधी युग के बाद की भारतीय राजनीति में धर्म और नैतिकता के प्रति उनके दृष्टिकोण के अनुकरण की प्रतिबद्धता का क्रमिक ह्रास हुआ है और धीरे-धीरे बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में धार्मिक कट्टरता की चुनौतियां उसी तरह राष्ट्रीय जीवन में उभरकर सामने आयी हैं, जैसे सन् तीस एवं सन् चालीस के दशकों में थीं। उदात्तता एवं कट्टरता की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों का अंतर्द्वन्द्व इस दौर की राजनीति में भी स्पष्ट है। इस अंतर्द्वन्द्व में राजनीति के साथ धर्म के उदात्त एवं नैतिक मूल्यों का ही तादात्म्य अभीष्ट है। इसके लिये महात्मा गांधी की चिंतन दृष्टि ही अनुकरणीय और उसका पथावलम्बन श्रेयस्कर है।

4.2 नैतिक राजनीति

महात्मा गांधी नैतिकता को जीवन में सभी बातों का मूल आधार मानते हैं और सत्य भी सभी नैतिकताओं का सारतत्त्व है। यहां तक कि नैतिकता से रहित या च्युत धर्म भी बालू के घर जैसा होता है। अतः गांधी का अभिमत है कि जिसने जीवन को आक्षेपरहित ढंग से नैतिक विधि के अनुशासन में नहीं बांधा, वह व्यक्ति मनुष्य कहे जाने योग्य नहीं होता। नैतिक विधि से सबसे बड़ा आशय यह है कि मनुष्य मानवता के हित में रत हों। उसकी जड़ें हृदय की शुद्धता में होती हैं। इस तरह मनुष्य के समग्र जीवन का आधार नैतिकता है, जिसमें राजनीतिक जीवन और राजनीतिक व्यवहार भी समाहित है।

महात्मा गांधी राजनीति में नैतिक मूल्यों की स्थापना एवं उसके अनुकरण के प्रबल पक्षपाती थे। इस संदर्भ में उन पर अपने राजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले के चिंतन का गहरा प्रभाव था। मेकियावेली सरीखे राजनीतिक विचारकों के विपरीत गांधी का विश्वास था कि राजनीति कोई साध्य नहीं है; बल्कि यह न्याय, सत्य एवं नैतिक आदर्शों का साधन है। साध्य और साधन की समान रूप से पवित्रता के कायम महात्मा गांधी मानते थे कि नैतिक आदर्शों से रहित राजनीति पथभ्रष्ट होकर लक्ष्य से विमुख हो जाती है। राजनीति से धर्म का सम्बन्ध और उसमें आध्यात्मिकता का समावेश भी गांधी इसीलिये और उतना ही चाहते थे कि जिससे राजनीतिक जीवन नैतिक आदर्शों से अनुप्राणित बना रहे।

4.3 सत्ता राजनीति बनाम लोकनीति

महात्मा गांधी दल और सत्ता से जुड़ी राजनीति की तुलना में लोकनीति पर आधारित राजनीति को अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने जहां राष्ट्रीय आंदोलन को लोकपरक बनाया, वहीं वह राष्ट्रनिर्माण की दिशा भी उसी ओर मोड़ना चाहते थे। विशुद्ध सत्ता केन्द्रित राजनीति के संदर्भ में उनकी धारणा थी कि वह एक सर्वशक्तिवादी राज्य का मार्ग प्रशस्त करती है। साम्यवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद, लोक कल्याणकारी राज्य अथवा पूंजीवादी लोकतंत्र में समान रूप से राजनीतिक आर्थिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियां अंतर्निहित होती हैं, जो अंततः शक्तिकेन्द्रित राज्य व्यवस्था का स्वरूप प्रकट करती हैं। इन व्यवस्थाओं में लोकतंत्र हो भी तो बेमानी होकर रह जाता है, क्योंकि वह मतदान तक सिमट कर रह जाता है। ऐसे लोकतंत्र में सच्चे लोकतंत्र की आत्मा और लोकनीति के स्वर की जगह नहीं होती। व्यक्ति जब सवय अपनी स्वतंत्रता को विनियमित नहीं कर पाता और उससे सच्चे स्वराज का पथावरोधन हो जाता है, तो व्यक्ति छलपूर्ण लोकतंत्र में अपनी स्वतंत्रता प्रकारान्तर से राज्यतंत्र के पास समयबद्ध रीति से गिरवी रखने लगता है। ऐसी व्यवस्था में लोकतंत्र का आभास तो होता है, लेकिन वस्तुतः वह लोकतंत्र नहीं होता।

महात्मा गांधी ने सत्ता आधारित राजनीति की विकृतियों से आजीवन संघर्ष किया और उससे बचने का संदेश दिया। वह मानते थे कि ऐसी राजनीति सांप की कुंडली की तरह समाज को जकड़े हुये हैं। राजनीति के इस खतरनाक स्वरूप से सतत संघर्ष अनिवार्य है। गांधी मानते थे कि राजनीति केवल सत्ता आधारित राजनीति का खेल रहेगी, तो उसमें विकृतियां भी रहेंगी। अतः वह राजनीति का आध्यात्मिकीकरण चाहते थे। वह मानते थे कि इससे सच्चे अर्थों में व्यक्ति का स्वतंत्र विकास होगा और वह स्वराज के पथ को प्रशस्त कर सकेगा। उन्होंने विशुद्ध सत्ता राजनीति के चिंतक मेकियावेली और चाणक्य को कभी आदर्श नहीं माना। साध्य और साधन की पवित्रता के कायल गांधी राजनीति को ईर्ष्या,

द्वेष, अनैतिकता, छल, प्रपंच, असत्य और अनीति से दूर रखने के पक्षपाती थे। गांधी प्रचलित संसदीय राजनीति को सांगोपांग लोकसत्तावादी नहीं मानते थे। उनका मत था कि लोकसत्तावादी राजनीति लोकसत्तापरक और लोकनीतिपरक कदापि नहीं हो सकती। सामान्यतः तो इसमें सत्ता की सीढ़ियाँ इक्यावन से कम के गणितीय बहुमत की स्थिति में भी चढ़ ली जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसे लोकतंत्र कहना बेमानी है।

उपर्युक्त स्थिति में गांधी स्वराज की बात करते हैं, जिसमें व्यापक रूप से ऐसे स्वतंत्र व्यक्ति की परिकल्पना निहित है जो स्वयं अपना शासन करे। ऐसे शासन में सत्तावादी राजनीति का महत्व नहीं रहेगा और आत्मानुशासित, आत्मनियंत्रित, स्वशासित एवं स्वअनुशासित व्यक्तियों द्वारा स्वराज की स्थापना हो सकेगी। राज्य के हस्तक्षेप के बिना इस स्वराज में व्यक्ति के नैतिक सद्गुणों को उत्कर्ष प्राप्त होगा। इसी आधार पर गांधी ने हिन्द-स्वराज में समाज और राज्य की सत्ता के भेद को चित्रित किया है। ऐसे स्वराज में जहाँ सत्ता विकेंद्रित रूप में लोकपरक रूप लेगी, वहीं उसकी नींव ग्राम-स्वराज में होगी। यह ग्राम गणतंत्र आम आदमी की सहभागिता के माध्यम से स्वतंत्रता को सही स्वरूप में साकार करेगा।

5. अधिकार और कर्तव्य

व्यक्ति सर्वांगीण विकास हेतु समाज से कुछ सुविधाओं की अपेक्षा करता है जिससे वह अपना जीवन भौतिक व नैतिक दृष्टि से समृद्ध व उन्नत बना सके। व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए अनिवार्य समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाओं को अधिकार कहा गया है। ये मानव जीवन की वे व्यवस्थाएँ हैं जिनको सामाजिक व राजनीतिक मान्यताएँ प्राप्त होती हैं और जिनके प्रयोग से व्यक्ति अपने जीवन में श्रेष्ठत्व को प्राप्त करता है तथा अपनी योग्यतानुसार आत्मोन्नति के लक्ष्य को प्राप्त करता है। ऑक्सफोर्ड ने अधिकार को परिभाषित करते हुए कहा है कि कानूनी या नैतिक आधार पर किसी वस्तु को प्राप्त करने अथवा विशेष प्रकार से कार्य करने की व्यक्ति की उचित मांग ही अधिकार है। इस परिभाषा से अधिकार के दो प्रकार स्पष्ट होते हैं— पहला नैतिक अधिकार, जो न तो राज्य द्वारा प्राप्त होते हैं और न ही सुरक्षित। इन अधिकारों का आधार मनुष्य का अंतर्विवेक तथा सामाजिक भय होता है। दूसरा कानूनी अधिकार, जो राज्य द्वारा प्रदत्त होते हैं तथा राज्य द्वारा ही सुरक्षित होते हैं। इन अधिकारों के पालन के लिये राज्य बाध्य कर सकता है।

मनुष्य के समस्त अधिकारों का मूल आधार उसका सामाजिक जीवन ही होता है। क्योंकि अधिकार अपने विकास के लिये समाज के दूसरे व्यक्तियों से की गई उचित मांग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये समाज से पृथक अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है तथा उसे सामाजिक हित से अलग नहीं किया जा सकता है। समाज के द्वारा व्यक्ति को जो अधिकार दिये जाते हैं उनका लक्ष्य केवल व्यक्ति का विकास ही नहीं, अपितु समाज का हित भी होता है। इसलिये समाज व्यक्ति को ऐसे कोई अधिकार नहीं देता जो दूसरों के कल्याण के लिये घातक हो। अधिकारों की सामाजिक पृष्ठभूमि व्यक्ति पर यह दायित्व भी डालती है कि वह अपने अधिकारों का इस प्रकार उपयोग करे कि उसके विकास के साथ-साथ दूसरों के विकास व हित में कोई बाधा न पड़े। क्योंकि समाज में यदि व्यक्ति को कोई अधिकार है तो उसके समान अन्य व्यक्ति भी समाज में हैं, जिनके पास भी उसी प्रकार के अधिकार हैं। अपने अधिकारों के समान दूसरों के अधिकारों के प्रति सम्मान की भावना व्यक्ति के कर्तव्य से जोड़ देती है अर्थात् अधिकारों के साथ ही व्यक्ति कर्तव्यों से भी जुड़ जाता है। वास्तव में कर्तव्य और अधिकार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्तव्य के संसार में ही अधिकारों का जन्म होता है। जो विचारक अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य पर अधिक बल देते हैं उनकी मान्यता है कि कर्तव्यों का पालन करने से ही व्यक्ति अधिकारों को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक अधिकारों के साथ कर्तव्य जुड़ा रहता है। यदि 'अ' का कोई अधिकार है तो उसका आशय होगा कि 'ब' उसके अधिकार को मान्यता दे इसके साथ ही 'अ' भी 'ब' के अधिकार के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे। वास्तव में, कर्तव्य समाज द्वारा व्यक्ति से ऐसा कार्य करने की मांग है जिसका मुख्य उद्देश्य स्वयं व्यक्ति का अपना हित नहीं अपितु दूसरों का हित होता है, जबकि अधिकार में व्यक्ति स्वयं का उद्देश्य निहित रहता है। भेद होते हुए भी अधिकार व कर्तव्य परस्पर सम्बद्ध हैं।

अधिकार व कर्तव्य के घनिष्ठ सम्बन्ध को दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। सर्वप्रथम जो एक व्यक्ति का अधिकार है वही दूसरों का कर्तव्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त अधिकारी का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने इस अधिकार का प्रयोग दूसरों के हित को ध्यान में रखते हुए करे, कम से कम उन्हें हानि तो न पहुंचाए। इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकार और कर्तव्य परस्पर सम्बद्ध हैं और व्यक्ति कर्तव्यों का पालन करते हुए ही अपने अधिकारों को सुरक्षित रख सकता है।

5.1 गांधी दृष्टि में अधिकार और कर्तव्य

गांधी जी ने भी अधिकार सम्बन्धी व्याख्या को अपने दर्शन में प्रमुख स्थान दिया। वस्तुतः उनका सम्पूर्ण जीवन अधिकारों की प्राप्ति के लिये उनका समर्पण ही था। ईश्वर की सर्वोच्चता में आस्था रखने के कारण वे मानवीयता, समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व में विश्वास रखते थे और यही अधिकार उनके राजनीतिक दर्शन के निष्कर्ष थे।

गांधी मानते थे कि अधिकारों के प्रयोग के द्वारा व्यक्ति अपने श्रेष्ठत्व को प्राप्त करता है और इन अधिकारों में अंतरात्मा की स्वतंत्रता का अधिकार सर्वोपरी है तथा अधिकारों के उपभोग में समानता के अधिकार की प्राथमिकता है। वे स्वीकारते थे कि व्यक्ति के विकास के लिये नागरिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक अधिकारों की आवश्यकता है। इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की नीति के विरुद्ध विद्रोह किया। अस्पृश्यता के अंत के लिये उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया और अंग्रेजों से भारत को मुक्ति दिलाने के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। अधिकारों की प्रकृति के सम्बन्ध में गांधी आध्यात्मिक व नैतिक श्रेणी के अधिकारों को ही स्वीकारते थे। उनके अनुसार राजनीतिक, सामाजिक, वैयक्तिक, नागरिक अधिकार भी नैतिकता की कसौटी पर खरे उतरने के बाद ही अधिकारों की श्रेणी में आते हैं और वे तभी व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक होते हैं। गांधी ने कहा कि अधिकारों का सृजन राज्य या किसी दूसरे समुदाय द्वारा नहीं होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति सत्य और अहिंसा को साधना के द्वारा अधिकारों के लिये योग्यता प्राप्त कर लेता है वैसे-वैसे उसको अधिकार मिलते जाते हैं। राज्य और सरकार केवल अधिकारों को मान्यता देते हैं। गांधी का मत था कि राज्य जितना अधिक अहिंसक होगा उतने ही अधिक व्यक्ति के अधिकार होंगे। उनके शब्दों में “असत्यपूर्ण व हिंसक साधनों का स्वाभाविक परिणाम है—विरोध को विरोधियों के विनाश द्वारा हटाना।” इससे वैयक्तिक स्वतंत्रता की वृद्धि नहीं होती। केवल शुद्ध अहिंसक व्यवस्था में ही वैयक्तिक स्वतंत्रता की पूर्णरूप से पूर्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों में उनकी नैतिक क्षमता अर्थात् उनके द्वारा प्राप्त की गई अहिंसा के स्तर के अनुसार अंतर होता है। यदि अधिकारों पर आक्रमण हो तो उसका उचित साधन है—अहिंसक असहयोग। अधिकारों के सामाजिक कल्याणकारी सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए लास्की के समान गांधी भी मानते थे कि व्यक्ति को अधिकार उसके वैयक्तिक विकास मात्र के लिये नहीं दिये जाते, बल्कि उसे अधिकार इसलिये प्राप्त है कि वह उनका विकास मात्र के लिये नहीं दिये जाते, बल्कि उसे अधिकार इसलिये प्राप्त है कि वह उनका उपभोग करते हुए समाज कल्याण की अभिवृद्धि करे। इस प्रकार सामाजिक कल्याण की भावना ही अधिकारों की आधारशिला है।

5.2 अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध

यद्यपि गांधी के विचारों में अधिकार द्वारा व्यक्ति की श्रेष्ठता प्राप्त की जा सकती है, तथापि अधिकारों की अपेक्षा वे कर्तव्य को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार अधिकार का अर्थ है—आत्मानुभूति का अवसर मिलना और आत्मानुभूति का अर्थ है दूसरों की सेवा तथा उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करके उनके साथ आध्यात्मिक एकता की अनुभूति करना। इस तरह प्रत्येक अधिकार अपने कर्तव्य पालन करने का अधिकार है। इसलिये गांधी ने कहा—“अपने कर्तव्य पालन करने का अधिकार एकमात्र ऐसा अधिकार है जिसके लिये मनुष्य जी सकता है, मर सकता है। इसमें सभी अधिकारों का समावेश हो जाता है।” गांधी का कहना था कि यदि कोई अपने अधिकारों की मांग करे और अधिकार मांगने वाले में सम्बन्धित कर्तव्य पालन की क्षमता नहीं हो तो अधिकार का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। इसी संदर्भ में गांधी ने कहा कि युवक होने के नाते उन्होंने अधिकार जताने के साथ अपना जीवन प्रारंभ किया था और शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि उनका किसी पर कोई अधिकार नहीं था, उनके बीवी बच्चों पर भी नहीं। इसलिये उन्होंने सभी के प्रति अपने कर्तव्यों को जाना और

उनका पालन करना शुरू कर दिया और आज उन्हें यह प्रतीत होता है कि सबसे अधिक अधिकार उन्हें प्राप्त हैं। इस प्रकार गांधी कहते हैं कि कर्तव्य पालन की योग्यता से अधिकार स्वतः मिल जाते हैं।

गांधी कहते हैं कि ऐसा कोई भी कर्तव्य नहीं है जो अनुरूप अधिकारों को जन्म नहीं देता है और न ही वे सच्चे अधिकार हैं जिनका जन्म कर्तव्य से न होता हो। इसलिये सच्ची नागरिकता के अधिकार उन्हीं को मिलते हैं जो राज्य की सेवा करते हैं और वे ही समुचित अधिकारों का प्रयोग भी करते हैं। गांधी कहते हैं कि जिन व्यक्तियों को अपने कर्तव्य पालन के फलस्वरूप अधिकार मिलते हैं वे उनका उपयोग अपने लिये न करके समाज व देश सेवा के लिए करते हैं। जनता के स्वराज्य का अर्थ है—व्यक्तियों का पूर्ण स्वराज्य और व्यक्तियों के द्वारा नागरिक के रूप में अपने कर्तव्य पालन से ही इस प्रकार का स्वराज्य मिलता है। वहां कोई भी अधिकार के बारे में नहीं सोचता। गांधी को कर्तव्य की धारणा की प्रेरणा गीता से मिली थी। उसके अनुसार अधिकारों को सच्चा स्रोत कर्तव्य है। यदि हम सब अपने कर्तव्यों को पूरा पालन करे तो अधिकारों को प्राप्त करना कठिन नहीं होगा। यदि कर्तव्यों को पूरा किये बिना हम अधिकारों के पीछे दौड़ते हैं तो यह केवल मृग-मरीचिका के समान है। जितना हम पीछा करेंगे उतने ही वे हमसे दूर भागेगी। इस शिक्षा को श्रीकृष्ण ने इन शब्दों में व्यक्त किया, “कर्म ही तेरा अधिकार है फल को तू अलग रहने दे।” कर्म कर्तव्य है फल अधिकार है। गांधी ने सत्याग्रह के सम्बन्ध में कहा कि “जिसे मैं सत्याग्रह कहता हूँ वह नियम, कर्तव्यों और उनके पालन से अपने आप प्रकट होने वाले अधिकारों के सिद्धान्त को सही तरीके से समझ लेने का ही नतीजा है।

उपर्युक्त विवेचित अधिकार व कर्तव्य सम्बन्धी गांधी की अवधारणा से स्पष्ट है कि गांधी अधिकारों का मूल स्रोत कर्तव्य को मानते हुए कर्तव्य पालन पर अधिक बल देते हैं तथा केवल उन्हीं अधिकारों को मान्यता देते हैं जो कर्तव्य पालन से प्राप्त होते हैं। व्यक्ति की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों की अपेक्षा समाज सेवा पर जोर देते हुए गांधी स्वावलम्बन की ओर प्रेरित करते हैं और व्यक्ति से यह अपेक्षा करते हैं कि सभी के साथ आध्यात्मिक एकता का अनुभव करते हुए तथा अपने आत्मोत्थान के लिये गतिशील रहते हुए वह अपने अधिकारों का प्रयोग समाज हित के लिये करेगा तथा समाज हित के लिये ही उनको बलिदान करने के लिये हमेशा तैयार रहेगा।

6. गाँधी के राजनैतिक विचारों का मूल्यांकन और प्रासंगिकता

इस सदी में यदि कोई व्यक्ति ऐसा हुआ है, जिसने सम्पूर्ण विश्व को आदर्श का पाठ पढ़ाते हुए, उस आदर्श को स्वयं कार्यरूप में परिणित किया हो, जिससे सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुआ हो, तो वह है—महात्मा गांधी। उन्होंने न केवल अपने विचारों की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया, अपितु यह भी बताया कि व्यावहारिक जीवन में उसे कैसे लागू करें। उनके विचार देशकाल व परिस्थितियों की सीमाओं में बंधे नहीं हैं, वे सासर्वभौमिक, सार्वकालिक एवं शाश्वत हैं।

राष्ट्रीय आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में गांधी प्रायः सभी नेताओं से नितान्त भिन्न थे। वे राजनीतिज्ञों में महात्मा और महात्माओं में राजनीतिज्ञ, परम्परावादियों में आधुनिक और आधुनिकों में परंपरावादी, धार्मिकों में धर्मनिरपेक्ष और धर्मनिरपेक्षों में धार्मिक थे। उन्होंने समस्त मानवशास्त्रों को नीतिशास्त्र के अधीन किया और जीवन की सार्थकता सत्य के अन्वेषण में देखी। कथनी—करनी का अंतर गांधी के चिंतन में समाप्त हो जाता है। नैतिक मूल्यों को राजनीति में सम्मिलित करना गांधी की विशेषता है।

गांधी ने अपनी राज्य संबंधी अवधारणा में रामराज्य या धर्मराज्य का जो वर्णन किया है, वह जनतंत्रीय राज्य ही है। गांधी ने जनतंत्र को परिभाषित करते हुए कहा कि यह समाज के लिए सभी वर्गों के समस्त भौतिक और आध्यात्मिक साधनों को सबकी भलाई के लिए संगठित करने की कला और विज्ञान है। उनका मानना था कि जनतंत्र वह है जिसमें दुर्बल व सबल सभी लोगों को समान अवसर प्राप्त हों। गांधी जी के चिंतन में व्यक्ति को वही स्थान प्राप्त है, जो प्रजातंत्र में व्यक्ति को प्राप्त है। यदि प्रजातंत्र ऐसी शासन-पद्धति है, जो समाज के सभी व्यक्तियों को समानता के धरातल पर संगठित कर, उन्हें सर्वोच्च मंजिल तक पहुंचाती है, तो ऐसी पद्धति गांधी को अत्यन्त प्रिय है, लेकिन पश्चिमी प्रजातंत्रीय प्रणाली ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ है।

गांधीवाद जिस भावी समाज की कल्पना प्रस्तुत करता है, वह मुख्यतः जनतांत्रिक समाज है, वह वर्गहीन और जातिविहीन समाज है। इसे सर्वोदयी समाज कहा गया है। गांधी की मान्यता है कि मनुष्य

का विकास हिंसा से अहिंसा की ओर हो रहा है, अतः बिना क्रांति के सर्वोदयी समाज का क्रमिक रूप में आविर्भाव होगा। उनके मतानुसार हमें अपने स्वराज्य की प्राप्ति सत् व अहिंसा के मार्ग पर चलकर करना है और इन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है। सर्वोदयी समाज सद्भावना और सहकारिता की भावना पर आधारित होगा। वह एक राज्यविहीन लोकतंत्र होगा। वह व्यवस्था आत्म-अनुशासन एवं आत्म-संयम की होगी, जिसमें राजनीतिक प्रशासन एवं आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होगा। इस समाज में श्रम की प्रतिष्ठा होगी। संतोष एवं सादगी व्यक्ति के आभूषण होंगे। यहां मशीन के द्वारा मनुष्य को विस्थापित नहीं किया जायेगा। ऐसे समाज का प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक जीवन का निर्वाह स्वयमेव अपनी इच्छा से करता है तथा अपने कर्तव्यों का पालन भी स्वेच्छा से करता है। आत्मनियमन की स्थिति में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वस्तुतः यह प्रबुद्ध अराजकता की व्यवस्था है। नैतिकता ही सर्वोदयी समाज का कानून है अतः यह ऊपर से थोपा जाने वाला विधान नहीं, अपितु स्वेच्छा से अपनाया गया विधान है। राजसत्ता का स्थान यहां लोकसत्ता को प्राप्त होगा। गांधीजी कहते हैं कि “स्वराज्य” से मेरा तात्पर्य है— लोक सम्मति के अनुसासर होने वाला समाज का शासन। यहां अत्याचार की गुंजाइश इसलिए नहीं रहेगी, क्योंकि इस समाज का प्रत्येक सदस्य सही अर्थ में “सत्याग्रही” है जो निर्भयता, ईमानदारी, भद्रता और अहिंसा के गुणों का धारक है, और इन गुणों के कारण अत्याचार, शोषण व कदाचार का विरोध करता है। यह एक अन्त्योदयी समाज होगा, जिसमें समाज के अंतिम व्यक्ति के शुभ या कल्याण की चिंता की जायेगी। गांधीजी लिखते हैं कि मेरे सपनों के स्वराज्य में जाति तथा धर्म के भेदों को कोई स्थान नहीं होगा। यह सबके लिए और सबके कल्याण के लिए होगा। “सबके” अंतर्गत किसान तो आते ही हैं, किंतु अंधे, लूले, लंगड़े और भूख से मरने वाले लाखों—करोड़ों मेहनतकश मजदूर भी अवश्य आते हैं। इसी संदर्भ में गांधीजी लिखते हैं कि मेरे सपनों का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा। जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपयोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वे सभी को सुलभ होना चाहिए। इसमें किसी भेदभाव के लिए स्थान नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की वे सामान्य आवश्यक चीजें अवश्य मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अमीर आदमी करता है। गांधी के मतानुसार हमारा स्वराज्य तब तक साकार नहीं होगा, जब तक वह सभी को सारी सुविधायें देने की पूरी व्यवस्था नहीं करता।

उस नये सर्वोदयी समाज अर्थात् जनतंत्रीय शासन में प्रश्न किया जा सकता है कि जात—पात, वर्ग या धर्म के भेदों की क्या स्थिति होगी? इस संबंध में गांधीजी की मान्यता है कि सत्य और अहिंसा के जरिये सम्पूर्ण स्वतंत्रता का मतलब है— जात—पात, वर्ण एवं धर्म के भेद से रहित समाज के प्रत्येक घटक की और उसमें भी उसके गरीब—से—गरीब व्यक्ति की स्वतंत्रता की सिद्धि। इस स्वतंत्रता से किसी को भी दूर या अलग नहीं रखा जा सकता। इसीलिए दूसरे राष्ट्रों के साथ और देश की जनता के साथ इस स्वतंत्रता का पूरा—पूरा मेल रहेगा।

गांधीजी ने आधुनिक प्रजातंत्र का विरोध किया है। प्रजातंत्र की जननी मानी जाने वाली ब्रिटिश संसद को वे बाझ व वेश्या कहते हैं। वे आधुनिक प्रजातंत्र को गलत मार्ग पर ले जाने वाला मानते थे। वे चुनावों के विरुद्ध नहीं थे, किंतु चुनाव—प्रणाली को दूषित अवश्य मानते थे। वे इस प्रजातंत्र को “बहुमत की तानाशाही” के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मानते थे। सच्चा प्रजातंत्र वही है, जहां एक व्यक्ति की आवाज की भी कीमत होती है। आज यद्यपि प्रजातंत्र वही है, जहां एक व्यक्ति की आवाज की भी कीमत होती है। आज यद्यपि प्रजातंत्र की बातें सभी करते हैं, लेकिन सत्तारूढ़ होते ही सुरक्षा व्यवस्था, विकास, आधुनिकीकरण, जनहित एवं राजहित की आड़ में नागरिकों के मौलिक अधिकारों के साथ खिलवाड़ करते हैं। प्रजातंत्रीय शासक सत्तारूढ़ होते ही अधिनायकवादियों की तरह आचरण करते हैं। इन्हीं विचारों के कारण गांधी विचारधारा की, विशेषतः उसकी व्यावहारिकता की अत्यधिक आलोचना की गयी है। तथापि यदि तटस्थतापूर्वक विचार किया जाये, तो हमें गांधी—विचारधारा में बहुत कुछ प्राप्त हो सकता है।

आज केन्द्रीकरण, सैनिकीकरण, औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रवृत्तियां विश्व में व्याप्त हैं और सभी देश इस ओर अग्रसर हैं। शोषण, असमानता, उत्पीड़न, हिंसा, अलगाववाद, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अव्यवस्था आदि परिवर्तन—प्रक्रिया के अंग बन गये हैं। विश्व की तीन चौथाई जनसंख्या के पास एक चौथाई और एक चौथाई के पास तीन चौथाई संपदा एवं साधन केन्द्रित हैं। तृतीय विश्व के संदर्भ में यह स्पष्ट ही है कि वहां के अधिकांश राज्य या तो प्रत्यक्ष रूप से सेना के अधीन हैं, अथवा

नागरिक सत्ता को परोक्ष रूप से सेना मदद करती है। शेष राज्यों में भी, कुछ को छोड़कर, जनतंत्रीय व्यवस्था अनुदार, अधिनायकवादी एवं दमनकारी है। वैज्ञानिक विकास के पश्चात् सत्ता का केन्द्रीकरण अधिक हो गया है। विकासशील राष्ट्र गरीबी के गर्त में फंसे हैं। वे अपनी औसत आय का अधिकांश भाग गरीबी दूर करने के स्थान पर हथियार खरीदने में लगाते हैं। सऊदी अरब, ईरान, ईराक, पाकिस्तान, नाइजीरिया, सीरिया, इजरायल आदि अनेक विकासशील राष्ट्र हथियारों की होड़ में संलग्न हैं। इन सारी व्यवस्थाओं में गांधी कहीं नहीं हैं।

आज भारत को भी क्षेत्रीयतावाद, अलगाववाद, धार्मिक मतान्धता, साम्प्रदायिक दंगे, दलितों का दमन, महिलाओं पर अत्याचार, हिंसा, मूल्यों का ह्रास, सामाजिक संस्थाओं का बिखराव आदि ग्रसित किये हुए हैं। समस्याएँ विश्व के अधिकांश देशों को उद्वेलित कर रही हैं। क्या रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि किसी भी महापुरुष का देश में प्रभाव शेष है? नहीं। फिर, गांधी का ही प्रभाव क्यों शेष रहता? सत्ता में आने व बने रहने के लिए जोड़-तोड़ की प्रवृत्ति, कालेधन का बढ़ता प्रभाव, सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, भौतिकवादी जीवन-मूल्यों का प्रसार आदि गांधी की भूमिका नकारते हैं। आलोचकों का मानना है कि वर्तमान समस्याओं से जूझने की क्षमता गांधी-दर्शन में नहीं है। राजनीति व अर्थशास्त्र को धर्म से जोड़कर गांधीजी ने अस्पष्ट स्थिति को जन्म दिया है, जिससे कोई मार्ग नहीं निकलता है। उनके सत्य व अहिंसा से समस्याओं का हल संभव नहीं है। जहाँ मार्क्स के चिंतन को लेनिन ने रूस के धरातल पर उतारा, वहीं गांधी अपने देश में अपने अनुयायियों के द्वारा ही भुला दिये गये। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वर्तमान भारत के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर गांधी का प्रभाव नहीं रहा है।

उपर्युक्त आलोचनाओं में भी वजन है, लेकिन मेरे अनुसार तो यह सच है कि किसी एक युग की विशेष समस्याओं के संदर्भ में किसी विचारक, मनीषी, दार्शनिक का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि चिंतन की शाश्वतता, व्यापकता, विशालता सार्वकालिक और सार्वभौमिक होती है। आज के संदर्भ में भी लार्डवॉय का यह कथन विचारणीय है कि मनुष्यों के लिये न्याय, समस्त राष्ट्रों के अंदर व्यक्तियों के लिये स्वतंत्रता— चाहे उनका रंग, धर्म, राजनीतिक विचारधारा कुछ भी क्यों न हो, रोग, भूख तथा गरीबी से स्वतंत्रता, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक कल्याण के लिए अपनी उच्चतम, आंतरिक शक्ति प्राप्त कर सके, सदैव अपेक्षित है। इस संदर्भ में गांधी जी के सिद्धांत की मुख्य विशेषता यह है कि वह इन महान आदर्शों की प्राप्ति अहिंसात्मक साधनों से करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

आज विश्व या भारत में जो कुछ हो रहा है, उसके लिए गांधी चिंतन उत्तरदायी नहीं है। आज धन के लालच में राजनेताओं का गिरता चरित्र, लगभग आधी दुनिया की गरीबी, भयंकर प्रतिस्पर्धा, दमन, शोषण, अलगाववाद, हिंसा का तांडवनृत्य, अस्त्र-शस्त्रों की होड़, सेना और पुलिस पर बढ़ता व्यय, सांस्कृतिक मूल्यों का पतन, असमानता, सामाजिक विकृति, व्यक्तिगत महत्त्वकांक्षा की प्रबलता, कदम-कदम पर मानव की स्वतंत्रता का अतिक्रमण, औद्योगिक शहरों में बढ़ती गंदी बस्तियाँ आदि सम्पूर्ण विश्व की तस्वीर हैं। विज्ञान द्वारा भौतिक सुखों को प्राप्त करके भी मानव अशांत है। इस तस्वीर को बदलना है, तो गांधी ही प्रासंगिक प्रतीत होंगे। हमने संसदीय जनतंत्र से प्रारंभ कर साम्यवादी विचारधारा तक अनेक शासन-प्रणालियों का व्यावहारिक परीक्षण किया है। अनुभवों ने यह सिद्ध किया है कि सुन्दर से सुन्दर सिद्धान्त भी जब व्यवहार में उतरते हैं तो कुरूप हो जाते हैं। जनतंत्र के नाम पर चंद लोग बहुसंख्यक जनता की ओर से निर्णय लेते हैं। यदि जनता में ही संप्रभुता है, तो वह गरीब क्यों है? भूखी क्यों है? देश की सुरक्षा के नाम पर सेना सत्ता में आती है, फिर सत्ता छोड़ने का नाम क्यों नहीं लेती। साम्यवादी देश का भी अनुभव बतलाता है कि वर्गविहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य लेकर भी कम्युनिस्ट पार्टी स्वयं एक वर्ग बन जाती है और सत्ता को विकेंद्रित करने की जगह, उसका केन्द्रीकरण हो जाता है। फलस्वरूप न तो राज्य वर्गविहीन रहता है और न ही समाज। अत्याधुनिक अस्त्र के निर्माण के पीछे हिंसा का उद्देश्य ही प्रधान है। आज विश्व में अस्त्र-शस्त्र की आसुरी शक्ति इतनी प्रबल हो गयी है कि विश्व के देशों की सरकारें इन पर लाखों डॉलर खर्च करती हैं, जबकि नौनिहाल भूख, प्यास और दूध के बिना तड़प-तड़प कर मर रहे हैं। यह सब बहुत ही त्रासदीपूर्ण है। प्रश्न उठता है कि कमी कहां पर है, मनुष्य में या व्यवस्था में? इसका सबसे सरल उत्तर है— मनुष्य में, क्योंकि जनतंत्र साम्यवादी व्यवस्था में परिवर्तन के फलस्वरूप ही आया, किंतु इससे व्यवस्था सुधरी नहीं, बल्कि विफल ही हुई। आज मनुष्य शांति की खोज में है। भौतिक सुख-सुविधाओं ने उसे ऐश्वर्य तो

दिया, किन्तु मन अशांत कर दिया। आज वह शाश्वत सुख की खोज में है, और इस खोज की समाप्ति या इसका हल गांधी के दर्शन में है। गांधी के विचारों की कितनी भी आलोचना की जाये, किंतु वे आज भी मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। अहिंसा समस्याओं का हल है। आज तक शासकों ने समस्या का हल हिंसा द्वारा किया है, लेकिन क्या हिंसा शांति लाने में समर्थ हुई? अगर समर्थ होती, तो संधियों, समझौता, वार्ताओं, और मुख्य रूप से यू.एन.ओ. की क्या आवश्यकता है? आज जेलों को सुधार-गृह के रूप में परिवर्तित किया जा रहा है, जो गांधी का मार्ग है। आज जब मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है, तो क्या वह नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने का प्रयास नहीं कर सकता? इस मार्ग पर चलकर ही समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है। मनुष्य सब कुछ कर सकता है और वह करेगा भी।

गांधी-दर्शन के विषय में महादेव प्रसाद शर्मा ने कहा था, “गांधी-दर्शन विशुद्ध भारतीय उपज है। विश्व के लिये यदि भारत का कोई संदेश है, तो वह उसमें निहित है। भारत की उन्नति एवं विकास का अगर कोई अपना विशिष्ट मार्ग है, तो उसे वहां ढूंढा जा सकता है। युद्ध व संघर्ष की विभीषिका से त्रस्त विश्व-राजनीति को गांधी-दर्शन भारत की अभयदान रूपी भेंट है। सच्चाई, सरलता, निर्मलता, सुख और दुःख में धैर्य रखना, निर्भयता, ब्रह्मचर्य और आत्म-साक्षात्कार कल्याणकारी शांतिदायक हैं। विश्व चाहे गांधी-दर्शन को अव्यावहारिक व काल्पनिक कहे, लेकिन यही गांधी-चिंतन की उपादेयता है।

आज संसार ऐसे समाज की खोज में है, जहां हिंसा न हो, अशांति न हो, व्यक्ति के नैतिक व भौतिक उत्थान की पूर्ण संभावना हो, जहां स्वतंत्रता, समानता, नैतिकता और भाईचारे के आदर्श पर समाज टिका हो, जहां नैतिकता मनुष्य के क्रियाकलापों का मापदण्ड हो, जहां राज्य की दमन-शक्ति का लोप हो चुका हो तथा मनुष्य को साध्य के रूप में प्रतिष्ठा मिले। मेरा विश्वास है कि गांधीवाद ऐसे ही समाज की स्थापना की ओर अग्रसर करता है और यही गांधी की प्रासंगिकता का प्रमाण है।

अभ्यास प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. पंचायती राज व्यवस्था पर एक लेख लिखिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता के सम्बन्ध में गांधी के चिंतन को स्पष्ट कीजिए।
2. “राजनीति के अध्यात्मीकरण” को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गांधी ने किसे हिंसा का संगठन माना था—
 अ. परिवार ब. समाज स. राज्य द. राजनीति
2. गांधी की स्वतंत्रता की अवधारणा किससे प्रभावित थी—
 अ. काण्ट ब. रूसो स. मिल्टन द. लॉक
3. गांधी दर्शन में राजनैतिक व्यवस्था की मूल इकाई है—
 अ. गांव ब. कस्बा स. शहर द. उपरोक्त में से कोई नहीं
4. गांधी के अनुसार राजनैतिक व्यवस्था में अहिंसा के आधार स्तम्भ हैं—
 अ. सत्य व त्याग ब. नैतिकता व त्याग स. नैतिकता व सदाचार द. नैतिकता व सत्य
5. धर्म निरपेक्षता की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया था—
 अ. हॉक ब. होलेक स. महात्मा गांधी द. रूसो

6. पंचायती राज व्यवस्था के सम्बन्ध में बलवंत राय मेहता समिति की नियुक्ति हुयी—
अ. 1956 ब. 1955 स. 1958 द. 1957
7. आधुनिक आर्थिक विचारधारा की देन है।
8. नागरिकों को अधिकतम हित प्रदान करने का एक साधन है।
9. नैतिकता के निर्धारण में का अपना स्वाभाविक मूल्य है।
10. प्रजातंत्र का प्राण है।